होगा, जो भारत के समाज-शरीर के चेतन कोश या घटक-स्वरूप गाँवों को नवजीवन देने के बारे में सचमुच गम्भीर हैं।

अगर लोकतन्त्र को वास्तविक और फलदायक बनाना है; अगर उसे हमारी जनता को अपने मामलों की विवेकपूर्वक व्यवस्था करने की शिक्षा देनी है, तब तो हमें आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में बहुत दूर तक विकेन्द्रीकरण को अपनाना होगा। केवल बालिग मताधिकार दे देने से सच्चा लोकतन्त्र स्थापित नहीं होता है न तो वह सार्वदेशिक प्रारम्भिक शिक्षण से ही स्थापित होता है। हमारे अन्नदाताओं (जनता —किसानों) का शिक्षण यों न होगा। उनको तो जीवन के द्वारा और जीवन के लिए ही शिक्षित करना पड़ेगा। उन्हें अपने सारे मामलों का छोटे और व्यवस्था-योग्य पैमाने पर खुद ही इन्तजाम करना होगा। यही लोकतन्त्र के लिए वास्तविक शिक्षण होगा।

आज की दुनिया में न केवल कानून और सत्ता से, बल्कि शक्ति के सहारे भी मुक्ति—स्वतंत्रता—की रचना करनी पड़ेगी। ऐसा करना तभी सम्भव होगा जब स्थानीय इकाइयाँ प्रभावपूर्ण ढंग पर सक्रिय होंगी। आज के विषम विश्व में, जो विज्ञान और यन्त्र-कौशल की प्रगति से और भी जटिल बन गया है लोकतन्त्र के रक्षण का एक ही रास्ता है—गाँव की इकाई को पुनर्जीवन देना और शक्ति प्रदान करना। मुझे कोई सन्देह नहीं है कि इस कार्य में श्री धीरेन मजूमदार के विचार, ग्रामों की पुनर्रचना-सम्बन्धी वास्तविक अनुभवों पर आधारित होने के कारण, उन सब लोगों के लिए बहुत अधिक सहायक होंगे, जिन्हें इस दिशा में प्रकाश की आवश्यकता है या जो प्रकाश पाने के इच्छुक हैं।

स्वतंत्र मंतर रोड
नयी दिल्ली
२ अगस्त १९४७

—जे० बी० कृपालानी

अपनी गहरी निष्ठा लगन किसी काम के पीछे सब कुछ भूलकर पड़ने की वृत्ति और सतत जाग्रत जिज्ञासा से उन्होंने इसे संस्कृत और नियंत्रित किया है। इसीलिए उनमें एक कवि की आर्द्रता और एक विवेचक की सर्वग्राही दृष्टि है।

उनकी इस कृति में उनकी ये विशेषताएँ मूर्त हैं। पुस्तक का प्रथम भाग उनकी सेवा की तैयारी और उसकी विविध अवस्थाओं के संस्मरणों तथा अनुभवों से भरा हुआ है। इसमें हम उनके हृदय की गहरी संवेदनाएँ और उनके बाद के सेवक-जीवन की विकास रेखाएँ पाते हैं। इसमें उनकी ग्राम-सेवा की दृष्टि का प्रकाश है। दूसरे भाग में अपनी कल्पना के अनुसार भावी ग्राम-व्यवस्था का पूरा नक्शा ही रख दिया है। उन्होंने न केवल यह बताया है कि क्या चाहिए, बल्कि यह भी बताया है कि कैसे वर्तमान साधनों में सुधार करके, भारतीय ढंग पर प्रत्येक गाँव को स्वावलम्बी स्थिति पर पहुँचाया जा सकता है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने इन सब सुधारों और परिवर्तनों में होनेवाले विशाल व्यय की पूर्ति के साधन भी सुझाये हैं। इस प्रकार उन्होंने १५ वर्ष में गाँवों के पुनर्जीवन का एक अत्यन्त व्यावहारिक बजट-सा ही पेश कर दिया है।

आज जब देश राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करके आशा से प्रफुल्ल है और जब हम पर राष्ट्र एवं समाज के निर्माण की जिम्मेदारी आ गयी है और जब देश के सामने उद्योगीकरण की अनेक योजनाएँ आ रही हैं और बड़े-बड़े कल-कारखानों की चिमनी का धुआँ शिक्षित युवकों के मस्तिष्क में भर रहा है; जब अनेक धारणाएँ तेजी से धँस रही हैं तब धीरेनभाई की यह पुस्तक चौरस्ते पर खड़े दिग्मूढ़ यात्री के लिए दिशा निर्देशक पट्ट का काम देगी—हाँ यदि हम कुछ सीखने और ग्रहण करने की दृष्टि से उसे पढ़ें।

(प्रथम संस्करण से) —श्री रामनाथ 'सुमन'

ग्रामदान की मंजिल तक पहुँच चुका है। देश की रचनात्मक प्रवृत्ति के सेवकों के लिए जमाने की यह एक बड़ी चुनौती बन गयी है। अब ग्राम-सेवा एकांगी नहीं हो सकती है। कहीं खादी-केन्द्र, कहीं ग्रामोद्योग का काम या कहीं-कहीं नयी तालीम की शालाएँ खोल-कर अब ग्राम-विकास संभव नहीं है। ग्रामराज के पहले चरण में ग्रामदान को सफल बनाने के लिए सर्वांगीण दृष्टि से सेवा-भावना बनानी होगी। ऊपर से परिकल्पित लादे हुए कार्यक्रम से काम नहीं बनेगा। उस गाँव की शक्ति और साधन से करना होगा। वस्तुतः जिस समय पुस्तक में जिन्हीं सेवाओं की परिकल्पना की गयी थी उस समय उसके अनुसार देशव्यापी कार्यक्रम का उतना अवसर नहीं था, जितना आज है।

इन तमाम दृष्टियों से विचार कर पुस्तक पुरानी होने पर भी उसका तृतीय संस्करण निकालने का निश्चय किया गया। इस संस्करण में इसका रूप थोड़ा छोटा बनाया गया और मूल्य में भी बहुत कमी हो गयी है। मुझे आशा है, सर्वोदय-सेवक तथा ग्रामीण जनता लाभ उठा सकेंगे।

काशी
२१-८-'५७

—धीरेन्द्र मजूमदार

प्रकाशकीय

पू० धीरेनदा की यह पुस्तक ग्रामीण जनता तथा सर्वोदय-सेवकों के लिए कितनी उपयोगी प्रेरक तथा मार्गदर्शक है यह बताने की आवश्यकता नहीं है। दूसरे शब्दों में 'समग्र ग्राम-सेवा की ओर' कृति में उन्होंने अपनी आत्म-गाथा बड़े ही सुन्दर ढंग से रख दी है। धीरेन भाई का जीवन वस्तुतः व्यक्ति का जीवन न रहकर संस्था-स्वरूप रहा है। पराधीन तथा स्वतंत्र-भारत के उतार-चढ़ावों को तथा राजनीतिक सामाजिक, आर्थिक और रचनात्मक आन्दोलनों को उन्होंने खुले दिल और खुले दिमाग से देखा, परखा और उनमें मनन को अपनाया है।

जब सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन का अस्तित्व नहीं था तब यह ग्रंथ संपूर्ण रूप में दूसरी जगह से प्रकाशित हुआ था। बाद में सन् १९५७ में सर्व सेवा-संघ-प्रकाशन की ओर से दोनों खंड अलग-अलग प्रकाशित किए गए। जनता में इन पुस्तकों का उत्साहपूर्वक स्वागत हुआ। अब इन दोनों ग्रंथों को संयुक्त रूप से प्रकाशित किया जा रहा है।

पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि समग्र ग्राम-सेवा की ओर पुस्तक का तीसरा खंड अभी-अभी प्रकाशित किया गया है। पहले दो खंडों में सन् १९४२ तक की गाथा है तो तीसरे खंड में सन् १९५७ तक की स्वतंत्र भारत की घटनाओं का चित्रित वर्णन है। रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे कार्यकर्ताओं में और सर्वोदय के आदर्शों पर चलनेवाली संस्थाओं में इस ग्रंथ का स्वाध्याय बहुत उपयोगी साबित होगा।

●

[दूसरा खण्ड]

विवेचन निष्कर्ष-योजनाएँ

अठारह-विध कार्यक्रम में समग्र सेवा आ ही जाती है। ग्रामसेवक ग्रामवासियों पर इतना प्रभाव डालेगा कि वे खुद आकर उससे सेवा माँगेंगे और उसके लिए जो साधन या दूसरे कार्यकर्ता चाहिए, उन्हें जुटाने में उसकी पूरी मदद करेंगे। मानो कि मैं एक देहात में घानी लगाकर बैठा हूँ। तो मैं घानी से सम्बन्ध रखनेवाले सब काम तो करूँगा ही। मगर मैं १५ से २ रुपये कमानेवाला सामान्य घांची (तेली) नहीं बनूँगा। मैं तो महात्मा घांची बनूँगा। 'महात्मा' शब्द मैंने विनोद में इस्तैमाल किया है। इसका अर्थ केवल यह है कि अपने घांचीपन में मैं इतनी सिद्धि डाल दूँगा कि गाँववाले आश्चर्यचकित हो जायेंगे। मैं गीता पढ़नेवाला कुरानशरीफ पढ़नेवाला उनके बच्चों को शिक्षा दे सकने की शक्ति रखनेवाला घांची बनूँगा। समय के अभाव में मैं लड़कों को पढ़ा न सकूँ तो वह दूसरी बात है। लोग आकर कहेंगे कि "तेली महाशय हमारे लड़कों के लिए एक शिक्षक तो ला दीजिये। मैं कहूँगा "शिक्षक मैं ला दूँगा मगर उसका खर्चा आपको बरदाश्त करना होगा।" मैं उन्हें कातना सिखा दूँगा। मैं उन्हें ग्राम-सफाई का महत्त्व बताऊँगा। जब वे सफाई के लिए भंगी माँगेंगे तो मैं कहूँगा। "मैं खुद भंगी हूँ। आइये आपको यह काम भी सिखा दूँ।" यह है मेरी समग्र ग्राम-सेवा की कल्पना।

हरिजन सेवक : १७-३-'४६

—गांधीजी

समग्र ग्राम-सेवा की ओर

•

पहला खण्ड

•

संस्मरण सम्कार अनुभूतियाँ

कुछ त्याग कर सकते हैं, लेकिन अपने बड़प्पन की भावना नहीं छोड़ सकते। वे समझते हैं कि अपनी शिक्षा के द्वारा उन्होंने जो गुण प्राप्त किये हैं, गाँव में रहने से उनकी हत्या हो जाती है और उनके अभ्यास और विकास का गाँवों में कोई भी साधन नहीं है। "मैंने इतना पढ़ा है। दुनिया में घूमकर इतना अनुभव प्राप्त किया है, भला इन मूर्खों के बीच कैसे रहूँ। इससे तो मेरी हस्ती ही मिट जायगी।" गाँववालों का उद्धार तो दरकिनार यही वजह है कि हमारे देहात में योग्य कार्यकर्ता नहीं दिखाई पड़ते। तारीफ तो यह है कि किसी भी राष्ट्रवादी मित्र से बात करो, तो यही सुनने को मिलता है कि बिना ग्राम-सेवा तथा ग्राम-सुधार के हमारे देश में कुछ हो सकना संभव नहीं।

कभी कोई मित्र मुझसे गाँव में काम करने की बाबत पूछता है, तो मैं सबसे पहले उससे यही प्रश्न करता हूँ कि आप किसी गाँव में ग्रामीण बन बैठने को तैयार हैं या नहीं? क्योंकि कुछ दिन देहात में काम करने से मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि जब तक हमारे शिक्षित लोग अपनी बड़प्पन की भावना का अहंकार छोड़कर गाँववालों के साथ मिल न जायँ और अपनी आदत सभ्यता और बहुत-सी गन्दगी आदि के खिलाफ अपने संस्कार के साथ समझौता न कर लें तब तक वे ग्रामीण जनता के प्रति श्रद्धा की भावना नहीं रख सकते।

ग्राम में काम करने की पहली शर्त

सेवा हम उन्हींकी कर सकते हैं, जिन पर हम श्रद्धा रख सकें। नतीजा यह होता है कि ऐसे लोग गाँववालों के सामने ग्रामोद्धारक के रूप में ही प्रकट होते हैं, ग्राम-सेवक के रूप में नहीं। गाँववालों को हम चाहे कितना मूर्ख समझें किन्तु अनादिकाल से एक खास किस्म की जिन्दगी होने के कारण वे अपने तरीके, रीति-नीति आदि सभी चीजों को श्रेष्ठ समझते हैं और उस विषय पर किसी दूसरी सभ्यतावाले शिक्षक या उद्धारक को वे सहन नहीं कर सकते। ग्रामीण सभ्यता का अभिमान उनके अन्दर कूट-कूटकर भरा हुआ

ग्रामवासी की मनोधारा

है। वे हमारी सहानुभूति के थोड़े-से शब्द भी बरदाश्त नहीं कर सकते। इसलिए अगर हम गाँव के अन्दर कुछ करना चाहें, तो हमें उनके सेवा-कार्य के योग्य बनना होगा और उसी प्रकार की मनोवृत्ति भी बनानी पड़ेगी। तभी वे हमें ग्रहण कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

शहर का शिक्षित समाज पश्चिमी सभ्यता के चक्कर में पड़कर और अपनी आर्थिक सुविधाओं के अभिमान के कारण गाँव की विशेषताएँ समझ ही नहीं सकता अपने जीवन में उनका अभ्यास करना तो बहुत दूर की बात है। इसलिए ग्राम-सेवक को काफी समय तक अनुकूल परिस्थिति में रहकर अपने-आपको ऐसी सेवा के योग्य बनाना पड़ता है। मैं जो आज थोड़ी सेवा देहात में कर पा रहा हूँ, इसके लिए मुझे भी बड़ी तैयारी करनी पड़ी थी। यह सब एक लम्बी कहानी है, जिसे मैं फिर कभी लिखूँगा। यहाँ मैं बहुत स्वस्थ हूँ। आराम खूब मिल रहा है। ● ● ●

पहला अनुभव

सेंट्रल जेल, आगरा
७-१-'४१

मैं किस तरह ग्राम-सेवा की ओर बढ़ा, आज उसीका छोटा इतिहास लिखने की कोशिश करूँगा।

सन् १९२१ में असहयोग आन्दोलन का तूफान जब मुझे विश्व-विद्यालय से बटोरकर जन-सेवा के कार्य-क्षेत्र में ले आया, तो मैं भी एक शहरी मनोवृत्तिवाला शिक्षित नौजवान था। पहले ही दिन आश्रम में अन्य भाइयों के साथ जब नित्य-क्रिया के लिए खुले मैदान में जाना पड़ा तो मैं परेशान हो गया। खाना-पीना रहन-सहन सब बातों से घबराता ही रहा। परेशानी यहाँ तक बढ़ गयी कि मैं अपना खाना अलग ले लेता था और दूसरों की आँख बचाकर फेंक देता और पास के होटल में जाकर खाना खा आता था। दूसरे भाइयों का सादा-जीवन देखकर मुझे आश्चर्य होता था और अपने प्रति धिक्कार की भावना पैदा होती थी किन्तु आन्दोलन की गर्मी ने बहुत सी तकलीफों को महसूस नहीं होने दिया और मैं भी उसी के लिए गांधी आश्रम में सम्मिलित हो गया। काशी में आश्रम था, शहर का वातावरण था गाँव से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। गाँव है क्या, कुछ पता ही नहीं था। लेकिन गांधीजी तथा दूसरे नेताओं के लेखों और भाषणों से मन में यह बात बैठ गयी कि वास्तव में हिन्दुस्तान देहात में ही रहता है। देहात की आजादी ही मुल्क की आजादी है और देहात की बरबादी ही मुल्क की बरबादी है। ग्राम-सेवा और ग्राम-जीवन की तरह-तरह की कल्पनापूर्ण धारणाएँ मस्तिष्क में बैठती गयीं। साल भर बाद जब आन्दोलन की धूमधाम कम हो गयी और बहुत-से भाई अपने-अपने घरेलू

आश्रम में

जीवन में आ पैठे, तो आश्रम के बचे हुए भाइयों ने आचार्य कृपालानीजी की प्रेरणा से यही निश्चित किया कि अब देहात में चलकर चरखे आदि द्वारा ग्राम-संगठन का काम किया जाय। रामस्वरूप भाई बनारस से २ मील दूर चौरहरा गाँव भेजे गये। वे वहाँ जाकर बस गये। आश्रम के कई भाई भी उस गाँव में जाते-आते थे।

प्रथम दर्शन

मैं उन दिनों इन भाइयों का देहात में आना-जाना देखा करता था और उनकी आपस की बातचीत भी ध्यान से सुना करता था। मन में देहात देखने की इच्छा प्रबल होती गयी। इसी बीच आश्रम के एक भाई देवनन्दन दीक्षित जेल से छूटकर आये और घर के किसी अनुष्ठान के बहाने उन्होंने आश्रमवासी भाइयों को अपने चौबेपुर गाँव में आमंत्रित किया। चौबेपुर बनारस से १६ मील पर है। हम सबने यही तय किया कि पैदल जायँगे और पैदल आयेंगे। चौबेपुर जाते समय रास्ते में कई गाँव पड़े। देहात में पहले-पहल जाना हुआ। हरे-भरे खेतों के बीच सुन्दर-सुन्दर झोपड़ियाँ देखने को मिलीं। सीधे-सादे किसानों को अनन्त आकाश के नीचे खुली हवा में काम करते हुए देखा। छोटे-छोटे बच्चों को देहात के बगीचों में खेलते-कूदते और हँसते हुए गौएँ चराते देखा। रास्तेभर देहाती जीवन की झलक देखते हुए हम लोग चौबेपुर पहुँचे। चौबेपुर का एक दिन का निवास बड़ा दिलचस्प रहा। देहाती भाइयों का सीधा-सादा और हँसमुख व्यवहार हमारे लिए एक स्वप्न ही था। अतिथि-सत्कार भी एक खास तरह की निराली चीज थी। चौबेपुर से उसी दिन लौट आया। जिस देहात और देहातियों के विषय में पढ़ता और सुनता आया था उन्हें अपनी आँखों देखा। प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच का उनका जीवन मुझे बहुत अच्छा मालूम हुआ। कभी-कभी यह भी भावना पैदा हुई कि ऐसे ही सुन्दर स्थान में जाकर रहना चाहिए।

रामस्वरूप भाई एक सप्ताह के लिए चौरहरा गाँव जा रहे थे। मैं भी उनके साथ हो लिया और रेलगाड़ी से पयगाड़ी स्टेशन उतरकर ३ मील पैदल चलने के बाद चौरहरा पहुँचा। चौरहरा

ोई काम नहीं था। वहाँ के मिट्टी के छोटे-छोटे और
े हुए मकान, छोटे-छोटे आँगन, दरवाजों के निकट ही
न के ढेर, रसोईघरों से निकलते हुए धुएँ के बवण्डर
घरों की नालियों से जमी हुई नमी के कारण पृथ्वी से
 आदि ने मेरी देहात के सम्बन्ध में इतनी दिनों की
 और उस दिन की मधुर स्मृति, सबको एक साथ
या। रामावर्म के तो देहाती लोग मित्र बन गये थे।
 लोगों से परिचित कराने के लिए वे मुझे उनके घरों
में ले जाने लगे। हमारे जाने पर लोग हमसे खुशी से
मिलते थे। लेकिन बातचीत में उनके सडमार बराबर
बात पर हर वक्त जिद करने की उनकी प्रवृत्ति दख-
ई। हम लोगों की खातिर करने के लिए वे अपने
 कपड़ों लाते थे। इन चीजों से इतनी अधिक बदबू
 पर बैठने को जी नहीं चाहता था। लेकिन न बैठने
ी आशंका थी। कहीं-कहीं लोग बैल और पाड़ा
 बदबूदार स्थान के पास ही चारपाई बिछाकर वहीं
लोगों को बैठाते थे। इस प्रकार गाँव में रहना भी
 झुण्ड-की-झुण्ड मक्खियों के बीच बैठकर खाना
एक अपूर्व अनुभव था। पाँच-छह दिन में ही मैं
वहाँ से बनारस चल दिया। देहात में आकर रहने
या। मैंने अपने मन में विचार किया कि अब ये
ने मूर्ख और इतने गन्दे हैं, तो इनकी यह हालत
 है। मुझे उनके प्रति एक घृणा-सी हो गयी।
रामावर्म भाई बनारस आये। मैंने उनसे कहा
 उस गाँव में तो किन्तु उन्हें थोड़ी तकलीफ़ भी न
 थों ने हँसकर जवाब दिया कि उनके रहने के
 तरता और न वे सुधरने को तैयार ही हैं। फिर

भी शहर के सुधरे हुए और साफ रहनेवाले लोगों से ये अधिक स्वस्थ और मजबूत हैं। परिश्रम अधिक कर सकते हैं।

हम लोग बात कर ही रहे थे कि एक दूसरे भाई वहाँ आ पहुँचे और हमारी बातें सुनकर हमारा मजाक उड़ाने लगे। "शहर के बाबू लोग देहात की बातों को क्या समझेंगे ?" इत्यादि। मैंने इन लोगों से बातें तो कीं लेकिन दिमाग में परेशानी बनी रही। रह-रहकर यही खयाल आता था कि क्या मैं इस योग्य हूँ कि हिन्दुस्तान के जन-सेवा-कार्य में सफल हो सकूँ ? किताबें पढ़ने और नेताओं के व्याख्यान सुनने से यह बात मेरे हृदय में भलीभाँति बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्तान की जन-सेवा का अर्थ ग्राम-सेवा है। पर गाँव की हालत यह है कि वहाँ जाकर एक दिन भी टिकना मुश्किल है। और फिर इन लोगों के प्रति ऐसी भावना रखते हुए उनकी सेवा ही क्या करूँगा ? इस प्रकार के विचार रह-रहकर दिमाग में आते रहे। दो-तीन माह तक मैं इसी प्रकार की चिन्ताओं में बहुत परेशान रहा। कई बार यह भी मन में आया कि बहुत-से अन्य मास्टरों की तरह पुनः कालेज में वापस चला जाऊँ, किन्तु एक बार जो निश्चय कर चुका था, उससे पीछे हटना भी कठिन ही प्रतीत होता था। इस द्विधा और परेशानी के बीच में कर्तव्या-

किंकर्तव्यविमूढ़

कर्तव्य का कुछ निश्चय न कर सका और लाचारी की अवस्था में पहले की तरह व्यतीत करने लगा। मेरी तबीयत भलीभाँति किसी काम में नहीं लगती थी, जिससे लोग मुझे सनकी समझने लगे। बाद को परिस्थिति और मेरी मनोवृत्ति में कुछ तब्दीली हुई और मेरा दिमाग अधिक स्थिर होने लगा। यह तब्दीली किस प्रकार हुई, इसे दूसरे दिन लिखूँगा। • • •

जिन्दगी की तैयारी ३

सेंट्रल जेल आगरा
११.६.'४१

उस दिन मैंने तुम्हें लिखा था कि गाँव की बुराइयों को देखकर गाँववालों के प्रति मुझे कैसी घृणा हो गयी। इतने दिन से गाँव के प्रति इतनी मधुर धारणा रखने पर भी इतनी जल्दी सारा स्वप्न समाप्त हो गया यह क्या बात है? क्या गाँव की हालत देखकर ही ऐसा खयाल पैदा हुआ था या कुछ भीतरी संस्कार जो कवित्वमय भावना से दबे हुए थे एकाएक उभर पड़े, यह सोचने की बात थी। तुम्हें तो मालूम ही है कि बंगाली मध्यम श्रेणी के लोगों में 'छोटे लोग' और 'भद्र लोग' के नाम से दो श्रेणी का विकट संस्कार कूट-कूटकर भरा हुआ है। उनके लिए छोटे लोग मनुष्य श्रेणी में नहीं गिने जाते। वे हेय और नीच समझे जाते हैं। मैं भी तो बंगाली बाबू श्रेणी का एक युवक था।

श्रेणीगत अहंकार

इसलिए जो लोग सफेद कपड़ा नहीं पहनते, उन्हें छोटे लोग अर्थात् नीच और हेय समझना मेरे लिए स्वाभाविक ही था। उस वक्त यह बात कहाँ मालूम थी कि गाँव के सीधे-सादे लोग दीन हो सकते हैं हीन नहीं। मेरे जैसे एक नौजवान के लिए यह समझना नामुमकिन था कि सदियों के अवसर और साधन के अभाव ने ही उनकी हालत ऐसी बना दी है। उस समय मुझमें श्रेणीभेद का संस्कार इतना प्रबल था कि मेरे लिए यह भी समझना असम्भव-सा था कि इस गन्दगी और अक्खड़ प्रकृति की तह में भी हजारों वर्षों की सुसंस्कृति चिनगारी की तरह राख के नीचे दबी हुई पड़ी है। ये सब बातें मुझे सालों बाद मालूम हुईं। उस समय तो गाँव की बात सोचकर मुझे परेशानी ही होती थी और उनके प्रति अश्रद्धा की भावना

ही उत्पन्न होती थी। मैं समझता हूँ कि भारत के सैकड़ों नौजवानों की यही मनःस्थिति है। ग्राम-सेवा की उत्कट इच्छा रखते हुए भी वहाँ की ज़िन्दगी के प्रति वितृष्णा की भावना उत्पन्न हो जाती है।

स्नातक होकर मैं अपने काम में लग गया। मेरे ज़िम्मे बढ़ई विभाग के संचालन का काम था। इन्जीनियरिंग कॉलेज में पढ़ने की वजह से यह काम मेरे अनुकूल भी था। स्वभावतः ही मैं अपने काम में मशगूल हो गया। लेकिन रह रहकर भविष्य का सवाल मेरे दिमाग में आता ही रहता था। सोचता कि क्या मैं ग्रामीण सेवा के योग्य नहीं हूँ! मैं देखता था कि मेरे कुछ दूसरे भाई काफ़ी आसानी से देहात का काम कर लेते थे। उनका घर देहात में ही था और उनके लिए देहाती वायुमण्डल स्वाभाविक था। मैं इस चिन्ता में काफ़ी वक्त बिताता था और अपने मन में काफ़ी दुखी रहता था। कभी-कभी यह भी ख़याल आता था कि मैंने असहयोग आन्दोलन में नाहक भाग लिया। उस समय

हृदय-मंथन

के वायुमण्डल में नवयुवकों के बीच एक निराशा-सी छायी हुई थी। मेरे सैकड़ों साथी एक-एक करके कॉलेज वापस जा रहे थे यह चिन्ता भी मुझे काफ़ी परेशान करती थी, लेकिन जब जब सोचता था तब-तब दिल से यही आवाज़ उठती थी कि अब आगे बढ़े हो तो वापस क्यों जाओगे? अगर कुछ करना है, तो आगे ही बढ़ना ठीक है, पीछे हटना तो नामर्दी का काम होगा। इस प्रकार आख़िरी निश्चय यही हुआ कि आगे बढ़ना ही उचित है। मेरे दिल में यह बात पहले ही से बैठ चुकी थी कि हिन्दुस्तान गाँव में बसता है और इस मुल्क की सेवा तभी हो सकती है जब कि हम गाँव की सेवा करें। लेकिन क्या अपने भीतर उच्च वर्ग की मनोवृत्ति रखते हुए गाँव की सेवा सम्भव है? इस प्रकार की भावना के साथ गाँव में दो दिन टिकना भी मुश्किल हो जायगा। फिर जिनके प्रति श्रद्धा नहीं है, उनकी सेवा क्या कर सकेंगे? सेवा उन्हीं की हो सकती है, जिनके प्रति हम श्रद्धा रख सकें। मैं सोचने लगा कि यह श्रद्धा आये कैसे? इसके लिए तो सर्वप्रथम अपने

मध्यम की भावना को छोड़ना पड़ेगा। यों तो मैंने जब से कालेज छोड़ा था, तभी से अपनी रहन-सहन बहुत सादी कर ली थी। आश्रम का वातावरण ही वैसा था। किन्तु उस समय से मैंने अपने कपड़ों को देहाती की तरह बनाने की कोशिश करना शुरू किया। आश्रम में यह रिवाज था कि रोज-रोज साबुन से कपड़े धोकर साफ रखे जायें। मैं कपड़े तो रोज धोता था किन्तु उन्हें अधिक सफेद नहीं करता था। अपने-आपको कुछ ऐसे रंग में रँगना चाहता था कि देहातियों के साथ उठना-बैठना सहज हो सके। आश्रम के दूसरे भाई इस पर काफी टिप्पणी करते थे, मेरा मजाक भी उड़ाते थे, लेकिन मैं इन बातों को हँसकर उड़ा देता था। उनसे कहा करता था कि भाई यह भी एक 'स्टैंडर्ड' है। आखिर कहीं धब्बा तो है नहीं! शुरू से आखिर तक एक ही रंग मिलेगा।

बनारस में मैं यही सोचा करता था कि किस तरह अपने को गाँव के कार्य के योग्य बना सकूँ। इसी बीच श्री दिनेशचन्द्र चक्रवर्ती नाम के एक नौजवान ने बनारस में अछूतोद्धार का काम प्रारम्भ किया था। मैं

मजदूरों से सम्पर्क

कभी-कभी उन्हें चन्दा इकट्ठा करने के काम में सहायता दे दिया करता था और कभी-कभी उन्हींके साथ अछूतों के मुहल्ले में भी जाया करता था। धीरे धीरे उनके दरवाजे पर उठना-बैठना भी शुरू कर दिया। इस प्रकार क्रमशः मेरा उनके साथ उठना-बैठना सहज होता गया। दिनेश बाबू के साथ अछूतों के मुहल्ले में आने-जाने से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि मेरे हृदय में उनके प्रति घृणा की जो भावना भरी हुई थी वह धीरे धीरे दूर होती गयी और मैं गन्दगी को सहन करने का अभ्यासी होता गया। लोगों के इस प्रकार के जीवन को बदलने के अभिप्राय से जब मैं उनसे घर घर मिलने लगा तो मुझमें भी कुछ परिवर्तन होने लगा। इस बात की आशंका भी होने लगी कि कहीं मेरी अवनति न हो जाय। मेरे मस्तिष्क में इस धारणा ने घर कर लिया था कि देहात की जनता को उठाने में ही देश का कल्याण है। मैं इस प्रकार का अवसर प्राप्त

करने के लिए श्रम रहा करता था, किन्तु हृदय के पूर्व संस्कार इतने प्रबल थे कि चौराहा आते ही बाबू मनोवृत्ति उमड़ आयी। तुम पूछोगी कि जो संस्कार प्रारम्भ में खेत गोड़ने, बर्तन माँजने और टट्टा खींचने पर भी नहीं मिट सके थे, वे बाद में किस तरह मिट सके। सचमुच यह सोचने और समझने की बात है।

शुरू में जब हम मजदूरी का काम करते थे, तो आश्रम-जीवन के साथ यंत्रवत् चलते रहे। उस समय किसी खास ढंग की ओर अपने को ले जाने की नीयत नहीं थी। वह जीवन सम्मिलित जीवन का एक अंग था। साथ मिलकर नियमित रूप से परिश्रम करने और तकलीफ उठाने के कारण आश्रमवासियों में आपसी प्रेम और भ्रातृ भाव गम्भीर होता जाता था, किन्तु उन कामों के द्वारा मध्यम श्रेणी की महत्ता की भावना दूर करने में कोई सहायता नहीं मिलती थी क्योंकि उस समय हमारी दिमागी प्रवृत्ति में इस प्रकार की कोई भावना नहीं थी। किन्तु बाद में जब मैं इस दिशा में प्रयत्न करने लगा, तो एक विशेष प्रकार की नीयत और धारणा के साथ करने लगा। तब यह पिछला प्रभाव भीतरी संस्कार को कम करने में अधिक सहायक हुआ। फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि यदि आश्रम में आरम्भ से ही शारीरिक परिश्रम का आदर्श और अभ्यास न रहता तो बाद का प्रयास भी सम्भव नहीं होता। आश्रम के हर काम को अपने हाथ से करने के अभ्यास ने हम लोगों को ग्राम-सेवा के योग्य बनाने में विशेष सहायता दी।

इस तरह सालभर बनारस में ही बीत गया। मैं ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगा जब आश्रम के लोग स्वयं ही मुझे गाँव में भेज दें। और एक दिन ऐसा मौका आ ही गया। उसकी कहानी अगले पत्र में। ● ● ●

सेवा की ओर

सेंट्रल जेल आगरा
१४-६-'४१

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें मेरी इस कहानी से यह मालूम हो जायगा कि गाँव में रहकर काम करने की वृत्ति उत्पन्न करना भी सेवक के लिए एक विशेष प्रोग्राम है। वह इस प्रोग्राम को पूरा करने के बाद ही कुछ काम शुरू कर सकता है। पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि मैं गाँव में जाकर काम करने का अवसर ढूँढ रहा था। इसी बीच मुझे उसकी सुविधा मिल गयी। इधर कुछ दिनों से मैंने यह सोचकर होमियो पैथिक-चिकित्सा-पद्धति का अध्ययन करना और उसीके अनुसार दवा देना शुरू कर दिया था कि अगर मैं गाँव में जाऊँगा तो यह विद्या मदद करेगी। इसकी सूझ मुझे बनारस के रामकृष्ण मिशन से मिली थी। श्री रामकृष्ण की जीवनी और रामकृष्ण मिशन की सेवा-वृत्ति ने मुझे पहले से ही उस ओर प्रेरित किया था। मैं प्रायः रोज रामकृष्ण सेवाश्रम में जाता था और वहाँ के सेवकों से वार्तालाप किया करता था। श्री कालिका महाराज मुझे बड़े स्नेह की दृष्टि से देखा करते थे। उनसे मैं प्रायः कहा करता था कि मैं देहात में ही काम करना चाहता हूँ। उन्होंने बताया था कि देहातियों को जीतने के लिए उन्हें दवा देने का काम पहले हाथ में लेना चाहिए। वे ईसाइयों के काम की मिसाल भी दिया करते थे।

ग्राम-सेवा की मनोवृत्ति का महत्त्व

सन् १९२१ के सितम्बर का महीना था। आश्रम में आये तीन वर्ष हो चुके थे। अब तक भौरहरा के प्रशाखा फैजाबाद जिले के अकबरपुर में चरखा और खादी का केन्द्र खुल चुका था। श्री अनिल भाई वहाँ के इन्चार्ज थे। अनिल भाई और राजाराम भाई बनारस आये हुए थे।

बढ़ई-विभाग बन्द हो चुका था। मैं खादी की फेरी करता था। अनिल भाई से पहले से ही मेरी घनिष्ठता थी। मैं एक प्रकार से उन्हें गुरु मानता था। उन्होंने मेरे कमरे में होमियोपैथिक दवाओं के बक्स को देखकर पूछा कि यह क्या शुरू किया है? मैंने उन्हें बताया कि आजकल यही सीख रहा हूँ। अगर कभी गाँव में जाने का अवसर मिला, तो यह काम देगा। इस पर उन्होंने फिर पूछा कि तुम देहात जाना चाहते हो क्या? देहाती जीवन पसन्द आयेगा? वहाँ की तकलीफ सह सकोगे? मैंने उन्हें उत्तर दिया कि मैं नहीं कह सकता कि सह सकूँगा या नहीं लेकिन यह मैं जरूर चाहता हूँ कि मुझे देहात का काम दिया जाय। जब-जब देहात में काम करने का समय आया, तब-तब लोगों को मेरे विषय में सन्देह ही रहा। अनिल भाई भी उस समय शायद ऐसा ही सन्देह रखते थे, इसलिए उन्होंने निश्चित रूप से कोई उत्तर नहीं दिया और दूसरे ही दिन वे और राधारमण भाई अकबरपुर चले गये।

मुमकिन है, अनिल भाई ने राधारमण भाई से कुछ सलाह की हो। थोड़े ही दिन बाद अकबरपुर से मुझे वहाँ बुलाने के लिए राधारमण भाई का पत्र आया। मैं तो जाना ही चाहता था, जल्दी से सामान बाँधकर रवाना हो गया। अकबरपुर तहसील का केन्द्र-स्थान है। अच्छा-सा कस्बा है। आश्रम का मकान अच्छा था, सड़क भी काफी अच्छी थी, इसलिए यहाँ आने पर देहात का अनुभव नहीं हो सका। किन्तु मन में इतना ही सोचकर सन्तोष किया कि बनारस के मुकाबले में तो देहात ही है। अनिल भाई ने काम के सम्बन्ध में परामर्श की। उन्होंने कहा कि मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि तुम लोगों को होमियोपैथिक दवा दिया करो। इस मनानुकूल काम से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं 'डाक्टर साहब' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। कभी-कभी देहात के लोग भी आकर दवा ले जाते थे लेकिन अधिकतर कस्बे के लोग ही दवा लिया करते थे। शुरू शुरू में मैं काम में इतना तल्लीन हो गया कि मुझे और किसी बात की चिन्ता ही न रही। किन्तु एक मेद मेरे भाव मुझे सताता था कि

'डॉक्टर साहब'

इस तरह तो मुझे गाँव का कोई अनुभव ही नहीं हो रहा है, अतः गाँव में जाकर कुछ करने के लिए मैं चिन्तित रहने लगा। मैं श्री राधाराम भाई के पीछे पड़ा कि वे मुझे अपने साथ ले चलें और गाँव दिखा दें। वे तैयार हो गये और एक दिन मैं चरखा-प्रचार करने के लिए गाँव को रवाना हुआ। धीरे-धीरे मैं भी देहात के लोगों के साथ खूब हिल-मिल गया। शुरू में तो मुझे काफी परेशानी रही। यहाँ तक कि गाँव में दरवाजों के सामने अनाज सूखता हुआ देखकर मैं उसे आँगन समझ लौट आता था। सोचता था कि प्राइवेट घरों के भीतर से किस तरह चलें! इस प्रकार की बहुत-सी बातों को लेकर राधाराम भाई दूसरे लोगों के सामने मेरी हँसी उड़ाते थे। किन्तु इस तरह मेरे दिल की बहुत दिनों की इच्छा धीरे धीरे पूरी होने लगी और मैंने गाँव का काम करना शुरू कर दिया। रोज-रोज गाँव आने-जाने के कारण देहात के प्रति असभ्यता की भावना हटती चली गयी। भद्रता की भावना तो अब करीब-करीब समाप्त हो रही थी। उसे तो मैंने बनारस से ही हटाने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया था जो कुछ बाकी थी, वह भी देहात के लोगों से रोज-रोज के मिलने-जुलने से समाप्त हो गयी। इस बात से मुझे बहुत संतोष हुआ कि अब मैं ग्राम-सेवा के लिए योग्य बनता जा रहा हूँ। ● ● ●

ग्रामवासियों से सम्पर्क

सेंट्रल जेल, आगरा
१७-६-'४१

पिछले पत्र में मैंने तुम्हें बताया था कि किस तरह मैंने देहात में काम करने का श्रीगणेश किया। देहात के लोगों के साथ उठने-बैठने से उनके प्रति मेरी मानसिक अश्रद्धा दूर होती गयी। रहन-सहन और पोशाक आदि के विषय में तो मैंने बनारस से ही काफी लापरवाही शुरू कर दी थी। लेकिन दिमाग में अपने को ग्राम जनता से ऊँचा ही समझता था और इसी भावना के कारण अभी तक देहाती लोगों के साथ मिलना जुलना उतना स्वाभाविक नहीं हो पाया था। यों कहने के लिए तो मैं करीब-करीब रोज ही देहातियों के बीच जाया करता था। लेकिन जाता था उन्हीं देहातियों के घर जिनसे राजाराम भाई से जान-पहचान थी और जो देहातियों की दृष्टि में उच्च श्रेणी के गिने जाते थे। इनसे मिलने में बराबरी का व्यवहार रखने की स्वाभाविकता की रक्षा करना मेरे लिए कठिन होता था। मेरी तरह का एक नौजवान जिसने निश्चय कर लिया था कि जीवन में देश और गाँव का ही काम करेंगे और जो दो-तीन वर्षों से अपने को इन्हीं के अनुरूप बनाने की कोशिश भी कर रहा था और जिसके लिए आश्रम का वातावरण और उसकी शिक्षा भी इस कोशिश के अनुकूल ही थी जब गाँव के उच्च श्रेणी के लोगों के साथ मिलने में भी कठिनता महसूस करता था तो शहर के शिक्षित समाज के लिए, एकाएक गाँव में जाकर गाँव के लोगों को अपनाना कितना कठिन है, यह सभी भाँति समझ सकती हो। यही कारण है कि मैं गाँव के काम करनेवालों के लिए अपनी भ्रान्त धारणा को दूर करना सबसे अधिक आवश्यक समझता हूँ। कारण, ऐसे लोग देहात में जाकर उन भ्रमों को हटाने की

कोशिश करने लगते हैं, जो उन्हें अपनी श्रेणी और अपने समाज के अनुकूल न होने से बुरी लगती हैं या जिनके कारण उन्हें स्वयं कष्ट अनुभव होता है। बरसात में उन्हें गाँव के भीतर कीचड़ में घूमना कष्टदायक लगता है अतएव वे देहात की गलियों में ईंट बिछवा देना

उच्चता का अभिमान दूर रखने की आवश्यकता

ग्राम-सुधार कार्य का एक आवश्यक अंग मानते हैं। आर्थिक सुविधाओं में जन्म लेने और शिक्षा पाने के कारण उन्हें क्या पता कि देहात के जन-समूह के पास इतनी ईंटें जुटाने का धन और साधन है या नहीं! अगर वे कहीं बाहर से ईंट माँगकर लायेंगे, तो उनके पास सोचने की इतनी शक्ति नहीं है कि उन ईंटों को साफ और दुरुस्त रखने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। देहात के घरों में बैठने से उनका दम घुटता है, इसीलिए वे उनमें खिड़की की व्यवस्था कराने की कोशिश करते हैं। वे देहात में जाते ही वहाँ के प्रचलित शादी विवाह तथा अन्य अनुष्ठानों के विरुद्ध प्रचार एवं विवाद करने लगते हैं, जिसे गाँववाले सहन नहीं कर पाते। गाँव के भीतर जाकर हमें गाँवों के उस बिन्दु पर उँगली रखनी है, जिस बिन्दु पर गाँववालों को सबसे अधिक कष्ट है। हमें सबसे पहले इसीका समाधान खोज निकालना है।

केन्द्र बिन्दु को स्पर्श करो

मैंने कई वर्ष देहात में रहकर अनुभव किया है कि देहाती जनता के भीतर स्वाभिमान की भावना इतनी अधिक भरी हुई है कि वे बाहरी लोगों से हर प्रकार की बातें तो करेंगे, किन्तु जिन बातों का उन्हें कष्ट होगा उन्हें हर प्रकार से गुप्त रखने का प्रयत्न करेंगे। वे यह सहन नहीं कर सकते कि कोई व्यक्ति उनके कष्टों को जानकर उन्हें किसी प्रकार से छोटा समझ ले। मैंने यह भी देखा है कि गाँवों में नीच कही जानेवाली जातियों के लोग अगर गाँव में किसी भद्र पुरुष को देखते हैं, तो उनसे अपनी गरीबी के साधारण दुःखों का बयान करते हैं और हाड़-मांस के जोरों को दिखाकर कुछ आर्थिक सुविधा भी प्राप्त कर लेते हैं। पर जिन बातों

का उन्हें खास कष्ट है और जिनकी समस्या उनके सामने रात-दिन रहती है, उनका व जिक्र तक नहीं करते। गाँव की दशा पूर्ण रूप से न जाननेवालों के लिए ग्राम-सेवा का काम कठिन हो जाता है, इसलिए ग्राम-सेवक को सबसे पहले ग्रामवासियों को तुच्छ समझने की भावना का मूलोच्छेदन कर उनके साथ ऐसे सहज और स्वाभाविक ढंग से मिलना होगा कि वे उन्हें अपने ही कुटुम्ब का एक व्यक्ति समझने लगें। यदि हम ऐसा नहीं करते, तो उनकी समस्याओं को समझ ही नहीं सकते, सेवा और सुधार तो बहुत दूर की बात है।

ग्रामवासियों का स्वाभिमान

अतएव मुझ जैसे भद्र की भावना से पूर्ण और ग्रामीण समाज की सम्पूर्ण समस्याओं से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए उनके साथ काफी घनिष्ठता का व्यवहार हो जाने पर भी उनसे एक हो जाने की भावना लाना सम्भव न हो सका। मैं देहात में जाता था देहातवालों को घर-द्वार साफ रखने की बात बताता था; और चरखा चलाने की बात खास तौर से किया करता था, किन्तु वे अधिकतर यही उत्तर देते थे कि हमारे घर की स्त्रियों को चरखा चलाने के लिए अवकाश ही नहीं मिल सकता।

ब्राह्मण और क्षत्रिय घरों की परदा-पद्धति के कारण स्त्रियों से हम सीधे किसी प्रकार की बात नहीं कर सकते थे किन्तु कुर्मी आदि किसानों में स्त्रियों से बातचीत हो जाती थी। मैंने अनुभव किया कि ग्रामीण अर्थशास्त्र से सम्बद्ध बातों को गाँव की स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक साफ और शीघ्र समझ जाती हैं। उस वक्त मेरे मन में आया कि हम यदि देहात की स्त्रियों में काम करें तो गांधीजी के प्रोग्राम को बहुत शीघ्र पूरा कर सकते हैं। उन दिनों मैं इस बात का अनुमान न कर सका कि स्त्रियाँ क्यों हमारी बातें पुरुषों की अपेक्षा जल्दी समझ लेती हैं। देहाती काम में लग। यद्यपि सब काम करते-करते यह बात मेरी समझ में आने लगी कि पुरुष जाति के लोग कभी-न-कभी किसी-न-किसी काम से शहर में आय

ग्रामीण नारी की सहज चेतना

आया करते हैं और इस प्रकार शहरी और पश्चिमी सभ्यता के लोगों से उनका संसर्ग हुआ करता है, वे शहरी तथा पश्चिमी सभ्यता की निकृष्ट बातों को अधूरे और विकृत रूप में ग्रहण करते रहते हैं। नतीजा यह होता है कि उनके हृदय में भारतीयता के स्थान पर एक निम्न प्रकार की शहरी सभ्यता टूटा-फूटा स्वरूप धारण कर लेती है। इधर हमारा प्रचार गांधीजी के सिद्धान्त के अनुसार ही हुआ करता है, जो ग्रामीण सभ्यता के बिलकुल अनुकूल होता है। इसीलिए गाँव की स्त्रियाँ उसे ठीक-ठीक समझ लेती हैं, क्योंकि वे नगर-निवासियों के अधिक संसर्ग में नहीं आतीं। सदियों की गरीबी की मार पड़ने पर भी उनके अन्दर जो कुछ सभ्यता बाकी रह गयी है, वह प्राचीन भारत की ग्रामीण सभ्यता का अवशेष मात्र ही है और गांधीजी उसी चीज का विकास करना चाहते हैं। इसलिए गाँव की स्त्रियों की भावना का स्तर गांधीजी के सिद्धान्त के साथ ठीक-ठीक मेल खा जाता है। यही कारण है कि वे हमारी बातों को जल्दी ग्रहण कर लेती हैं।

ग्रामीण सभ्यता का प्रकाश उनमें सुरक्षित है

इसी प्रकार सोचते-विचारते और काम करते हुए महीनों बीतते गये। मैं अपने को देहाती जीवन के योग्य बनाने का प्रयत्न करता रहा। कुछ दिनों के बाद अकबरपुर से १२ मील दूर रणीवा ग्राम में आश्रम का सूत-केन्द्र खोला गया। लोगों ने मुझे रणीवा भेज दिया और मैं वहाँ किराये का एक छोटा-सा मकान लेकर रहने लगा। रणीवा में रहते समय मैं ग्रामीण जनता से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने और उनको अधिक निकट से अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इसकी कहानी फिर कभी।

रणीवा में

• • •

भेद भाव और मातृ हृदय ६

सेंट्रल जेल आगरा
२१-१-'४१

सन् १९२१ के नवम्बर का महीना था, जाड़े का मौसम। इसी समय मैं टापरा पहुँचा। वहाँ जाकर शुरू शुरू में मुझे अपने रहने और खाने पीने का प्रबन्ध करने में कठिनाई प्रतीत हुई। मुजफ्फरपुर से मैं कभी-कभी टापरा का बाजार किया करता था और शुरू शुरू में चरखे का सूत बहुत मोटा होता था तो वहाँ उसकी दरी भी बनवाता था। उस दिन जब मैं वहाँ पहुँचा, तो दरी बुननेवाला एक लड़का मेरे साथ रहकर दिन भर मेरे कमरे की सफाई कराता रहा। शाम को सफाई पूरी हो जाने पर मैंने स्नान किया और लड़के से पूछा कि यहाँ खाने-पीने की कौन-सी चीजें मिलती हैं। कोई होटल है कि नहीं? उसने बताया कि पूरी-मिठाई के अलावा खाने-पीने की और कोई चीज नहीं मिल सकती। मैंने उससे पूछा कि क्या तुम अपने घर से रोटी बनवाकर दे सकते हो? पर मैं किसीका मुफ्त नहीं खाता, इसलिए खाना खरीद कर बनवाकर दोगे तभी मैं खा सकूँगा। वह मेरी बातें सुनकर आश्चर्य में पड़-सा गया और कहने लगा कि आप हिन्दू होकर मेरे घर की रोटी कैसे खायेंगे? मैंने कहा कि हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग हैं क्या? दोनों ही तो मनुष्य हैं। यदि दोनों का खाना-पीना एक में हो जाय तो मनुष्यता में कोई अन्तर नहीं आयेगा। आज दोनों के खान-पान एक दूसरे से इसलिए अलग अलग हैं कि दोनों ने अपने-अपने धर्म रिवाज अलग-अलग बना रखे हैं और एक-दूसरे से घृणा करते हैं। हाँ, दोनों में थोड़ा-सा अन्तर यह है कि तुम लोग मुझ से परहेज नहीं करते, स्पर्श-अभिमान साथ रखते नहीं

मुसलमान माता का आतिथ्य

रखने किन्तु हम लोग इसका पूरा ध्यान रखते हैं। इसीलिए हमारा तुम्हारा खाना-पीना एक में नहीं होता, अन्यथा तुम्हारे छूने मात्र से कौन सी हानि हो सकती है?" मेरी ये बातें सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुआ। फिर वह अपने घर चला गया और मैं टहलने निकल गया।

मैं घूमकर लौटा ही था कि वह लड़का मुझे बुलाने का आमन्त्रण लेकर आ पहुँचा। उसका घर क्या था? टूटा-फूटा, छोटा-सा घास-फूस का झोपड़ा, जो मिट्टी की तीन-चार नीची दीवारों पर रखा हुआ था। उसी मुहल्ले में और दरीवालों के भी घर थे, लेकिन उनके घर कुछ अच्छे थे। उसके परिवार में एक छोटी बहन भी और माँ थी। मैंने उससे कहा कि मैं खाना पकाने का स्थान देखना चाहता हूँ। वह मुझे भीतर ले गया। घर में चारों ओर गन्दगी फैली हुई थी, कपड़े और बिस्तरे सभी गन्दे थे लेकिन खाना पकाने का स्थान लिपा-पुता और स्वच्छ था। बरतन भी साफ दिखाई दिये। मुझे देखते ही उसकी माँ जो रोटी बना रही थी, हँसकर कहने लगी— "का भइया तू सब सममते हो कि हमरे सब बिल्कुल बाहियात गन्दगी के खाना खावत है? भइया, हमरे सब भी मनइ होइ, हमहूँ नीक बकार सममित है।

उस स्थान पर एक मचिया पड़ी थी। मैं उसी पर बैठकर उसकी माँ से बातें करने लगा। वह लड़का भी वहीं चौखट पर बैठ गया। मैंने यह देख लिया था कि रसोई पर अभी-अभी गोबर से पहले लीपा गया था और बरतन भी अभी ही साफ किये हुए-से हैं। यह सब स्वच्छता मेरे और उस लड़के के वार्तालाप तथा मेरे यहाँ आने के कारण ही सम्भव हो सकी है। साथ ही नजीर की माँ का सफाई देना भी इसके लिए एक दम बड़ प्रमाण की बात थी। मैंने हँसे-हँसते कहा—"क्यों माई, मुझसे झूठ बोलने से क्या लाभ? मैंने अच्छी प्रकार समझ लिया कि यह सब तुमने अपने बेटे के कहने पर ही किया है।" पहले तो वह इनकार करती रही किन्तु बाद में उसने स्वीकार किया कि मेरे ही कारण तुमने और उसकी लड़की ने लगभग एक घंटे तक परिश्रम करके सफाई

की है। उसने यह भी कहा कि मुझे तो अब तक विश्वास ही नहीं हुआ था कि आप सचमुच मेरे यहाँ खाना खायेंगे। तत्पश्चात् उसने रोटियाँ बनायीं और बड़े प्रेम से मुझे खिलाना शुरू किया। इस भोजन में मुझे एक अपूर्व मातृभाव का आभास मिल रहा था। भारतीय स्त्रियों के हृदय में मातृभाव ने इस प्रकार घर कर लिया है कि उन्हें दूसरों के बच्चे भी अपने ही बच्चे जैसे प्रतीत होते हैं।

भारतीय हृदय की एकता

भारतीय संस्कृति का अवशेष तो हमारी देहात की स्त्रियों में ही मिलेगा। हिन्दू हो या मुसलमान, ब्राह्मण हो अथवा हरिजन, सबकी माता संस्कार, रंग-रूप, भावना आदि सब एक ही प्रकार के हैं। मैं खाना भी खा रहा था और उस माता से तरह-तरह की बातें भी हो रही थीं। उसने कहा—

'भइया, तुहरे अस भलाई हमरे घर मैं खाव, यह तो हम आज तक नाहीं देखेन। हमैं तो भइया तुहरे सब बस कहिहो तस करबै। हमरे हाई पाहुन ही तो सब कुछ हैं। उनके लाई त हम सब कुछ करे के तैयार हन। हमरे घर रोज खाव त पैस हम वाक करी।" मेरे पास बरतन आदि न थे इससे दो-एक दिन उसीके घर खाना खाने के लिए कह दिया और आश्रम लौट आया। वह लड़का मेरे साथ-साथ आश्रम तक आया। मैंने उससे कहा कि जब तक हमारा इंतजाम नहीं होता है, तब तक तुम्हारे यहाँ खाना खायेंगे और तुमको कुछ पैसा दे दिया करेंगे। लेकिन दूसरे ही दिन टाण्डा के प्रमुख कांग्रेस कार्यकर्ता श्री [illegible] मुझे अपने घर पकड़ ले गये। मैंने उस लड़के से कह दिया कि तुम्हारे यहाँ अब मैं खाना खाने नहीं आऊँगा। दूसरे दिन मैं अकबरपुर चला गया।

अकबरपुर पहुँचकर मैंने अपना टाण्डा का दो-तीन दिन का अनुभव भी बयान किया। दर्जीवाले के घर खाने की बात सुनकर आश्रम के भाई लोग बहुत नाराज हुए और कहने लगे कि हम ऐसी हरकतों से आश्रम की मर्यादा नष्ट कर रहे हैं। मुझसे उनसे बहुत वाद-विवाद हुआ किन्तु मैं उनसे सहमत न हो सका। उन लोगों के विचार में दो बातों की झलक

दिखाई देती थी, एक तो भद्रता की मनोवृत्ति और दूसरी मुसलमानों के घर खाने के विरुद्ध उनका साधारण संस्कार। मैं इन दोनों ही मनोवृत्तियों के विरुद्ध था। छुआछूत का संस्कार मुझमें था ही नहीं। आज से दो-तीन पुश्त पहले ही यह मेरे पूर्व पुरुषों के परिवार से ही समाप्त हो चुका था। श्रेणी-विभेद की मनोवृत्ति भी दो वर्ष के लगातार प्रयत्न से करीब-करीब समाप्त हो चुकी थी। मैं अपने हृदय में सोचने लगा कि आश्रम-जैसी पवित्र संस्था में यदि छोटे-बड़े की मनोवृत्ति कायम रही तो देश-सेवा तथा ग्राम-सेवा दूषित हो जायगी। इसलिए मुझे कुछ कष्ट भी होने लगा, किन्तु बड़ों की बात में पड़ने का मेरा अभ्यास नहीं था, इसलिए मैंने अधिक विचार नहीं किया। किन्तु यह बात दिल में घुमती ही रही और भद्र श्रेणी के मध्यमवर्गीय लोगों के विरुद्ध मुझमें भावनाओं का बनना शुरू हो गया।

एक समय था, जब मैं स्वयं छोटे लोगों को अभद्रता की दृष्टि से देखता था, किन्तु आज उन्हीं छोटों के प्रति, जिन्हें चमक-दमक की सभ्यता प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला और जो सफेदपोश बने रहने के साधन से हीन हैं, अभद्रतापूर्ण बातें सुनकर दिल को तकलीफ होने लगी। यह परिवर्तन मुझमें तभी सम्भव हुआ, जब मैंने गरीब और निम्न श्रेणी के लोगों को जानने की कोशिश की।

झगड़ों के मूल कारण

वस्तुतः आज श्रेणी-श्रेणी में जाति-जाति में, धर्म-धर्म में जो झगड़ा चल रहा है उसका एक प्रधान कारण यही है कि हम सब आज एक-दूसरे को जानने या समझने की कोशिश ही नहीं करते।

अकबरपुर से बरतन आदि सामान लेकर दो-तीन रोज के बाद मैं रणीवां लौट गया और वहीं पर स्थायी रूप से बस गया। आज यहीं तक। रणीवां के देहातों में घूमने से मुझे क्या मालूम हुआ यह दूसरे पत्र में लिखूंगा।

● ● ●

२१-९-'४१

टापरा में एक दिन सूत का प्रचार करना पड़ता था, शेष छह दिन देहात जाने का अवसर मिल जाता था। प्रारम्भ में मैं सवेरे ही देहात चला जाता था और शाम होते-होते वापस आ जाता था। मेरा काम केवल चरखे का प्रचार करना और सूत धुनना सिखाना था किन्तु मैं देहात के लोगों से तरह-तरह की बातचीत किया करता था। मुजफ्फरपुर के देहातों में केवल उच्चवर्गीय लोगों से ही मिल पाता था, परन्तु टापरा में विशेष-कर किसान-कुर्मी जातियों के साथ ही मिलता-जुलता था क्योंकि मैंने यह समझ लिया था कि उच्च श्रेणी के लोग मेरी बातों को समझने की कोशिश ही नहीं करते। किसानों के घर में एक प्रकार से स्त्रियाँ ही मालकिन समझी जाती हैं। वे ही घर का और अनाज का सारा प्रबन्ध करती हैं। उनसे मिलने-जुलने से मुझे मालूम होता था कि किसान स्त्रियाँ पुरुषों से अधिक योग्य हैं। गांधीजी के आर्थिक और सामाजिक प्रोग्राम को वे अधिक समझ सकती हैं। इन्हीं सब कारणों से मैं अधिकतर स्त्रियों में ही अपना प्रचार किया करता था। भारत के उद्धार के लिए सबसे पहले स्त्रियों का उद्धार होना आवश्यक है, क्योंकि घर, गृहस्थी, समाज और भावी सन्तान का प्रबन्ध उन्हींके अधीन है। वे जिस ओर कदम बढ़ायेंगी, उसी ओर मुल्क को जाना पड़ेगा। इस प्रकार की धारणा उसी समय से मेरे अन्दर बैठ गयी थी और वह आज भी वैसी-की-वैसी ही कायम है।

रोज देहात में आने-जाने में अधिक समय खर्च हो जाता था इसलिए कुछ समय बाद मैं गाँवों में ही टिकने लगा और किसानों के घर मामूली तरीके से रहने लग गया। चौरहरा में मुझे ग्रामीणों के गन्दे

आँगन में या मवेशीखाने के पास के गन्दे चौपाल में मैली चारपाई पर गन्दी तोशक और गन्दी कथरी पर बैठने में घृणा होती थी, उन्हें देखकर ही नाक-भौं सिकोड़ता था। पर अब दो साल के बाद उसी वातावरण में उन्हीं वस्तुओं को सहज और स्वाभाविक तौर से इस्तेमाल करने लगा। कभी-कभी ग्रामीण लोग कह उठते थे—"डॉक्टर साहब तो बिल्कुल देहाती मनई होय गये।" इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि वे अब मेरे साथ निस्संकोच उठने-बैठने लगे और अपनी बातें बताने में किसी प्रकार की झिझक न रखते हुए मुझे भी अपने परिवार का एक सदस्य मानने लगे।

जाड़े के दिनों में देहाती लोग संध्या के समय अलाव के चारों ओर बैठते थे और गप लड़ाते थे। अवध के ग्रामीण 'तपा' कहते हैं। मैं रात की इस बैठक को 'तपा-समाज' की बैठक कहा करता था। थोड़े ही दिनों में यह शब्द खूब प्रचलित हो गया।

देहात का समाज

देहात का तप्पा-समाज देहात की पार्लियामेण्ट, अखबार, मंगल, सभा आदि दुनियाभर की सभा-समितियों का एक समन्वित रूप है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं कि जिस पर इस सभा में विचार-विनिमय न होता हो। गम्भीर आध्यात्मिक विषय से लेकर बच्चों के छोटे-मोटे पारस्परिक झगड़ों तक। मैं भी अपने सिर पर एक गमछा बाँधकर उस सभा में शामिल हो जाया करता था और उनकी सभी बातों में दिलचस्पी लिया करता था। 'तप्पा-समाज' के द्वारा देहात को जानने का और अपनी बातों को ग्रामीण जनता के समक्ष रखने का जितना मौका मिला, उतना आज तक किसी भी प्रकार से न मिल सका।

अवध के किसानों की अवस्था इस छोटे-से पत्र में क्या वर्णन करूँ! 'ईती' बगारी, सूखा और बेदखली की मार तो इन पर रोज लगी ही रहती है। भूत-भवानी और महामारी आदि का बोझ भी निरन्तर सिर पर लदा रहता है। इस कारण इनकी ज़िन्दगी में किसी प्रकार का रस

नहीं। जीवन में जब रस ही नहीं, तो स्वच्छता, सभ्यता और सुन्दरता आदि की गुंजाइश ही कहाँ? फिर भी जो सभ्यता, धार्मिकता और अतिथि-सत्कार आदि बातें ग्रामीण जनता में पायी जाती हैं उन्हें अलौकिक समझना चाहिए।

अकल्पनीय गरीबी

हमारे किसानों के कितने ही परिवार महीनों तक आम की गुठली की रोटी खाकर गुजर करते हैं। मैंने देखा है कि इतने पर भी उन्हें ऐसे दिन व्यतीत करने पड़ते हैं, जब कि कुछ भी खाने को नहीं मिलता। कितने ही लोगों को खलिहान का गोबर धोकर अनाज निकालते मैंने स्वयं देखा है। देहात के कितने ही आदमियों के शरीर पर वस्त्र नहीं होता। जाड़े के दिनों में सैकड़ों परिवार चारों ओर दीवारों से घिरे हुए कमरों में आग तापकर रात काट देते हैं। भला हम उनकी गरीबी का अन्दाजा क्या लगा सकते हैं!

एक दिन सारदा के बाजार में मैं कई से सूत बदल रहा था। सूत बदलने का मैंने यह नियम बना दिया था कि एक गाँव की रहनेवाली बहनों का सूत लेना समाप्त करके ही दूसरे गाँवों की बहनों का सूत लिया करूँगा। सारदा से पाँच मील दूर के रामपुर गाँव की लड़की सब बहनें अपना सूत बदलने के बाद भी एक तरफ आकर बैठी रहीं सदा की तरह सूत बदलकर घर नहीं गयीं। उस समय संध्या का पूरा प्रसार हो चुका था। मैंने उनसे बैठे रहने का कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया कि "बाबा सबके गाँव में जाते हैं हमारे गाँव में कभी नहीं गये आज हमरे सब यही सोचे हैं कि बाबा को लिवाय चलें। इस स्थान की स्त्रियाँ आश्रम के सभी लोगों को बाबा कहा करती थीं जिसका अर्थ था—गांधी बाबा का चेला। उनकी बातें सुनकर मैंने उत्तर दिया कि मैं किसी समय तुम लोगों के गाँव में आ जाऊँगा। इस समय बहुत देर हो गयी है। अभी रुई और सूत वगैरह बोरियों में बन्द करने हैं, खाना बनाना है, इसलिए काफी देर हो जायगी। तुम लोग कब तक प्रतीक्षा करोगी। मेरी बातों को सुनकर वे लड़की सब एक साथ हँस पड़ीं और कहने लगीं—"का हमार सब इतना नहि

दूरें कि दुख और खाने के नाहीं है सकतीं। हम तो बिना लिवाये नाहीं चलब। अतएव मुझे उसी समय उनके साथ रामपुर गाँव के लिए रवाना हो जाना पड़ा। मैं रास्ते में उनके साथ बातचीत करता जा रहा था और वे सब बड़ी घनिष्ठता के साथ घर और गृहस्थी की बातें कर रही थीं। जब हम रामपुर पहुँचे, तो काफी अँधेरा हो चुका था। वहाँ पहुँचने पर मुझे प्रतीत हुआ कि गाँववालों ने मुझे बुलाने के लिए पहले ही से निश्चय कर लिया था, क्योंकि उनके रंग-ढंग से यह स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि वे लोग मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे।

मुझे एक सम्पन्न किसान के बरामदे में बैठाकर मेरे साथ की बहनें अपने-अपने घर चली गयीं। थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण गाँव में मेरे आने की चर्चा फैल गयी और लोग एक-एक करके मेरे पास इकट्ठे होने लगे। रात में बहुत देर तक बातचीत होती रही और बाद को मैं खाना खाकर सो रहा। मुझे रामपुर गाँव में तीन-चार दिन तक रुक जाना पड़ा। नित्य दोपहर को गाँव की बहनें इकट्ठी होती थीं। मैं उन्हें गांधी बाबा, चरखा तथा भारतवर्ष की प्राचीन सम्पन्नता के विषय में बहुत-सी बातें बताता और समझाता था। एक बात से मुझे आश्चर्य होता था कि गाँव की बहनें बिना कुछ पढ़े-लिखे भी इस बात से परिचित थीं कि प्राचीन काल में लोग काफी समृद्धिशाली थे और अब गरीब हो गये हैं। वे यह भी जानती थीं कि इसका प्रधान कारण उनकी फिजूलखर्ची और आपस की फूट थी। वे

मेहरारू सौकीन होइ गयी है

कहा करती थीं 'मेहरारू येह तान्त सौकीन होइ गयी हैं, तो गृहस्थी में बरक्कत कहाँ से होइ। तब के मेहरारू जतन-जतन रहल करत रहीं तबै न गृहस्थी ग्यल रही।'"

मैं रामपुर में तीन दिन तक रहा और इस बीच गाँव के हर घर आँगन और भीतरी भागों में भी घूम घूमकर देखा करता था और शाम को अलाव ('तवा') के पास बैठकर किसानों से बातचीत किया करता था। एक दिन लोगों ने गांधीजी के विषय में जानने की इच्छा प्रकट

की ओर मैंने उन्हें बताना शुरू किया और कहा कि गांधीजी देहात के गरीब लोगों के कष्टों को भलीभाँति समझते हैं। इसीलिए वे केवल उतने ही कपड़े पहनते हैं, जितने देहात के लोगों को मिल सकते हैं। गरीबों की तरह ९ पैसा रोज खाने में व्यय करते हैं। उन दिनों गांधीजी की केवल ९ पैसे में भोजन करने की बात काफी प्रसिद्ध हो रही थी—इतने में एक बूढ़ा चमार बोल पड़ा—'हमरे तकलीफ के बराबर उनके कन्सन तकलीफ परि गइल। वे कौन चार हाथ के लँगोटा पहिनत हैं और ९ पैसा रोज खात हैं उनके फिकिर त नाहीं करे के पड़त है, हमरे सबके त जिन्दगीभर फिकिर लाग रहत है, ऐसी फिकिर में हम सब मरे जात हईं। अगर हमरे सबके फिकिर न रहे, तो हमके जोहारी नाहीं चाही मकुनी मकुनीं से हमरे सब पेर बुरा रहित।"

उस बूढ़ के तौर से भम्य

बुड्ढे की बात रह-रहकर मेरे दिमाग में उथल-पुथल मचाने लगी। रात में बड़ी देर तक नींद नहीं आयी और अन्तत इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि हम प्रदर्शन और शौक के रूप में कुछ दिनों तक भले ही ग्रामीण जीवन जिया हो किन्तु उनके वास्तविक कष्टों का सच्चा अनुभव हमें नहीं हो सकता।

इसी तरह मैं चरखा प्रचार-कार्य के साथ-साथ देहात में घूम-घूमकर ग्रामीण परिस्थितियों का अध्ययन करने लगा और मुझे इस काम में काफी दिलचस्पी भी महसूस होने लगी। ● ● ●

कौन ऊँचा, कौन नीचा ? ८

१०-७-'४१

पिछले पत्र में मैंने रामपुर गाँव में रहने का अपना अनुभव बताया था। उन दिनों उसी तरह कितने ही गाँवों में घूमा करता था। किसान और कुर्मी जाति के लोग ही मेरी बातों को अधिक ध्यान से सुनते थे और हमारे काम से सहानुभूति रखते थे। देहात के मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रिय जातियों के लोग कुछ तो मेरा मज़ाक उड़ाते थे, कुछ डर के कारण मुझसे घनिष्ठता स्थापित नहीं करना चाहते थे। असल में देहात के इस श्रेणी के लोग तो इस सम्बन्ध में एक विचित्र प्रकार की मनोवृत्ति रखते थे। एक समय था जब यही लोग समाज का नेतृत्व करते थे; सभ्यता, कला और शिक्षा का इनमें पूर्ण प्रचार था। इसलिए यही लोग भारतीय शिष्टाचार के अधिकारी भी थे किन्तु आज न तो ये देहाती रह गये हैं और न शहरी। गरीब हो जाने के कारण शिक्षा के अवसर हाथ से निकल चुके हैं। उच्चता भी समाप्त हो चुकी है फिर भी अपने बड़प्पन का अभिमान उनमें कूट-कूटकर भरा है। यही कारण है कि ये लोग शहर के लोगों की नकल करने की कोशिश में लगे रहते हैं, क्योंकि गाँववाले लोग शहरवालों का ऊँचा समझते हैं। इस नकल करने में अपनी अयोग्यता के कारण उनकी अच्छी चीजों की तो नकल नहीं कर पाते हैं किन्तु उनका अभिमान उनकी हृदयहीनता छोटों के प्रति घृणा तथा शृंगार आदि चीजों की तोड़-मरोड़कर भद्दे तरीके से नकल कर लेते हैं जिससे ये 'गाँव में रहते हुए भी गाँव के नहीं रह जाते। इसलिए जब मैं देहात के सम्बन्ध में कोई बात करता था तो ये उसे मज़ाक के रूप में ही ग्रहण करते थे। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि इन लोगों में चरखे का प्रचार हो जाय और ये गाँधीजी

पतनशील उच्च वर्ग

की बात समझ लें, किन्तु वे लोग मेरी ओर भी बात सुनने के लिए तैयार न हो सके। इनके यहाँ हरएक घर में अक्सर एकाध व्यक्ति बेकार रहते हैं किन्तु वे कोई भी काम करने को तैयार नहीं हो सकते। अपना छोटे से भी छोटा काम मजदूरों से ही कराते हैं।

दोनों श्रेणियों का अन्तर

जब ग्रामीण लोग एक साथ मिलकर कहीं बैठते हैं, तो संसार के समस्त विषयों की आलोचना किया करते हैं—जिसमें धार्मिक राजनीतिक और सामाजिक, सभी विषयों का समावेश रहता है। किन्तु यह मध्यम श्रेणी के अपने को श्रेष्ठ समझनेवाले लोग जब कहीं इकट्ठा होते हैं, तो या तो उनमें पट्टीदारी के झगड़ों की बात होती है अथवा दुनियाभर की दुर्नीति और अश्लीलता की चर्चायें छिड़ती हैं। उनकी बात सुनने से यह आभास मिलता है कि ये लोग अपनी गोष्ठी के लोगों के अतिरिक्त संसार के सभी लोगों को चरित्र हीन समझते हैं। मेरा यह भी अनुमान है कि ये लोग बहुत सुस्त और काहिल हुआ करते हैं।

एक दिन देहात में घूमते हुए टापरा से १६ मील दूर हेवर के पास एक गाँव में पहुँचा। शाम हो चुकी थी, इसलिए मैंने सोचा कि इसी गाँव में रातभर के लिए टिक जाऊँ। उस दिन पहले मैं टापरा से इतनी दूर के गाँव में कभी नहीं आया था। उसी गाँव के एक आदमी से पूछा कि इस गाँव में कौन लोग रहते हैं। जवाब मिला—"पचीस घर भलमनसाई और बाकी सब चमार-सियार। भलमनसाई का अर्थ था ब्राह्मण

भलमनसाइयों द्वारा उपेक्षा

क्षत्रिय आदि उच्च श्रेणी के लोग। इसी एक वाक्य से तुम समझ सकती हो कि देहात के ये बड़े लोग छोटी जातियों को किस नजर से देखते हैं। खैर! मैंने कोशिश की इन भलमनसाइयों में से किसीके घर टिक जाऊँ, किन्तु मुझे टिकाने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ। मार्च का महीना था इसलिए मैं निश्चिन्त होकर गाँव के बाहर ही एक पक्के कुएँ की जगत पर लेट गया। वहीं निकट में बाजार न होने के कारण उस रात खाना भी न खा सका। सम्ध्या

रात्रि में परिणत हो चुकी थी चाँदनी निकल आयी थी मुझे वह स्थान बहुत सुन्दर प्रतीत हुआ।

मैं करीब-करीब सो गया था, इतने ही में थोड़ी दूर पर ग्राम के बाग से एक स्त्री ने पुकारा— 'कुएँ पर के है हो ?" मैं उस गाँव से कुछ खीम-सा गया था, कुछ कर्कश स्वर में उत्तर दिया— 'मनई होइ, मनइ।" इतने में वह स्त्री नजदीक आ गयी और "कहाँ घर है ?' इत्यादि पूछने लगी। मैंने उसको सारा किस्सा कह सुनाया। सब हाल सुनकर वह बहुत दुखी हुई और उस गाँव के ठाकुरों को कोसने लगी और कहने लगी—"हमरे घर चलऽ सीधा-लकड़ी के इन्तजाम के देत हई बनाव ला। मैं सोलह सत्रह मील चलकर देहात में प्रचार करते हुए यहाँ पहुँचा था। भूख बहुत जोर से लगी थी। मैं उस बहन के साथ उसके घर चला गया। वहाँ जाकर देखा कि उसका घर वास्तव में कोई घर नहीं था। केवल एक छोटी-सी झोपड़ी थी जिसकी माप ६×१२ फुट थी। तीन हाथ ऊँची और एक फुट चौड़ी मिट्टी की दीवार किसी तरह सरपत और लर से ढँक दी गयी थी किन्तु उसके भीतर चाँद का प्रकाश छत से छनकर सम्पूर्ण घर में फैला हुआ था। छोटा-सा दरवाजा पटुए के डंठल और पलाश के पत्तों के टट्टर से ढँका हुआ था। उसके आसपास कोई घर नहीं था। दरवाजे के सामने की जमीन काफी दूर तक लिपी हुई थी। उस पर एक बूढ़ा बैठकर तम्बाकू पी रहा था। थोड़ी दूर पर एक छोटी-सी लड़की एक छोटे-से बच्चे के सिर पर पानी और मिट्टी डाल रही थी और हँस रही थी। शायद वही उसके खेल की सामग्री थी।

मेरे पहुँचते ही उस बहन ने धान के पयाल का एक 'पीढ़ा' लाकर दिया और पूछने लगी— 'लोटा-डोरा कुछ बाय ?' मेरे पास एक लोटा था किन्तु उसमें लोटा नहीं था। 'लोटा नहीं है' यह सुनकर वह बहुत परेशान हुई और कुम्हार के घर से कुछ बरतन और हँडिया लाने के लिए रवाना हो गयी। मैं उसके इस व्यवहार से समझ गया कि वह किसी नीच जाति की है और इसीलिए इतनी परेशान हो रही है। मैंने उसे पुकारकर

कह दिया कि मुझे तुम्हारे बर्तन में खाना खाने में कोई भी हिचक नहीं है।

इन दीनों के हृदय का अमृत

यह सुनकर उसे अपार प्रसन्नता हुई और वह दौड़-दौड़कर मेरे खाने-पीने का प्रबन्ध करने लगी। मैंने उससे यह भी कह दिया था कि मुझे तुम्हारे हाथ का पका हुआ भोजन करने में भी कोई एतराज नहीं है। उसकी तत्परता प्रेम और सद्भावनाओं को देखकर मुझे प्रतीत होने लगा कि मैं सचमुच अपनी बहन के घर आ गया हूँ।

अब तक उस बुड्ढे ने कुछ नहीं कहा था और निश्चिन्त होकर इस तरह तम्बाकू पी रहा था मानो उसके दरवाजे पर कोई नयी बात हुई ही नहीं। इस प्रकार की निश्चिन्तता मैंने देहात की मजदूर श्रेणी के लोगों में प्रायः देखी। उनके सामने से चाहे—कोई आये या जाय उसके प्रति वे कोई विशेष ध्यान नहीं देते। हजारों वर्षों से समाज में दलित अवस्था में रहने के कारण उन्हें दुनिया के बारे में कोई दिलचस्पी ही नहीं रह गयी। जब उस बहन ने आग जलायी तब उसने तम्बाकू पीते हुए पुकारकर पूछा—"का रे, का बात है। इस पर वह भी हँस पड़ी और कहने लगी—"बूढ़ है गया, कुछ समझत नाहीं।" अब उस बुड्ढे पर यह प्रकट हो गया कि वह मेरे निमित्त खाना बनाने जा रही है, तो वह सिर हिलाकर कहने लगा कि मैं ऐसी बात नहीं होने दूँगा। 'भला ठाकुर बाभन कै लरका हुवी अब बना लिहा तो कुल उच्छिन्न न होइ जाई !' मुझे मूर्ख जानकर और मुझसे बात करने के बाद उस स्त्री में जो प्रेम और उदारता की भावना जाग्रत हो उठी थी उसने उसे यह सोचने का अवसर ही नहीं दिया कि मेरे एतराज न करने पर भी उसे एतराज करना चाहिए।

मैंने उस बुड्ढे को समझाने की बहुत कोशिश की, किन्तु वह किसी तरह तैयार नहीं होता था। अन्त में मैंने कहा कि यदि नहीं खिलाओगे, तो भी कोई चिन्ता नहीं है, मैं रातभर यहीं भूखा रहूँगा और सबेरे चला जाऊँगा। वह बहन अब तक खड़ी होकर हमारी

और उस बुड्ढे की बातें सुन रही थी। मेरी अन्तिम बात सुनकर बोल उठी कि "रहे दो बाबा, हमारे मोहारे पर बेहू मूल्ला नाहीं मरा रहे; हम तो अनाथ के बखर सिपाउब।" इस पर उस बुड्ढे ने अत्यन्त कमजोर होकर अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया और फिर तम्बाकू पीने लगा। जंगल की वह देवी खाना बनाने लगी और मैं घास का 'बोझा' उठाकर उसी तरफ आकर बैठ गया और उससे उसकी अवस्था के सम्बन्ध में प्रश्न करने लगा।

उसकी जाति पूछने पर ज्ञात हुआ कि उसे लोग वनमानुष कहते हैं।

वनमानुष भी कोई जाति है यह मुझे अब तक मालूम नहीं था। वे लोग पत्तों की डाक का दोना बनाकर दिया करते हैं और उसके बदले में जो कुछ अनाज मिल जाता है, उसी पर जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। उसके पास न घर था, न जमीन थी, एक छोटी-सी झोपड़ी थी जिस पर थोड़ा-सा छप्पर और फूस रखा हुआ था जिससे वारिश की रोक नहीं हो सकती थी। किन्तु वर्षाकाल में क्या होगा इसके लिए अभी से चिन्ता करना उनके लिए आवश्यक नहीं था। वे ईसामसीह के इस उपदेश का कि 'कल की चिंता न करो' पूरा-पूरा अमल करनेवाले प्रतीत होते थे। उस स्त्री की अवस्था देखने में लगभग २ २२ वर्ष की मालूम होती थी। वह काफी स्वस्थ थी। बुड्ढा उसका बाप था और एक लड़का और एक लड़की उसकी सन्तान थे। उसका पति एक वर्ष पूर्व मर चुका था। इस जाति में दूसरा पति कर लेने का विधान होते हुए भी वह दूसरे के घर नहीं जाना चाहती थी। मेरे पूछने पर उसने उत्तर दिया—"भगवान ने तकदीर बिगाड़ दी तो भला हमारे जोड़ने से किस तरह जुड़ सकती है?" फिर मैंने इस विषय पर उससे कोई भी बात नहीं की।

अगर तुम उस वन को देखो तो आश्चर्य में डूब जाओगी। अकल्पनीय अपार दरिद्रता से घिरे हुए और समाज के अत्याचार से दलित

रहते हुए भी उसमें इतनी उदारता, सर्वथा हँसमुख रहने की इतनी क्षमता, इतनी शुद्धि और इतना शिष्टाचार कहाँ से आया ? खाना खाने के पश्चात् मैं एक कमली बिछाकर लेट गया और सोचने लगा कि गाँव के 'मलमनई' अधिक ऊँचे हैं या 'वनमानुष' ? साथ ही भारतीय स्त्री के हृदय की थाह लगाने की कोशिश करने लगा, तो मालूम हुआ कि वह अगम और अथाह है।

सभ्यता की कसौटी उसकी मानवता को तौलने में असमर्थ है

इनका स्नेह और इनका प्रेम किसी जात-पाँत का विचार नहीं रखता। संसार की कोई भी वस्तु नारी-धर्म के रास्ते का रोड़ा नहीं हो सकती। यह है गन्दे कपड़े चीथड़े से लिपटी हुई हमारे भारत की ग्रामवासिनी !

दूसरे दिन सबेरे उठकर उस बहन के प्रति महान् कृतज्ञता प्रकट करके और उसके बच्चों को प्यार करके मैं अपना वापस चला आया। चलते समय मैं उन्हें कुछ पैसा देना चाहता था किन्तु उसने ऐसा जोरदार विरोध किया कि फिर कुछ कहने का मेरा साहस नहीं हुआ। आते समय केवल इतना ही कह सका कि "बहिनी आज का दिन हम नाहीं भूलब।" उसने सिर नीचा करके जवाब दिया—'अइसन भाग हमार कब होइ सकत है।' पन्द्रह साल बाद १९१८ में जब मैं हँसवर गया था तो मैंने उस बहन का पता लगाने का पूरा प्रयत्न किया किन्तु शोक है कि उस बहन का कुछ भी पता न लग सका। उस दिन की घटना मुझे जीवन-पर्यन्त नहीं भूलेगी।

● ● ●

कौन सभ्य ? कौन असभ्य ?

६

२२-७-'४१

एक माह के करीब हो गया। मैं इधर कुछ लिख नहीं सका। उस रोज मैंने वनमानुष के घर में रात बिताने की कहानी बतायी थी। बात तो छोटी थी, लेकिन वह मेरे लिए बड़े महत्त्व की थी। अगर संस्कृति को ही कसौटी मान लिया जाय तो हमारे देहात के नीच-से-नीच वनमानुष भी शहर के लाखों करोड़ों सुशिक्षित धनों से अधिक सुसंस्कृत हैं, ऐसी धारणा मुझमें दिन-प्रतिदिन दृढ़ होती गयी, और साथ ही शहर की चुरी-कॉट्य, चमकवाली, ऊपर से पॉलिश की हुई सभ्यता के प्रति घृणा पैदा होती गयी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि बेवकूफ, गन्दे असभ्य और दीन ग्रामवासी शहर के तथाकथित उच्च श्रेणी के लोगों से कहीं अधिक ऊँचे हैं। मेरे मन में यह धारणा तो आजकल के गिरे हुए देहात को देखकर हुई, पता नहीं कि जिस दिन गाँव सभ्यता के उच्च शिखर पर थे उस दिन वे लोग किस प्रकार के रहे होंगे।

इन पहाड़ियों के ये अधिक संस्कृत हैं

सबेरे वनमानुष के घर से निकलकर रास्ता की ओर चला तो मन में तरह-तरह के विचार आने लगे। मैं सोचने लगा कि ये वनमानुष कौन हैं, कहाँ से आये कैसे बस गये ? गाँव से बाहर जंगल में एक ही घर का होना भी आश्चर्य की बात थी। आखिर इनके पूर्वपुरुष भी कोई होंगे ही ! उस बुड्ढे की रिश्तेदारीवाले सब कहाँ गये ? उसका घर देखने से मालूम होता था कि उसने अस्थायी झोपड़ी बनायी है लेकिन उसकी बातचीत से मालूम होता था कि वे कई साल से यहीं पर बसे हुए हैं। यदि स्थायी रूप से ही यहाँ रहना था तो टिकाऊ घर क्यों नहीं बना लिया ?

ऐसे सैकड़ों प्रश्न दिमाग में उठने लगे। किन्तु मैं इन प्रश्नों को पूछता किससे ? रास्ते में था ही कौन ! रात के समय जब उस वनमानुष

हैं। इनके पास अपनी कोई खेती-बारी नहीं होती। इसी उच्छिष्ट भोजन से इनकी गुजर-बसर होती है अर्थात् ये लोग सामाजिक और आर्थिक, दोनों दृष्टियों से गाँव की मजदूर श्रेणी के लोगों से भी गिरे होते हैं। शाम को जब लौटकर डॉक आया तो वहाँ के लोगों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि ये लोग प्राचीन अनार्य जाति के एक अंग हैं, जो यहाँ पड़े रह गये हैं। अवध जैसे प्राचीन सभ्यता के केन्द्र पर भी वनमानुष आज 'वनमानुष' के ही रूप में छिपे हुए हैं। संसार में यह भी एक बड़े आश्चर्य की बात है।

● ● ●

लेप से वह रोग अच्छा हो गया। इसी प्रकार एक मनुष्य का 'कारबंकल' रोग भी एक वनमानुष ने अच्छा कर दिया था। वह एक प्रकार की लता पीसकर उसकी पुलटिस बाँधता था। ये दोनों घटनाएँ मेरे सामने की हैं। इन लोगों को भूत-प्रेत का कोई भी भय नहीं है। ये अपने बच्चों का विवाह बहुत छोटी आयु में ही कर देते हैं। विवाह में किसी प्रकार की धूमधाम नहीं होती। इन लोगों में भी एक पुरोहित होता है। वे ही पुरोहित लोग दो-चार कुटुम्बियों की उपस्थिति में विवाह करा देते हैं। वधू-पक्ष के लोग वधू को ही वर के घर ले जाकर विवाह कराते हैं।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि इनकी स्त्रियाँ गाँव की उच्च जाति के घरों में काम करने नहीं जातीं इसलिए इनका नैतिक चरित्र ऊँचा होता है। देहात में यह प्रायः देखा जाता है कि निम्न श्रेणियों की स्त्रियों का नैतिक चरित्र प्रायः ऊँचा होता है। चरित्रहीनता केवल उच्च श्रेणी के लोगों में ही होती है। वनमानुषों का उच्च श्रेणी के लोगों से सम्पर्क ही नहीं होता तो फिर उनमें चरित्रहीनता की बातें हो ही कैसे सकती हैं! इनमें एक जातीय पंचायत होती है, जो इनके हर प्रकार के झगड़ों का निबटारा करती है। ये अपना झगड़ा तय करने के लिए दूसरे के पास नहीं जाते। इनकी आबादी बहुत कम है। कहीं-कहीं पाँच दस गाँवों के बीच दो-एक घर दिखाई देते हैं। लेकिन जब कभी इनकी जातीय पंचायत होती है तो बहुत दूर-दूर के लोग वहाँ पहुँच जाते हैं। मेरा अनुभव है कि ये लोग बहुत सुस्त और काहिल होते हैं। मैंने इन्हें देखकर देखकर इनमें चरखा-प्रचार की कोशिश की, किन्तु इसके लिए ये तैयार नहीं हुए। इनका कहना था कि वे काफी सुख से हैं उन्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। अधिक पैसा कमाने से क्या लाभ? मैंने इन्हें विचित्र सन्तोषी पाया। वनमानुष बापू के अपरिग्रही का नमूना मालूम होता है। हाँ यह अपरिग्रह देहातों में ही है। मुझे आज तक किसी भी जाति में चरखा न कातने के लिए ऐसा सीधा और स्पष्ट उत्तर नहीं दिया था। सभी लोग चरखा न कातने के लिए कुछ बहाना बनाते हैं, किन्तु इन

व्यक्ति में चरखा चलाने के सम्बन्ध में सफलता न पाने पर भी इनका सीधा सच्चा व्यवहार मुझे बहुत पसन्द आया।

कुर्मियों में चरखे का खूब प्रचार हो चुका था और उनके साथ मेरी काफी घनिष्ठता भी हो गयी थी। इसी सिलसिले में मैं गाँव के चमारों के बीच भी कुछ काम करने लगा था। इस जाति के लोग साधारणतः ब्राह्मणों और क्षत्रियों के यहाँ मजदूरी करते हैं। कुर्मी जाति के बड़े किसान भी इनसे मजदूरी का काम लेते हैं। अवध के देहात में सबसे बड़ी आबादीवाली जाति यही है जो अछूत श्रेणी में गिनी जाती है। मैंने विचार किया कि इस जाति में भी चरखे का प्रचार करूँ क्योंकि समाज में इनके समान दबी हुई जाति दूसरी नहीं है। अवध ताल्लुकेदारी का प्रान्त है। इन ताल्लुकदारों

चमारों की बद स्थिति

का सारा भार इन्हीं गरीबों को उठाना पड़ता है। इनका आधे से अधिक समय बेगारी में जाता है। ताल्लुकदारों के यहाँ कोई भी काम होता है, तो इन्हींको पकड़कर बेगार ली जाती है। सरकारी अफसरों का दौरा भी इन लोगों के लिए एक बहुत बड़ी आफ़त है, क्योंकि उनका, उनके सिपाहियों का तथा उनके नौकरचाकरों का सारा काम इन्हें बेगारी में ही करना पड़ता है। बेगारी करते-करते इन लोगों के स्वभाव में एक विचित्र प्रकार की काहिली, सुस्ती और लापरवाही आ गयी है। इनका जीवन में किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गयी है। मैंने चमारों को ताल्लुकेदारों की जमीन पट्टे पर लेकर स्वतंत्र रूप से खेती करते हुए नहीं देखा। फैजाबाद जिले में इतने दिनों तक काम करता रहा किन्तु इस अवधि में मुझे फैजाबाद से ११ मील दूर कुतुबपुर नाम का केवल एक ही गाँव ऐसा मिला, जहाँ के चमार ताल्लुकेदारों के सीधे काश्तकार हैं और दूसरे की मजदूरी नहीं करते। इतने दिनों तक दब रहने के कारण इनमें अपने जीवन के प्रति किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं रह गयी है। ऐसी परिस्थिति में वे कारबारी कैसे बन सकते हैं? फिर भला चरखा चलाने की बात ही क्या है? इसके अतिरिक्त इन लोगों में जुटकर काम करना भी एक निकट

समस्या है। गरीबी, दुष्काल और अत्याचार की मार खाते-खाते ये इतने बेहोश हो गये हैं कि इन पर किसी बात का असर नहीं होता। कोई चमार अपने दरवाजे पर बैठा हुआ तमाकू पी रहा हो और कोई उसके दरवाजे पर जाकर खड़ा हो जाय, तो जब तक वह उसे पुकारकर कुछ कहे नहीं या उसके किसी सामान पर हाथ न लगाये, तब तक वह वैसे ही तमाकू पीता रहेगा, मानो उसके दरवाजे पर कोई आया ही नहीं है। पूछने पर भी वह वैसे ही तमाकू पीते हुए दो-एक शब्दों में उत्तर देकर चुप हो जायगा।

ऐसी पिछड़ी हुई जाति के बीच जाकर लोगों से बातचीत करना, परिचय प्राप्त करना तथा उनमें किसी प्रकार के आयोजन की चर्चा चलाना बड़ा कठिन काम है। मैंने अनुभव किया कि इन लोगों से चरखा चलवाने की अपेक्षा पत्थर फूटकर उसमें से रस निकालना कहीं अधिक आसान है। ये तो किसीसे बात ही नहीं करना चाहते। मैं सोचता था कि यदि इनमें चरखे का प्रचार हो जाय, तो कुछ अर्थों में इनकी बेकारी भी दूर हो जाय और एक स्वतन्त्र उद्योग का सहारा मिल जाने से इनमें उच्च श्रेणियों के दमन और अत्याचार का विरोध करने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाय। किन्तु एक तो यह समस्त जाति ही बेहोशी का शिकार हो गयी है, दूसरे उच्च श्रेणी के लोग सदा इस प्रयत्न में रहते हैं कि ये किसी स्वतन्त्र व्यवसाय में न लग सकें।

मुझे इन बातों का अनुभव कैसे हुआ इसकी कहानी आगले पत्र में बताऊँगा। मैं धीरे धीरे चरखा चलवाने के लिए इनसे परिचय प्राप्त करने की कोशिश करने लगा। किसी प्रकार की विशेष सफलता न मिलने पर भी हिम्मत नहीं हारता था और किसी-न-किसी बहाने इनके बीच जाकर बैठ जाता था और इनसे बातें करने लगता था। ● ● ●

चमारों की हालत

११

२६-७-'४१

मैं यह तो लिख ही चुका हूँ कि चमारों के बीच काम करना बड़ा कठिन है। इन चमारों की परिस्थिति को देखते हुए मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि इनमें चरखा चलाना नितान्त आवश्यक है। मैं यूरोप और अमेरिका की प्राचीन दास-प्रथा के विषय में पढ़ता था और उससे बहुत घबराता था। किन्तु यहाँ तो विचित्र दशा है। यद्यपि अवध के मजदूर कानूनन किसी भी प्रकार अपने मालिक के दास नहीं होते फिर भी उनकी विवशता ने उन्हें उन दासों से भी गयी-बीती अवस्था में डाल दिया है। उन दासों के पास यदि कोई स्वतन्त्र साधन नहीं था तो उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व भी नहीं था। उनके अस्तित्व का उत्तरदायित्व उनके मालिकों पर होता था। किन्तु इन चमारों का स्वतन्त्र अस्तित्व तो होता है तथा अपने परिवार की जिम्मेवारी भी होती है, किन्तु इनके पास इस जिम्मेवारी को निभाने का कोई साधन नहीं होता। मालिक अपनी

परवशतापेक्षी जीवन

आवश्यकता पर इन्हें कोई काम देता है, अवश्य न हुए, तो नहीं देता। ऐसे समय वे क्या खायें, इसकी जिम्मेवारी मालिक पर नहीं है। अवश्य पर काम करते समय भी इन चमारों को इसका कोई भी भरोसा नहीं रहता कि काम पूरा हो जाने के बाद उन्हें पूरी मजदूरी मिलेगी।

रामपुर गाँव की ओर का एक चमार स्वयंसेवक का काम करता था और वह कभी-कभी आकर मेरे पास बैठता था। वह मुझसे गांधीजी तथा कांग्रेस के विषय में प्रायः पूछा करता था। मैं भी चमारों से अधिक घनिष्ठता प्राप्त करने के लोभ में कभी-कभी इसके घर दिखा करता था। उसके और उसकी पड़ोसियों के साथ संध्या समय बातचीत करते हुए मुझे यह मालूम हुआ कि जब जमींदारों का आपसी बँटवारा होता है, तो

उनकी सम्पत्ति व जानवरों के साथ-ही-साथ चमारों का भी बँटवारा हो जाता है। इस बँटवारे में कौन किधर रहेगा, इस विषय में चमारों को सम्मति देने का कोई भी अधिकार नहीं है। जिसकी राय से सब सम्पत्ति बँटती है, उसीकी राय से सब चमार भी बँट जाते हैं। प्राचीन काल में गुलाम भी तो इसी प्रकार बाँटे जाते थे। ये लोग यह सारा अत्याचार चुपचाप इसलिए सहन कर लेते हैं कि जमींदारों के अतिरिक्त जीवित रहन का इनके पास कोई भी दूसरा स्वतन्त्र साधन नहीं है। इसीलिए मेरी यह धारणा थी कि चरखा चलाने की सबसे अधिक उपयोगिता इसी जाति के लिए है।

गुलामों की भाँति बँटवारा

उन दिनों मैं देहात में घूमा करता था। दो-दो तीन-तीन दिन तक देहात में टिकने का मौका आता था, तो यथासम्भव मैं चमारों के यहाँ ही टिकने की कोशिश करता था क्योंकि मैं समझता था कि काफी परिचित हो जाने पर ही इन्हें चरखे की तरफ लाने में सफल हो सकूँगा।

चमारों की बस्ती आमतौर से गाँव के दक्खिन मुख्य बस्ती से थोड़ी दूर हटकर होती है। इन्हें इतनी कम जमीन में इतनी अधिक संख्या में बसने को बाध्य किया जाता है कि इन्हें बहुत छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ बनाकर एकदम सट-सटकर रहना पड़ता है। ये लोग अपने लिए ठीक ढंग से आँगन नहीं छोड़ सकते। फल यह होता है कि इनका सारा काम अत्यन्त छोटी जगह में होता है, जहाँ गन्दगी और पानी आदि के निकलने का कोई रास्ता नहीं होता। इनका टोला बहुत गन्दा और बदबूदार रहता है। इस गन्दगी के लिए लोग मजबूर हैं, क्योंकि इन्हें साफ रहने के लिए समाज ने कोई साधन ही नहीं छोड़ा है। इधर जब से गांधीजी ने हरिजन-आन्दोलन चलाया, तब से शहर के पढ़े-लिखे देशभक्त बाबू लोगों में कभी-कभी देहात के हरिजन टोलों की सफाई करने का फैशन चल पड़ा है। वे झाड़ू लेकर गाँव में जाते हैं और उनकी गलियों को साफ करते हुए गम्भीरता के साथ उन्हें

गंदगी का कारण

साफ रहने का उपदेश दिया करते हैं, और कभी-कभी सफाई करती हुई इवरस्य का स्टेटो खिचवाकर ले जाते हैं, कभी-कभी पर्चों में भी अपना वक्तव्य दे दिया करते हैं। मैं जब समाचार-पत्रों में इस प्रकार के कार्यक्रम के विषय में पढ़ता हूँ या कभी मित्रों को ऐसे कार्यक्रम में जुटे देखता हूँ तो हँसी आती है। भला हरिजनों की गलियों का साफ करने से क्या लगाव हो सकता है ! पानी को निकास का मार्ग न मिलने के कारण उनके घरों में तथा आँगन में न जाने कब की सील पड़ती रहती है। गलियाँ तो उनसे कुछ साफ ही रहती हैं। कम-से-कम बरसात का पानी तो उनसे बह ही जाता है। इसके अतिरिक्त उन्हें अन्य मौसमों में धूप भी मिल जाती है। वर्षों तक एक ही तकिया और एक ही कथरी इस्तेमाल करते-करते उनमें कितना पसीना, बच्चों का पेशाब तेल और मैल जमा हुआ है, इसकी खबर इन सुधारक भाइयों को नहीं रहती।

यदि हम वास्तव में हरिजनों के बीच काम करना चाहते हैं, तो हमें किसी-न-किसी तरह उनकी आर्थिक दासता का ढीला करना है तथा उनकी बेहोश प्रकृति में चैतन्य का प्रचार करना है। नहीं तो चाहे कितना भी सफाई करने का एवं कुएँ बनवाने का तथा उनके बच्चों को वजीफा देकर उन्हें शिक्षित बनाने का कार्य किया जाय वे जीवन-यापन के मानवीय साधनों के अभाव में ज्यों-के-त्यों रह जायँगे। उनके दरवाजे और गलियाँ साफ की जायें, तो वे अपने चिर-अभ्यस्त बच्चों से टट्टी करा देंगे। यदि कुआँ बनवा दिया जाय तो वे उसके बनने के साल भर के भीतर ही उसकी दीवार और जगत की सारी ईंटें उखाड़कर घरों में चूल्हे आदि बना लेंगे और जिन बच्चों को वजीफा देकर पढ़ाया जायगा, वे अपने माता-पिता एवं कुटुम्बियों को घृणा की दृष्टि से देखने लगेंगे तथा अपनी और अपने परिवारवालों की जिन्दगी भारस्वरूप बना देंगे। चमारों के घरों में रहने का मुझे जितना अवसर मिला है, उससे मैंने अनुभव किया है कि वे भी गन्दगी को घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा अपनी साधनहीन दशा में जहाँ तक सम्भव

मूल समस्या

होता है, वे अपने को तथा अपने घर-द्वार को साफ रखने का प्रयत्न करते हैं। उनके बर्तनों को तो प्रायः मैंने ब्राह्मण और क्षत्रियों के बर्तनों से भी अधिक साफ देखा है। वे कामिल तो होते हैं किन्तु काहिली भी तो जीवन से निराशा के कारण ही उत्पन्न होती है।

मैं उनके घरों में जाता था उनके बच्चों से खेलता था स्त्री-पुरुषों से बातें करता था, किन्तु अपार प्रयत्न करने पर भी मैं उनके बद दिमाग पर कुछ भी प्रभाव न डाल सका। प्रस्तुत उन्हें यह अनुभव किया कि वे मुझसे कुछ घबराते-से थे। वे मुझे खाना प्रायः पत्तल में खिलाया करते थे। पहले तो मैं यह समझता था कि बरतन के अभाव में वे ऐसा करते हैं, किन्तु धीरे धीरे यह मालूम हो गया कि वे जान-बूझकर मुझे अपना बरतन नहीं देते क्योंकि बरतन देने से उनको जाति जाने का भय था। वे मानते हैं कि ऊँची जाति के किसी आदमी को कोई चमार अपने घर खाना खिला दे, तो उस खिलानेवाले के उद्धार का संसार में कोई नहीं हो सकता है। मैं समझने लगा कि इनसे तो वनमानुष ही अच्छे हैं।

कुर्मियों की स्त्रियाँ हमारे काम में खास दिलचस्पी रखती थीं। वे मुझे अपने गाँवों में बुला ले जाती थीं। मेरे वहाँ पहुँच जाने पर सब एकत्र होकर पूछती थीं कि गांधी बाबा कहाँ है, वे क्या करते हैं, क्या खाते हैं, किस तरह रहते हैं, इत्यादि। कांग्रेस के विषय में, राम रामचन्द्र के विषय में हाकिम-अमला-वकील आदि के विषय में वे प्रश्न किया करती थीं। किन्तु चमारों की स्त्रियों में किसी प्रकार की चैतन्यता देखने में नहीं आती थी। पुरुष लोग तो कुछ विषयों पर बातचीत कर लेते थे। मैं जब उनके घर टिकता था तो खाना भी लाकर खिलाते थे। उनकी स्त्रियों से मैं बातचीत तो अवश्य कर लेता था किन्तु उस बात चीत में कोई जीवन न होता था। बहुत दफा ऐसा लगता था मानो उन्हें पता ही नहीं था कि मैं उनके घर पर टिका हुआ हूँ। मैं परेशान था कि जब तक मैं स्त्रियों से भलीभाँति परिचय नहीं कर लूँगा तब तक उनसे चरखा कैसे चलवाऊँगा। सोचते-सोचते मैंने एक तरीका निकाला

ही लिया। मैंने इनके बच्चों से घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी। पहले जब बच्चों को बुलाने की कोशिश करता था, तो वे सब-के-सब ऐसी तेजी से भागते, मानो कोई शेर उन्हें खाने दौड़ा हो, जो बच्चे पीछे छूट जाते थे वे चिल्लाकर रो पड़ते थे। किन्तु धीरे-धीरे बच्चों से मेरा परिचय बढ़ने लगा। मैं उन्हें कागज की नाव आदि बनाकर दे दिया करता था। कभी-कभी मिट्टी के फल और हाथी-घोड़े आदि बना दिया करता था।

बच्चों से परिचय

बच्चों के बहाने धीरे-धीरे स्त्रियों से भी मेरा परिचय होने लगा। अब वे पहले की तरह जड़ता का भाव नहीं रखती थीं। जब मैंने उनके बच्चों को अपने पक्ष में कर लिया, तो वे मुझसे खूब बातें करने लगीं। ऐसा इसलिए नहीं कि उन्हें मुझमें दिलचस्पी हो गयी थी, बल्कि इसलिए कि वे मेरे मुँह से अपने बच्चों की प्रशंसा सुनना पसन्द करती थीं। मेरे बैठने के लिए चारपाई आदि निकाल देने लगीं।

उस समय फसल कट चुकी थी। मैंने उनसे चरखे की बात करने का यही उपयुक्त अवसर समझा। किन्तु थोड़े ही दिनों के बाद यह अनुभव होने लगा कि जब तक इनके घरों में पावभर भी अनाज मौजूद है, तब तक ये किसी प्रकार का उद्योग करने के लिए तैयार नहीं हो सकते। देहातों में यह कहावत प्रचलित है कि चैत में चमार चौधराय होत हैं। इस समय वे किसीकी नहीं सुनते। यह जाति एक विचित्र प्रकार की मस्त जाति है।

चमारों की स्त्रियों से किसी गम्भीर विषय पर बातचीत करना सम्भव नहीं था इसलिए मुझे उनसे उनके बच्चों और खेती-गृहस्थी के ही सम्बन्ध में बातें करनी पड़ती थीं। इस सिलसिले में ये स्त्रियाँ प्रायः बहुत निम्न कोटि का अश्लील और भद्दा मजाक कर दिया करती थीं। कभी-कभी तो उनके बातचीत करने का ढङ्ग भी अत्यन्त भद्दा हुआ करता था। उनमें से कोई एक स्त्री किसी प्रकार की अश्लील बात कह देती थी और शेष सब-

स्त्रियों का फूहड़ मजाक

की-सब एक अत्यन्त भद्दे तरीके से देख पड़ती थीं। एक तो मुझे इनमें चरखे का प्रचार होना असम्भव प्रतीत होता था, दूसरे उनके इस प्रकार के व्यवहार से निराश होकर मैंने इनके बीच जाना ही छोड़ दिया।

चमारों में भी कुछ लोग ऐसे थे, जो पहले कांग्रेस के स्वयंसेवक रह चुके थे। वे लोग प्रायः मेरे पास आया करते थे। उनसे भी अक्सर मैं इस प्रकार की चर्चा किया करता था। वे उत्तर देते थे—"बाबा, उनकी बात तोहरे समझ में नाहीं आवत होइहै। वे पूहर मनई होयें। अंट शंट कहि दिहे होइहैं। मुला उनके मन माँ कौनो किसम के गन्दगी नाहीं बा। लेकिन मुझे इनकी बातों से तसल्ली नहीं होती थी। मैं देहात के कुर्मियों के घर भी जाता था, उनकी स्त्रियाँ माता व बहन के समान प्रेम का व्यवहार करती थीं। कभी-कभी एकाध बुढ़िया थोड़ा-बहुत मजाक जरूर कर देती थी, लेकिन अन्य स्त्रियाँ उसे तुरन्त सँभाल लेती थीं। इसलिए चमारों की स्त्रियों का ऐसा व्यवहार मुझे स्वाभाविक नहीं लगा।

यह बात मेरे दिमाग में रह-रहकर आती थी। आखिर, एक दिन एक बूढ़े चमार से बातचीत करने में मुझे इस बात की जड़ का पता लग गया। मैं दा का बाजार समाप्त करके मैं बोरों में सूत भर रहा था। इतने में वही रामपुर गाँववाला चमार आकर बैठ गया। वह हाथ में एक हरे कुम्हड़े का टुकड़ा लिये था। उसके साथ एक बुड्ढा भी था जिसे मैं जानता नहीं था। वह भी कुछ सौदा लिये हुए था। मालूम होता था कि वे लोग बाजार करके लौट रहे थे। मैं उस चमार से कहने लगा कि तुम्हारी बिरादरी कभी नहीं उठेगी। तुम्हारी जाति के अन्दर सुस्ती गन्दगी काहिली और चरित्रहीनता फैल गयी है। ठीक ही है कि तुम्हें दण्ड देने के लिए, तुमसे बेगार कराने के लिए परमात्मा ने इन जमींदारों को पैदा किया है। उस चमार ने कहा—"बाबू, हमरे तरह चमार होई और उनहू मनई होई; काहे से बड़ भागे। बाबू, तुहूँ कौन कुछ आवा जावा करत रहा तौन बाति शायद तौ देखाइन नाहीं परत हो। देर दिन होइगा, दरशन नाहीं भा। आज बाजार आय रहेन, सोचेन

मसखरई ही पाप के बीज बोते हैं

कि दरशन कर लेइ। तौन मजदूर ही फटकार परे लागि। काम करी, कुछ समझ माँ नाहीं आवत। देख दुनिया सबै हमार सबका फटकारे लागा है। तौन गांधी बाबाके सहारा रहा, वहूँ फटकार ही सुनाय परत है।"

मैं बहुत देर तक उनसे बात करता रहा और उनकी स्त्रियों के अश्लील व्यवहारों की आलोचना करने लगा। इस पर वह बोला कि आप उन बातों का ख्याल न करें। उनकी आदत ही ऐसी है। मैंने पूछा—"आखिर ऐसी आदत क्यों है? मैं कुर्मियों के घर भी जाता हूँ उनकी स्त्रियों की तो ऐसी आदत नहीं है।" कुर्मियों की बात सुनते ही लाठीवाला बूढ़ा नाराज होकर कहने लगा—"हमरों का कहत होआ? का कुर्मी कौनो बाबू के मजूर हैं, वे तो आजाद हैं, जौन चाहैं तौन करैं। हमरे घर के मेहरारू के आदत तो बाबू लोगन ही बिगारिन हैं, नाहीं तो हमरे सब मजूर मनई दिन में मेहनत करके घर आइके मुरदा अस परि जात हइ हमरे सबके ऐसन शौक करै का खियाल कहाँ। तोहरे ठकुरे सब हमरे सबकी मेहररुन का लपट करत हैं, उनके आदत बिगाड़त हैं, उनके साथ हँसी-मजाक करत हैं और हमरे सबके करम नाश करत हैं। हमरे सब ठकुर-ठकुर ताकित है और कुछ कहि नाहीं पाईत हैं। भला ठकुरन से लड़िके केऊ रहि सका है।' जोश में आकर वह बूढ़ा बहुत-सी बातें कर गया। फिर तो मुझे प्रत्येक बात का तथ्य मालूम हो गया। देहात के मध्यम श्रेणी के जमींदार इन मजदूरों की स्त्रियों के साथ अश्लील मजाक किया करते हैं। वे धीरे-धीरे उन्हें फुसलाकर भ्रष्ट करते हैं। इसका नतीजा है कि मजदूरों की लड़कियाँ बचपन से ही मजाक करना सीख जाती हैं। ये लोग इन बातों को देखकर भी अनदेखी कर जाते हैं, क्योंकि अपने ठाकुरों के साथ झगड़ा करके वे किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकते। ● ● ●

गाँव के बच्चे

१२.

१-७-'४१

मैंने तुम्हें लिखा था कि चमारों की स्त्रियों से परिचय करने के लिए मैंने पहले बच्चों से परिचय करना शुरू किया। मैं जब उन्हें किसी पेड़ के नीचे खेलते देखता या जंगल में गाय भैंस चराते देखता, तो किसी-न किसी बहाने उनसे बातचीत करने की कोशिश करने लगता था। इन लड़कों में कुर्मी और चमार जाति के लड़के अधिक होते थे।

देवी की पूजा

एक दिन कुछ बच्चों को एक गड़ही के पास इकट्ठे देखा। उस गड़ही में बहुत-सी काई जमी हुई थी। बच्चे काई को निकाल-निकाल कर एक जगह इकट्ठा कर रहे थे और उसमें से एक-एक दाना निकालकर एक बच्चे के सिर और सारे शरीर में नाना प्रकार से साटते थे। मैं एक पेड़ के नीचे बैठकर दूर से ही उन लोगों का खेल देखने लगा। थोड़ी देर के बाद सब लड़कों ने ताली पीटते और हल्ला करते हुए उस लड़के को एक पेड़ के नीचे ले जाकर बैठाया। तब उन्होंने एक गड्ढा खोदकर उसमें पानी भरा। पानी भरने के बाद सब लड़के उसे प्रणाम करने लगे और उसी गड्ढे से पानी निकाल-निकालकर उसे नहलाने लगे। ऐसा करके वे सब ताली बजा-बजाकर खूब हँसने लगे। जिस लड़के को विचित्र करके बैठाया गया था वह इतना गम्भीर बन बैठा था, मानो उसके सामने कुछ बातें हो ही नहीं रही हैं। सारा दृश्य देखने में एक छोटा-मोटा-सा नाटक प्रतीत हो रहा था। मैं विचार कर रहा था कि बच्चे नाटक की यह कला मानो अपनी माँ के पेट से ही लेकर आये हैं। आखिर इन्हें किसीने सिखाया तो है ही नहीं, फिर यह समझ आती कहाँ से? निःसन्देह उनकी यह कला भी भारत के प्राचीन कलापूर्ण समाज के संस्कारों का भग्नावशेष है। मैं धीरे-धीरे उन बच्चों के पास पहुँचा। वे मुझे देखकर

हँसने लगे। वे मुझे पहले ही से पहचानते थे, क्योंकि मैं इस गाँव में कई बार आ चुका था। मैंने उनसे पूछा कि यह कौन-सा खेल हो रहा है? उन्होंने जवाब दिया, 'खेल नाहीं होय, देवीजी के पूजा होत बा। हमरे सब देवी बनाये हैं।'

एक दिन एक गाँव के पास कुछ लड़के जंगल में गाय-भैंस चरा रहे थे। मैंने देखा कि वे आसपास के पेड़ों की छोटी-छोटी डालियाँ तोड़

बच्चों के खेल

तोड़कर उन्हें गाड़-गाड़कर कुछ दूर तक एक बगीचा बना रहे थे और छोटी-छोटी कंकड़ियाँ चुनकर बगीचे के बीच-बीच में सड़क का निशान भी बना रहे थे।

इस प्रकार के खेलों के सिलसिले में बच्चों के अन्दर घुसने का मौका लग गया। ऐसी बातों से मुझे हमेशा दिलचस्पी रही। मैं उनके खेल में

आविष्कार की शक्ति

घुसकर उन्हें तरह-तरह की चीजें बनाना सिखाता था। मिट्टी के फल और बर्तन आदि बनाने की क्रिया बताता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य होता था कि मैं एक वस्तु बनाता था तो वे अपनी ओर से एक-दो वस्तुएँ और बना डालते थे। कहीं-कहीं मैं जंगल से लकड़ी और घास इकट्ठा करवाता था और उनसे घर बनवाता था। घर के सामने बगीचा भी लगवाता था; कहीं छोटे-छोटे कुएँ भी खुदवा दिया करता था। बच्चों की आविष्कार शक्ति का एक उदाहरण सुनकर तुम्हें आश्चर्य होगा। एक बार जब मैंने बच्चों से मकान, बगीचा और खेत आदि बनवाकर कुएँ के लिए जमीन पर एक छोटा-सा गड्ढा खुदवाया तो उसी समय एक लड़की उठकर तेजी से एक ओर को भागी और थोड़ी ही देर के बाद एक धतूरे का फल लायी और कहने लगी— 'बाबा यह माँ से ढेंढ़ बनी ढेंढ़।' (उधर के देहात में कुएँ से ढेकुल द्वारा पानी निकालने के लिए जो बर्तन प्रयोग में आता है उसे 'कूँड़' कहते हैं।) ढेंढ़ की आकृति भी धतूर के ही समान होती है। मुझे उसकी बात से बहुत हँसी आयी और मैं दूसरे बच्चों से पूछने लगा कि इससे ढेंढ़ किस प्रकार बनायी जायगी? सभी बच्चे सोचने लगे

तथा विविध प्रकार के उपाय काम में लाने लगे। यह लड़की बैठी-बैठी सारी क्रिया देखती और मुस्कराती थी, किन्तु जब उससे नहीं रहा गया, तो बोल उठी—"भीतरा के गुरवा निकसल नाहीं देखा, ढूँढ़ भरा तो होइ ना जाई।" कितने आश्चर्य की बात है कि मैंने सब कुछ ध्यान उन्हें बताया, किन्तु कुएँ के लिए ढूँढ़ चाहिए और वह ढूँढ़ भी उसी जंगल से मिल सकती है, यह कल्पना मुझे भी न सूझी।

मैं अपने झोले में अखबार या दूसरे कागज रखा करता था और उनसे बच्चों को नाव आदि खिलौने बनाकर दे दिया करता था। किसी-किसी को नाव आदि बनाना बता भी दिया करता था। इस प्रकार उनके खेलों में शामिल होने से तथा उन्हें खेल के तरह-तरह के साधन बताने के कारण मैं उनमें बहुत हिल-मिल गया था। बचपन से ही मुझे बच्चों के साथ खेलना बहुत पसन्द आता है। बच्चे मुझसे बहुत जल्दी हिल जाते हैं। अब भी जब सेवाग्राम जाता हूँ, तो मीतू ही मेरा आधा समय ले लेती है और जब उसे कहानी सुनाते समय किसी दूसरे से बात करता हूँ, तो वह ऐसी नाराज होती है, मानो मैं उसीका साथी बना हूँ।

कुछ दिनों में ऐसा हो गया कि जब किसी गाँव में जाता था, तो सब बच्चे इकट्ठे हो जाते थे। खेलने के सिलसिले में जो वस्तुएँ बनाकर उन्हें देता था, उन पर वे तरह-तरह के प्रश्न करते थे।

बच्चों के प्रश्न

पैसे—"कागज की नाव पानी पर तैरती क्यों है? कुछ देर में डूब क्यों जाती है? मकान, छप्पर आदि सब झुकते जाते हैं, तब वे काम क्यों करते हैं? हाथी के दाँत क्यों होती है?" वे मेरे आने की प्रतीक्षा में इरादा किया देते थे और इसी अवधि में पचासों प्रकार की चीजें इकट्ठी करके रखते थे। घोंघे का शंख, टूटी हुई चूड़ियों और टूटे हुए पड़े आदि जो भी चीजें उन्हें मिल जाती थीं, इकट्ठी करके इस आशा में रखते थे कि इस बार जब भाषा आयेंगे, तो नया खेल बतायेंगे। बच्चों से घुलने-मिलने में मुझे एक विशेष बात का अनुभव हुआ कि देहात के किसान और मजदूरों के बच्चे काफी तेज होते हैं और उनमें

नवीन आविष्कार की अच्छी शक्ति होती है। किन्तु ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वे बुद्ध होते जाते हैं। इसका कारण क्या है? यही कि बचपन में वे संसार को देखते हैं, तो उसके जानने के लिए अनेक प्रकार के प्रश्न करते हैं और उनकी प्रकृतिदत्त विधायक शक्ति उनसे तरह-तरह की वस्तुओं का निर्माण कराती है। किन्तु दुःख का विषय है कि देहात में उनके प्रश्नों का जवाब देनेवाला कोई होता नहीं। इस प्रकार बौद्धिक विकास में लगातार रुकावट पड़ने के कारण उनके मस्तिष्क संकुचित हो जाते हैं। इसलिए अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ उसी अनुपात में बुद्धि का विकास न होने के कारण वे अधिक बोदे लगते हैं। उनकी बुद्धिहीनता का एक दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती है, त्यों-त्यों वे अपने को असहाय परिस्थिति में जकड़ा हुआ पाते हैं।

देहात में कहीं-कहीं पर ही बच्चों के लिए स्कूल दिखाई देते हैं। किन्तु उनमें पढ़ाई की जिस पद्धति से काम लिया जाता है, उसमें बच्चों के स्वाभाविक प्रश्नों का उत्तर न देकर तथा उनकी प्राकृतिक निर्माण-शक्ति का विकास न करके, उनके मस्तिष्क में ऐसी बातें ठूँसी जाती हैं जिनमें न तो उन्हें अपने निकटस्थ वातावरण की झलक मिलती है और न उनसे उनका प्राकृतिक विकास ही होता है। आज जब मैं बापू की चलाई हुई बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में सोचता हूँ, तो उन दिनों की बात याद आती है और यह धारणा होती है कि शिक्षा का सबसे अच्छा और प्राकृतिक रूप यही है। बच्चों के सम्बन्ध में मुझे यह भी अनुभव हुआ कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की बुद्धि प्रखर होती है।

बुनियादी तालीम

हमारे गाँवों के बच्चे इतने होनहार हैं, किन्तु शोक की बात है कि हमारे पास उन्हें विकसित करने का साधन नहीं है। अशिक्षा और कुशिक्षा के कारण आगे चलकर वे एक विचित्र प्रकार के जीव बन जाते हैं। सबसे अधिक कुशिक्षा तो उन्हें अपने

पारिवारों की शिकार

ग्रामीण घरों में ही मिला करती है क्योंकि समाज के रवैये के ही अनुसार उन्हें शिक्षा मिल सकती है। बच्चों के माता-पिता ही उन्हें विशेष रूप से गालियाँ देने की शिक्षा देते हैं। माँ-बाप के कहने पर छोटे बच्चे जब गन्दी गालियाँ दोहराने लगते हैं, तो उपस्थित लोग आनन्द से विह्वल होकर हँस पड़ते हैं। बच्चा भी समझता है कि उसने बड़ी वीरता का काम किया है इसलिए वह भी प्रसन्न होता है। इसी तरह अनेकानेक गालियाँ सीखते हुए ग्रामीण बच्चे बड़े होते हैं। मैंने ग्रामीण बच्चों को यहाँ तक समझा है, मैं कह सकता हूँ कि उन्हें यदि कुछ ही दिनों तक श्रेष्ठ वातावरण में शिक्षा मिले, तो आगे चलकर वे गाँवों को सुचारु रूप में सगठित कर सकते हैं।

पूना में जब मैं बुनियादी तालीम के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में तुम्हारा भाषण सुन रहा था तो मुझे रह-रहकर यही बात याद आ रही थी। तुम लोग सेवाग्राम में बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा देती हो, मालूम नहीं कि सारे हिन्दुस्तान के बच्चों को उस प्रकार की शिक्षा कब प्राप्त हो सकेगी ! ● ● ●

गाँवों में पंचायत

१३

११-७-'५१

मैं एक दिन दोपहर के समय एक गाँव की ओर जा रहा था। रास्ते में कुछ लोगों को इकट्ठा होते देखा। मैं भी उस स्थान पर पहुँच गया। ज्ञात हुआ कि गाँव की पंचायत में किसी मामले का फैसला होनेवाला है। मैं वहीं खड़ा हो गया। एक आदमी ने मेरे लिए एक चारपाई लाकर डाल दी और मैं उस पर बैठ गया। पंचायत में कुछ पंच थे, सरपंच महोदय बीच में ध्यान लगाये हुए बैठे थे। प्रतिपक्षी सामने की ओर थे। गाँव के कुछ लोग दर्शक के रूप में भी मौजूद थे। एक किसान का खेत कट गया था यही पंचायत का विचारणीय विषय था। खेत काटनेवाले एक ठाकुर साहब थे। मैंने सुना कि यह मुकदमा लगभग एक मास से चल रहा था। पंचायत देखने में एक छोटी-मोटी अदालत

एक आदर्श-सी पंचायत

के ही रूप में दिखाई देती थी। दोनों पक्षों के गवाहों का बयान नियमानुसार लिखा जा रहा था। सरपंच महाशय बीच-बीच में सिर हिला दिया करते थे। कभी-कभी एक-आध सवाल भी कर दिया करते थे। उन्होंने अपनी मुखाकृति इतनी गम्भीर बना ली थी कि मानो हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस हों। गवाहों से कौन-कौन से प्रश्न पूछे जा रहे थे और वे उनका क्या क्या उत्तर दे रहे थे मुझे स्मरण नहीं है। पर इतना तो स्पष्ट ही था कि अधिकांश बयान बनाया हुआ था। पंच लोग भी इस तथ्य को समझ रहे थे। मुझे अनुभव हुआ कि वे लोग यह भी समझ रहे थे कि मुकदमे की वास्तविकता क्या है, क्योंकि वे ऐसे प्रश्न पूछ रहे थे, जो अपरिचित मनुष्य पूछ ही नहीं सकता था। गवाही के दौरान में कभी-कभी गवाहों और गाँव के एकाध व्यक्तियों में वादविवाद और झगड़ा भी हो जाता था, जिसे पंच लोग कोशिश करके रोकते जाते थे। शाम तक मुकदमा

समाप्त हुआ। पञ्च लोगों ने फैसला लिखा और सुना दिया। जिस किसान का खेत कट गया था वह अपना मामला साबित नहीं कर सका इसलिए मुकदमा खारिज कर दिया गया और उसे चेतावनी दी गयी कि भविष्य में ऐसा झूठा मुकदमा न दायर करे।

मेरा उस गाँव के लोगों से परिचय नहीं था, इसलिए मैंने पञ्चायत समाप्त होते ही वहाँ से चला जाना चाहा, पर सरपञ्च ने मुझे जलपान के लिए रोक लिया। पञ्चायत की मजाकी देखकर उसके प्रति मेरे मन में कोई विशेष दिलचस्पी न उत्पन्न हो सकी, क्योंकि वह ग्रामकक्ष की कचहरियों की भद्दी नकल मात्र थी। पञ्चों से मुझे ज्ञात हुआ कि वह एक सरकारी पञ्चायत है, जिसका निर्माण तहसीलदार के द्वारा होता है। गाँव के छोटे-छोटे झगड़े, जैसे खेत काटना, मेड़ बाँधना या खूँटा गाड़ना आदि इसमें विचारार्थ उपस्थित होते हैं और निपटारा पाते हैं।

कचहरियों का भद्दा अनुकरण

उस पञ्चायत को देखने के पश्चात् मैं सोचने लगा कि जब गाँवों में एक पञ्चायत मौजूद ही है, तो हम लोग क्यों दूसरी पञ्चायत स्थापित करने का प्रयत्न करें। इसके पहले जब मैं गाँवों में जाया करता था, तो किसानों से पंचायत कायम करने के लिए कहा करता था। किन्तु अब तक कहीं भी किसीने मुझे यह नहीं बताया था कि गाँवों में पंचायत पहले से ही मौजूद है। यह बात मेरी समझ में नहीं आयी कि देहात में इन पंचायतों के मौजूद रहते हुए भी देहात के किसान कभी इस बात की चर्चा मुझसे नहीं करते थे। मैं जब उनसे पंचायत कायम करने को कहता था, तो वे लोग उसे मंजूर कर लिया करते थे। दो-तीन गाँवों में मेरे कहने से लोगों ने पंचायत बना भी ली थी। मैं उन पंचायतों के द्वारा गाँव में चरखा चलवाने की कोशिश करता था। कालान्तर में ज्ञात हुआ कि जिन गाँवों में मेरी योजनानुसार पंचायतें बनी थीं, वे भी किसी-न किसी प्रकार की सरकारी पञ्चायत के अन्तर्गत थीं।

उस दिन वापस लौटकर मैंने वहाँ के कांग्रेस कार्यकर्ता श्री जानकी

ब्रह्मचारी से सरकारी पंचायतों के सम्बन्ध में पूछा। उन्होंने बताया कि पंचायत कानून तो पहले ही बन चुका था; किन्तु पहले सरकार ने गाँवों में इसे विशेष रूप से चलाया नहीं था। सन १९२१ के आन्दोलन-काल में कांग्रेस की ओर से गाँव-गाँव में पंचायतों का निर्माण होने लगा तो सरकार ने उक्त पंचायत कानून के अनुसार शीघ्रता से गाँव-गाँव में पंचायतें स्थापित कर दीं और उन्हें कुछ कानूनी अधिकार दिया। आन्दोलन के दबने के साथ-साथ कांग्रेस की पंचायतें समाप्त हो गयीं और सरकारी पंचायतें शेष रह गयीं। उसके बाद मैं जहाँ कहीं जाता था, वहाँ किसानों और चमारों से बातचीत कर यह जानना चाहता था कि इन पंचायतों के सम्बन्ध में इन लोगों के विचार क्या हैं। आसपास जहाँ कहीं भी पंचायत की बात सुनता, वहाँ अवश्य पहुँचने का प्रयत्न करता था और वहाँ जाकर उनकी कारवाई देखा करता था।

थोड़े ही दिनों में मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि हम पंचायत के जिस रूप की कल्पना करते हैं, वह रूप इन पंचायतों को कभी मिल नहीं सकता। हर गाँव में कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो पुलिस, थानेदार आदि से मिले रहते हैं और उन्हींकी सहायता से गाँव में अपनी धाक जमाये रखते हैं। सीधे-सादे किसानों को दबाकर रखना इनका काम होता है। इनके पास निजी जमींदारी होती है अथवा वे अन्य जमींदारों से मिले रहते हैं। इस प्रकार ये गाँव सर्वशक्तिमान् समझे जाते हैं। गाँव के लोग इनसे सदा डरते रहते हैं। यदि कोई इनके विरुद्ध जाने का प्रयत्न करता तो किसी-न-किसी बहाने से उसकी दुर्गति करके ही विश्राम लेते हैं। सरकार को जब कभी किसी गाँव में कोई बड़ा काम करवाना होता है, तो उस समय ये ही लोग उसके काम आते हैं। पंचायत कानून के अनुसार

सरकारी पंचायत

जब गाँवों में पंचायत स्थापित करने की बात चली, तो तहसीलदारों ने इसी श्रेणी के लोगों को पंच मुकर्रर किया। फल यह हुआ कि इन पंचायतों से गाँववालों को लाभ होने के बजाय नुकसान ही हुआ। जिन लोगों को पंच और सरपंच का

पद दिया गया वे पहले से ही गाँव के गरीब निवासियों को सताने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली थे कानूनी अधिकार पाकर वे अब और भी भयंकर बन गये। किसीको किसीसे लड़ाकर गरीब जनता को लूटना और सताना बिलकुल आसान हो गया।

पंचायतों का तरीका देखकर मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि इनके द्वारा जनता में मुकदमेबाजी बढ़ गयी है। लोग अधिक संख्या में कचहरी जाने लगे और इससे सरकारी इच्छा के अनुसार घर-घर में फूट पैदा हो गयी और कचहरी की आमदनी में वृद्धि होने लगी।

कालान्तर में मैंने गाँव के किसानों से पूछा कि जब तुम्हारे यहाँ पंचायत पहले से मौजूद है, तब इसकी चर्चा मुझसे क्यों नहीं करते थे? मैं इतने दिनों से यह काम कर रहा हूँ, तुम लोग पहले सूचित कर देते तो इतना परिश्रम न करके उन्हीं पंचायतों से काम लेने का प्रयत्न करता। इस पर उन्होंने कहा—"भला यह भी कोई पंचायत है। जहाँ जमींदार, थानेदार, चौकीदार और सिपाही, यह ही ये सरपंच और पंच। ये लोग हमें क्या लाभ पहुँचा सकते हैं? उलटे ये तो हम लोगों पर भीर अत्याचार करते हैं। आप तो गाँधीबाबावाली पंचायत चलाना चाहते हैं और चाहते हैं कि पंचायत गाँव-गाँव सरका चलायें। लेकिन यदि कहीं सरकारी पंचायत के चर्चा की चले तो आज जितने बरगे चल रहे हैं, उन्हें भी वे समाप्त करता है। उनकी हरी बगारी और घरसली बारि से हम मर या रहे हैं। हम लोगों में से कोई कलकत्ता या रंगून से कुछ रुपये कमाकर लाता है और चाहता है कि नजराना देकर कुछ खेत-बारी बढ़ा ले, तो उस भी हमारे इन पंच परमेश्वरों की पद-दृष्टि से मुक्ति नहीं मिलती। ये लोग कोई-न कोई बात निकालकर उसकी अधिकतर कमाई हड़प जाते हैं।

ये भी क्या पंचायतें है ?

कहाँ भारत की पंचायतें और कहाँ आज की ये पंचायतें!

गाड़ी बन्द हो गया। अब मैंने से बाहर निकलना है, अतः पत्र यहीं पर समाप्त करता हूँ। नमस्कार।

●●●

समस्या की जड़ १४.

५८-४१

धीरे धीरे ग्रीष्म आ गया। दोपहर के समय घूमना कठिन हो गया। लू के बचाव के लिए किसान मुझे अपने घरों के भीतर ठहराते थे। यहाँ निकट से मुझे भलीभाँति विदित हो गया कि किसानों के मकान उनके रहने के लिए नितान्त अपर्याप्त हैं।

जिन लोगों में पर्दे का रिवाज है, उनके लिए तो जीवन ही भार-स्वरूप हो जाता है। मैंने देखा कि उन लोगों के कपड़े और बिछौने इतने गन्दे होते हैं कि उनमें दूर से ही बदबू आती है। उन लोगों से यदि कभी सफाई की बात करता था तो वे अपने पास अधिक कपड़े न होने के कारण विवशता प्रकट करते थे। सदियों से साधन-विहीन रहने के कारण ये लोग गन्दगी के अभ्यस्त हो गये हैं। बेकारी के कारण इनकी प्रकृति में सुस्ती और काहिली ने अपना घर बना लिया है। इसीलिए इनकी स्वच्छतापूर्वक रहने की प्रवृत्ति भी नष्ट हो गयी है। बचपन से उनका जीवन दरिद्रता के वातावरण में व्यतीत होता है, इसलिए वैसा ही उनका स्वभाव भी बन जाता है। इसमें उनका कोई विशेष अपराध नहीं है।

सब बुराइयों की जड़ उनकी गरीबी है

अतः यदि देहात के लोगों को सफाई का पाठ पढ़ाना है तो सबसे पहले उनके लिए आर्थिक सुविधाओं का प्रबन्ध करना होगा। जब तक उनमें अपने जीवन से दिलचस्पी न होगी, तब तक वे दूसरी बातों पर ध्यान नहीं दे सकते। उनको यह समझाना होगा कि काहिली दूर होने से उन्हें क्या फायदा होगा तथा इससे उनके कौन-कौन से अभाव दूर होंगे। इस प्रकार जब उनके जीवन में पुनः आशा का संचार होने लगेगा, तभी उनकी जड़ता विनष्ट हो जायेगी। जो लोग

ग्राम-सेवा का प्रारम्भ सफाई या शिक्षा से करना चाहते हैं, उन्हें देहात की इस स्थिति पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। किसी-न-किसी आर्थिक प्रोग्राम की सफलता के बाद ही सफाई आदि का प्रोग्राम हाथ में लिया जा सकता है। यही सोचकर मैंने कुछ ही दिनों के बाद गाँव-वालों से सफाई के सम्बन्ध में कहना छोड़ दिया और केवल चरखा और पंचायत का ही काम लेकर चलने लगा।

गर्मी दिन-दिन भीषण होने लगी और लू अधिक चलने के कारण चरखे का काम भी कुछ कम होने लगा। मेरा घूमना भी कम हो गया। राष्ट्रीय सप्ताह आ गया था इसमें मैंने केवल डौंडा के कस्बे में खादी बेचने का प्रोग्राम रखा। राष्ट्रीय सप्ताह के लिए अकबरपुर से भी देवनन्दन भाई भी मेरी सहायता के लिए आये हुए थे। हम दोनों ने कड़ी धूप से खादी बेचने का काम किया। सप्ताह समाप्त होने पर वे हिसाब देने के लिए अकबरपुर चले गये। उनके चले जाने पर मैंने सोचा कि लगभग पन्द्रह दिन से मैं देहात नहीं गया। अब देहात का प्रोग्राम बनाना चाहिए।

मैंने देहात में जाकर देखा कि चारों ओर हैजा फैला हुआ है। गाँवों में अनेक व्यक्ति मर रहे हैं। हर तरफ आतंक छाया हुआ है। कोई एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का साहस नहीं करता था। मुझे गाँव में आते देखकर सब लोग आश्चर्य करने लगे। गाँव की स्त्रियाँ सभी अवाम से मुझे टौंडा वापस जाने के लिए कहने लगीं। वे मेरे पास आकर इस प्रकार धीरे से कहती थीं कि कहीं कोई सुन न ले। मैं टौंडा वापस तो अवश्य आया किन्तु स्पिरिट कैम्फर की बोतल अस्पताल से लेकर फिर यहाँ वापस चला गया। देहात में जब मैं कॉलरा के रोगी के पास जाकर उसे दवा देने की कोशिश करता था तो लोग बहुत एतराज करते थे। कहते थे— "भवानी माई नाराज हो जायेंगी और जितने जीव बचे हैं उन्हें भी हैजा हो जायगा।" मैं कहीं-कहीं जबरदस्ती दवा पिला देता था, लेकिन साधारणतया इस काम में सफल न हो सका। मात्र कहीं आनेवाली

जाति के एकाध व्यक्तियों को तो मैं दवा पिला भी सका, किन्तु चमारों के परिवार में किसीको भी दवा न पिला सका, यद्यपि हैजे का प्रकोप सबसे अधिक इन्हीं लोगों में था। चार-पाँच दिन प्रयत्न करके मैंने देखा कि इन लोगों में दवा का प्रबन्ध करना बेकार है। कड़ाके की धूप में अनेक गाँवों का चक्कर लगाने पर एकाध आदमी को दवा पीने के लिए तैयार कर पाया था। गाँव के लोग ऐसे संक्रामक रोग को रोग नहीं समझते 'भवानी माई' का प्रकोप समझते हैं। मैंने देखा कि घर में इतने भीषण रोग के होते हुए भी लोग निश्चिन्तता के साथ बैठे रहते थे। बगल में रोगी पड़े हैं, किन्तु न तो ये रोते हैं, न कुछ कहते हैं और न किसी प्रकार का उद्योग ही करते हैं। मैंने बहुत प्रयत्न किया कि यदि ये लोग दवा खिलाना स्वीकार नहीं करते तो मैं कम-से-कम प्याज का रस ही पिला दूँ। किन्तु गरीबी के कारण बेचारों के घरों में प्याज भी नहीं था।

यह पहेली !

गाँव के लोगों को दवा पीने से इनकार करते देखकर शुरू में मुझे कुछ-कुछ बुरा-सा लगा किन्तु फिर सोचा कि ये लोग इतने गरीब और साधनहीन हैं कि 'भवानी माई का प्रकोप' और 'तकदीर' इत्यादि कह कर सन्तोष कर लेते हैं। इनके लिए यह भी एक प्रकार से अच्छा ही है। क्योंकि यदि उन्हें विश्वास होता कि दवा से ही रोगी अच्छा हो सकता है, तो वे इधर-उधर भटकते, दवा की कोशिश करते किन्तु कहीं प्रबन्ध न होने के कारण निराश हो जाते और कुछ कर न सकने के कारण स्वयं को धिक्कारते। ऐसी अवस्था में उन्हें प्रायः उन्माद-सा हो जाता।

मैं लिख चुका हूँ कि अवध के ग्रामीणों की गरीबी बेहोशी की स्थिति में पहुँच गयी है। इसलिए लोग अपने को विवश जानते हुए भी उनसे मुक्ति पाने के लिए किसी प्रकार की क्रान्ति या विद्रोह नहीं करते हैं। जब कभी महामारी का प्रकोप होता है, तो इनके लिए 'भवानी का प्रकोप' कहना मनोहानि की एकमात्र सान्त्वना है। जो लोग इस प्रकार की मनोवृत्ति

आर्थिक सुधार की आवश्यकता

को कुसंस्कार कहकर इन पर व्यंग्य करते हैं, उन्हें चाहिए कि इनके कुसंस्कारों के प्रति इन्हें उपदेश देने की अपेक्षा इनकी आर्थिक स्थिति सुधारने का प्रयत्न करें। वे देखेंगे कि आर्थिक सुधार के साथ-साथ उनकी कूपमंडूक मनोवृत्ति क्रमशः दूर होती जायगी। मेरा अनुभव है कि देहात में जिनकी आर्थिक स्थिति जितनी ही खराब है, उतने ही अधिक वे कुसंस्कारों के शिकार हैं।

तीन-चार दिन इधर उधर घूमने के बाद मुझे महसूस होने लगा कि इस अथाह महासागर में मैं एक बूँद कैम्फर लेकर क्या ही क्या सकता हूँ ? दवा भी लगभग समाप्त हो चुकी थी। गाँव के लोग भी मुझसे बार बार टाँडा वापस चले जाने का आग्रह कर रहे थे। अतः मैं टाँडा वापस चला आया। धूप के कारण टाँडा पहुँचते-पहुँचते बिलकुल थक गया और मकान पर पहुँचकर सो गया।

शाम को तीन-चार मित्र मिलने आये। मैंने शर्बत बनाकर उन लोगों को पिलाया और स्वयं भी पिया। अँधेरा हो जाने पर वे लोग अपने अपने घर चले गये। मैं लालटेन जलाकर आँगन में आ बैठा। काफी थक गया था खाना बनाने की बात सोच रहा था किन्तु कुछ आलस्य आ रहा था। तभी पाखाने की हाजत महसूस हुई। मैं टट्टी गया किन्तु पाँच ही मिनट बाद फिर टट्टी लगी। दो-तीन बार टट्टी जाने के बाद मेरे सिर में चक्कर आने लगे और हाथ-पैर कमजोर होने लगे। अब मुझमें इतनी भी शक्ति नहीं रह गयी कि उठकर कहीं बाहर जा सकूँ। पास-पड़ोस में कोई था भी नहीं जिसे सहायता के लिए बुलाऊँ। फिर मैं नाली के पास चारपाई डालकर उसी पर लेट गया। कैम्फर की बोतल की ओर देखा, तो वह भी खाली थी।

स्वयं हैजे के चंगुल में

अन्ततः उसी चारपाई पर से ही टट्टी करता रहा। टट्टी के साथ-साथ के भी शुरू हो गयी थी। मैं कुछ घबड़ा गया, किन्तु करता ही क्या ! सोचा चलो भवानी के भरोसे पड़े रहो।

संयोग से रात की गाड़ी से ९.१ बजे के लगभग देवनन्दन भाई आ गये। मुझे ऐसी स्थिति में देखकर वे बहुत घबराये और कुछ रुँआसे से हो गये। कहने लगे की भाई धीरेन, अब क्या होगा! मैंने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा कि इस समय यह सोचने का अवसर नहीं है, तुम जल्दी से जाकर जानकीप्रसाद के यहाँ से कैम्फर की गोली ले आओ। जानकीप्रसादजी का घर आश्रम से ५ मिनट की दूरी पर था। देवनन्दन सिंह शीघ्र ही दवा लेकर लौट आये। कैम्फर तो नहीं मिला और दूसरी दवा लाकर उन्होंने दी। जानकीप्रसादजी मेरी ऐसी अवस्था सुनकर मेरे पास न आकर सीधे डॉक्टर के पास चले गये। इसी बीच मेरे हाथ-पाँव ऐंठने लगे और क्रमशः मैं बेहोश हो गया। डॉक्टर आये, मेरी दवा-दारू हुई, किन्तु मुझे कुछ भी पता नहीं चला। जब मैं होश में आया, तो मेरा कै-दस्त बन्द हो चुका था और बरामदे में एक दूसरी चारपाई पर लिटाया जा चुका था। इस आकस्मिक बीमारी ने मुझे बिलकुल कमजोर बना दिया। पन्द्रह-बीस दिन के बाद जब चलने लायक हुआ तो अकबरपुर के लोग मुझे टाँगा से बुला ले गये। कुछ दिन वहाँ रहने के बाद जब मुझमें कुछ शक्ति आयी, तो मैं रेल द्वारा घर चला गया। लगभग दो माह घर रहना पड़ा।

पत्र समाप्त ही कर रहा था कि तुम्हारा पत्र आ पहुँचा। पत्र बहुत देर से मिला है। हमारे एक साथी का तार ७ दिन में मिला था। मैं अच्छी तरह हूँ। सात पौंड वजन बढ़ा है। प्रभाकर भाई, कृष्णदास भाई और सबको नमस्कार पहुँचाना। नमस्कार। ● ● ●

कुछ अन्य समस्याएँ

१५

८-८ ४१

बीमारी के बाद मैं अपने भाई के पास शिमला चला गया। वहाँ लगभग डेढ़ मास आनन्दपूर्वक बिताने से मेरा स्वास्थ्य बिल्कुल ठीक हो गया और मैं अकबरपुर लौट आया।

देहात में चरखे का प्रचार करते समय मैं उसके आर्थिक पहलुओं पर भी काफी विचार किया करता था। फैजाबाद जिले में रुई नहीं पैदा होती। मैं सफाई और ओटाई के हिसाब पर सूत कतवाता था, हिसाब लगाने पर मुझे ज्ञात हुआ कि इस तरह कातकर देहात के लोग अपना कपड़ा नहीं बना सकेंगे क्योंकि कपड़ा वगैरह निकालकर उन्हें इतनी कम बचत होती थी कि मेरे खास हिसाब लगाने पर भी उस बचत से उनके पूरे परिवार को कपड़ा मिलना किसी तरह सम्भव नहीं होता था। इस विषय पर मैं राजाराम भाई से भी विचार-विनिमय किया करता था।

राजाराम भाई भी जब चरखे पर आर्थिक दृष्टि से विचार करते, तो वे भी इसी परिणाम पर पहुँचते थे। किन्तु वे इस बात पर विशेष जोर देते थे कि उनके सहारनपुर जिले के किसान अपने खेत की ही रुई से सूत कातकर बेचते हैं, जिससे उन्हें लाभ होता है। वे प्राचीन काल से चरखा कातते आ रहे हैं। यदि वे अपनी रुई व्यापारियों के हाथ बेचते हैं, तो बड़ी मंडियों की अपेक्षा उन्हें सस्ते दामों में बेचनी पड़ती है। इसलिए

रुई की बत्ती बिना चरखा पंगु है

सूत कातकर बेचने में उन्हें यथेष्ट लाभ रहता है। किन्तु अकबरपुर की अवस्था इसके प्रतिकूल थी। यहाँ बड़ी मंडियों से महँगी रुई खरीदकर किसानों को दी जाती थी, जिससे वह उन्हें और भी महँगी पड़ती थी। सहारनपुर के समान अकबरपुर के किसानों की बचत होनी असम्भव थी। इसके

अमेरिका किसान जो वस्तुएं घर पर पैदा कर लेते हैं, उसका वे कोई मूल्य नहीं समझते। किन्तु जो किसान कई खरीदकर कातते हैं, उन्हें तो अपनी कमाई से कई का दाम भी चुकाना पड़ता है।

अतः फैजाबाद के किसानों की बचत की रुई से सूत कातकर कपड़ा पूरा करना असम्भव ही था। इस प्रकार के चिन्तन से मुझे ऐसा लगा कि फैजाबादी किसान जब तक रुई की खेती स्वयं नहीं करेंगे तब तक कपड़े की समस्या हल होनी कठिन ही है। इसलिए गाँवों में रहते समय गाँववालों से रुई बोने के लिए कहता था। उन्हें यह समझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती थी कि घर की रुई होने पर उनकी कपड़े की समस्या हल हो जायगी। अभी इसका प्रचार प्रारम्भ ही किया था कि मैं बीमार पड़ गया और गाँव में पड़ा रहा। इस समय देवनन्दन भाई मेरी देख-भाल करने तथा मेरा कार्य सँभालने के लिए रुके रहे। मैंने उन्हें कपास बोने की आवश्यकता समझायी और कहा कि आप यह प्रचार जारी रखें। राजा के इलाके में सन् १९२१ के आन्दोलन से ही सारी तहसील के लोग उन्हें 'बाबा देवनन्दन' कहकर पुकारते थे। आन्दोलन में काम करते हुए वे जेल भी हो आये थे। उनके प्रचार का बहुत प्रभाव पड़ा और बहुत से लोग रुई बोने के लिए तैयार हो गये।

मैं घर जाते समय देवनन्दन भाई से कह गया कि वे इसका अनुमान कर लें कि कितने लोग कपास बोने को तैयार हैं और उसीके अनुसार कपास के बीज खरीद लें। उन्होंने हिसाब लगाकर कपास के ११ बोरे बीज खरीद लिये थे। किन्तु इतने अधिक बीज की खपत उस वर्ष में नहीं हो सकती थी। जिस समय मैं शिमला से लौटा बहुत थोड़े बीज किसानों में बँट पा सके थे। आश्रम के लोग मुझसे कहने लगे कि यह तूफान आपका ही उठाया हुआ है, इसलिए सारे बीज बँटवाने का उत्तरदायित्व आप पर ही है। बीज वास्तव में बहुत अधिक थे और बगैर तूफानी कोशिश के उनकी खपत असम्भव थी। इस सिलसिले में मुझे काफी दूर तक जाना पड़ा। मैंने स्थान-स्थान पर बीज का स्टॉक रखवा दिया और एक बार निकलने

पर दस-बीस दिन तक वापस नहीं लौटता था। तभी मुझे एक खास बात दिखाई पड़ी। वह यह कि हमारे यहाँ के किसान खेती के काम में कोई भी नयी बात करने के लिए तैयार नहीं होते हैं। देहात में मेरे अधिक परिश्रम के कारण लोगों ने एक-दो कट्ठे के लिए बीज तो अवश्य खरीद लिया, किन्तु उनमें से अधिकतर लोगों ने उसे बोया ही नहीं! जिन लोगों ने बोया भी, उन्होंने उसे दूसरे अनाजों के साथ मिलाकर बोया।

खेती के लिए बिनौले का प्रचार

बिनौला बाँटने के सम्बन्ध में मैं टाँडा के पूरब काफी दूर निकलकर परासे तक चला गया। उस भाग में अधिकतर धनियों के ही गाँव देखने को मिलते थे। ये लोग साधारणतया अच्छी स्थिति के मालूम होते थे। इन्हें हमारे काम से बड़ी घृणा थी। कितने ही व्यक्ति तो मुझसे साफ-साफ कहते थे कि कांग्रेस और गांधी बाबा तो छोटे लोगों को सिर पर चढ़ा रहे हैं और सारी समाज-शृंखला को चौपट कर रहे हैं। यहाँ के लोगों में छोटे लोगों के प्रति उतनी ही घृणा का भाव देखने में आया जितना शहर के पढ़े-लिखे मध्यम श्रेणी के लोगों में। यहाँ के ठाकुर छोटी जाति के लोगों के साथ सीधे बात भी नहीं करते थे।

सतत प्रयत्न से मैंने करीब-करीब सभी बिनौले समाप्त कर डाले। मैं आमतौर से जहाँगीरगंज तक ही बिनौले का प्रचार कर रहा था क्योंकि वहीं तक आश्रम के क्षेत्र का केन्द्र था। उसके पूर्व की ओर कोई केन्द्र न होने के कारण उधर नहीं जाता था। एक दिन बिनौला लेकर मोटर से जहाँगीरगंज जा रहा था उसी मोटर में एक जमींदार के पुत्र से मेरा परिचय हो गया। उन्होंने मुझे अपने गाँव कम्हरिया बिनौला ले चलने को कहा। कम्हरिया जहाँगीरगंज से ८ मील की दूरी पर है। उन्होंने आश्वासन दिया कि वे अपने आसपास काफी बिनौला बेचवा देने का प्रयत्न करेंगे।

पूरब भाग में मुझे जो पहला गाँव मिला वह काफी अच्छा मालूम होता था। उस गाँव में एक अच्छा-सा मकान दिखाई दिया। मैंने समझा कि यह मुखिया का मकान होगा। यह सोचकर उसके सामने मैं जा

तख्त बिछा हुआ था उस पर जाकर बैठ गया। लगभग आध घण्टे के बाद भीतर से एक स्त्री निकली। उसकी वेश-भूषा और कपड़ा आदि के देखने से मालूम हुआ कि मैं किसी भले घर में आया हूँ। मैंने उससे पूछा कि यह मुखिया का घर है क्या? एक अनजान आदमी को इस तरह से बैठे हुए देखकर उसे कुछ आश्चर्य-सा हुआ। किन्तु मेरे प्रश्न करने पर वह दरवाजे के पास नीचे बैठ गयी और पूछने लगी कि आप मुखिया का घर क्यों तलाश रहे हैं? मैंने अपना उद्देश्य उससे कह सुनाया। वह बोली कि आपको परेशान होने की जरूरत नहीं है। मैं सारा प्रबन्ध कर दूँगी। फिर वह कहीं बाहर चली गयी और थोड़ी देर में लौट आयी। एक आदमी मेरे लिए हाथ-पैर धोने का पानी लाया। मैं थका हुआ तो था ही हाथ-पैर धोकर निश्चिन्त होकर बैठा और उस स्त्री के दिये हुए चबैने और रस का सदुपयोग करने लगा। मेरे रस पी चुकने के बाद वह स्त्री वहीं बैठ गयी और गाँवों आदि तथा दुनियाभर की तमाम बातें करने लगी। घंटे डेढ़ घंटे बाद गाँव के बहुत-से लोग वहाँ इकट्ठे हो गये। उस स्त्री ने उनसे मेरे आने का उद्देश्य बताया और कहा कि सबको चाहिए कि थोड़ा-थोड़ा बिनौला लाकर अपने खेत में बोवें। मैंने भी उन्हें चरखा चलाने के फायदे, गांधीजी के उपदेश तथा रूई बोने के काम आदि सब समझायीं। सब लोग थोड़ा-थोड़ा बिनौला लेकर चले गये। दो-एक आदमी वहाँ रह गये। शाम हो रही थी, मैं सोच रहा था कि अब क्या करूँ? उस घर में टिकना ही मुश्किल था, क्योंकि वहाँ एक स्त्री और सिर्फ एक छोटी-सी लड़की ही रहती थी। उस समय किसी और गाँव में जाना भी असम्भव ही सा लग रहा था। मैं ऐसी ही दुविधा में पड़ा था कि काफी अच्छे कपड़े पहने हुए एक मुसलमान वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखते ही वह स्त्री

वारिसअलीशा के घर में

कह उठी—"आओ जिलेदार साहब आओ" और प्रसन्न घनिष्ठता के साथ मुस्कराते हुए बोली कि "देखो आज हमरे घर में पाहुन आएहैं आज इनहूँ रात के यहीं रहैं।" उस स्त्री की बातचीत के ढंग से मुझे ऐसा लगा

कि कहीं मैं किसी चरित्रहीना के घर में तो नहीं आ गया ? मैं बड़ी घबराहट में पड़ा और मैंने फौरन ही वहाँ से चल देने की बात सोची, किन्तु थोड़ी ही देर में मैंने अपने को सँभाल लिया और सोचा कि मुझे गाँव के विषय में अध्ययन तो करना ही है, फिर यह नया अनुभव क्यों छोड़ दूँ ? अतः निश्चिन्त होकर बैठ रहा।

उस स्त्री ने खिलेदार से मेरा परिचय कराया। मुझसे तथा खिलेदार से बातें होने लगीं। खिलेदार बिनौले निकाल-निकालकर देखने लगा और मुझसे उनके बोने के नियम पूछने लगा। थोड़ी देर में एक आदमी दो-तीन चारपाइयाँ लाकर रख गया और पाँच-सात आदमी आकर इन चारपाइयों पर बैठ गये और खिलेदार से बातचीत करने लगे। थोड़ी देर बाद वह स्त्री भी आकर इस वार्तालाप में शामिल हो गयी। इन सबकी बातचीत से मुझे उस स्त्री के चरित्रहीन होने में रंचमात्र भी सन्देह नहीं रह गया। थोड़ी देर बाद सब लोग चल पड़े। खिलेदार भी सबेरे आने का वादा करके चला गया। उसके चले जाने पर मैं यह सोचने लगा कि रात कहाँ बिताऊँ ? अँधेरा काफी हो चुका था, दूसरी जगह जाना मुश्किल था, इसलिए मैंने उसी तख्त पर पड़े रहकर रात काटने का निश्चय कर लिया।

उस स्त्री ने मुझसे पूछा—"आप क्या खाना बनायेंगे ? आप जैसा कहें मैं वैसा प्रबन्ध कर दूँ।' उस समय उसकी बातचीत से मुझे ऐसा लगा कि वह यह समझ गयी है कि मैंने उसकी बातें जान ली हैं; क्योंकि अब वह मुझसे बातें करने में कुछ झिझकती और घबरा-सी जाती थी। मैंने उसे उत्तर दिया—'आखिर तुम्हें भी तो कुछ बनाना-खाना है, उसीमें से थोड़ा हमें भी दे देना। मैं अलग बनाने की झंझट क्यों करूँ ? मेरी इस बात से उसका चेहरा शर्म से लाल हो गया और थोड़ी देर के लिए उसकी जबान बन्द हो गयी। फिर वह बड़ी हिचक के साथ बोली—"भय्या हमार छुआ खाने माँ तोर धरम तौ न जाइना ! अगर जानो हमार देह त इस्तमाल इच नष्ट है। मैंने उससे कहा—'मार मनई

मनुष्य के बनाया जाए तो वहमों हरज का होई !" फिर वह अन्दर चली गयी और मैं उसी खम्भे पर लेट गया।

दो घण्टे के बाद उस स्त्री ने मुझे बहुत प्रेम से खाना खिलाया। अब तक उसकी झिझक भी मिट गयी थी और वह खाना परोसते समय गांधी बाबा की बात बहुत श्रद्धा के साथ पूछ रही थी। उसके खाना खिलाने के ढंग में मुझे वही भावना दिखाई दी जो हर जगह दिखाई देती है। यह है भारतवर्ष का नारी-हृदय जो मातृत्व की भावना से भरपूर रहता है। भारत की स्त्री के हृदय में प्रेम और श्रद्धा की जो भावना होती है, फिर चाहे वह किसी धर्म किसी जाति और किसी श्रेणी की हो वह शायद संसार के किसी अन्य देश की स्त्री में नहीं होगी। एक स्त्री, जो खुल आम अपनी चरित्रहीनता का परिचय देती है उसके हृदय में भी इतना प्रेम और इतनी श्रद्धा मौजूद है कि उसका अनुभव कर अवाक् हो जाना पड़ता है।

नारी का वही स्वाभाविक मातृत्व

सवेरे मैं उठकर जल्दी से चला जाना चाहता था, किन्तु उस स्त्री ने मुझे रोका और कहा कि 'बिना जलपान किये मैं नहीं जाने दूँगी।' इसलिए मुझे वहीं बैठ जाना पड़ा। थोड़ी देर में सिलेदार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मेरा बचा हुआ साग बिनौला खरीद लिया और कहा— 'आओ मैं भी अपने यहाँ बुला लूँगा।

पानी पीकर मैं उस गाँव से चल दिया और जहाँगीरगंज की ओर वापस आने लगा। जहाँगीरगंज वहाँ से १ मील दूर था इसलिए मुझे रास्ते में काफी समय लगा। चलते-चलते मैं उस स्त्री के विषय में सोचने लगा। उसका घर और उसके रहने की शैली बाजारू स्त्रियों की तरह नहीं लगती थी फिर भी जिस ढंग से श्रीमान् लोग उसके यहाँ एकत्र होते और उसके साथ जैसा व्यवहार करते उससे स्पष्ट दीख पड़ता था कि उस स्त्री की चरित्रहीनता बिल्कुल मामूली चीज है। इस घटना के बाद मैं कहीं भी गया इस ढंग से लोगों से पूछताछ करता रहा। पता चला कि इधर के गाँवों में ऐसी स्त्रियाँ बहुत हैं। ये स्त्रियाँ दिखाई देती हैं पर

अधिकांश उच्च घराने की होती हैं। इनके पास जीवन-यापन के लिए कुछ भूमि होती है। ये अपने घरों में स्वतन्त्र रूप से रहती हैं। इनका स्वतन्त्र रहना ही इनके बिगड़ने का कारण होता है। गाँव के लोग इनके अकेलेपन का लाभ उठाकर इनसे दोस्ती कायम करते हैं और इनका जीवन बरबाद करते हैं। गाँव के अच्छे कहे जानेवाले व्यक्ति ही इनसे विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

इस कथा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय का समाज इस किस्म की सामाजिक दुर्नीति से परिपूर्ण था। पर आज का समाज यह अनुभव करने लगा है कि यह कार्य बिलकुल नीति-विरुद्ध है।

मैं बड़ोंगीरगांव से अकबरपुर लौट आया। इधर विनोबा भी लगभग समाप्त हो चुका था। जो बच गया था उसे बोने का अवसर नहीं रह गया था। इसलिए मैं अकबरपुर में ही रहने लगा। इसके बाद मेरा गाँवों में आना-जाना बन्द हो गया। अब अपनी देहाती रामकहानी समाप्त करता हूँ।

मीतुमा क्या कर रही है? मैं जब यहाँ आता था तो वह मुझे कहानी सुनाने के लिए तंग किया करती थी। उसे यह अच्छी कहानी सुना देना और उससे कहना कि वह मुझे लिखे कि यह कहानी उसे कैसी लगी? उसे प्यार कहना। सबको नमस्कार।

● ● ●

देश-भ्रमण की कहानी १६

१६-८ ११

मुजफ्फरपुर लौट आने के बाद मेरे जिम्मे कोई खास काम नहीं रह गया। एक प्रकार से बेकार ही रहता था और यदि कोई रोगी आ जाता, तो उसे दवा दे दिया करता था। असहयोग आन्दोलन पूरी तरह से दब चुका था। देश के भीतर निराशा-सी छाई हुई थी, स्वभावतः उन सभी कार्यकर्ताओं के समक्ष कुछ परेशानी-सी थी, जो अपने व्यक्तिगत जीवन में वापस नहीं चले गये थे। आश्रम में भी इस प्रकार की चर्चा चला करती थी। मुजफ्फरपुर में जितने व्यक्तियों के लिए काम था, हम लोगों की संख्या उससे बहुत अधिक थी। इसलिए हर कार्यकर्ता के लिए कुछ-न-कुछ बेकारी रहती ही थी। मुझे भी उस समय कोई जिम्मेदारी का काम नहीं था हाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास मिलने का शौक था, उनका हिसाब लेने के लिए कभी-कभी बाहर चला जाया करता था। जब लौटकर आश्रम में आता था तो आश्रमी भाइयों को देश-विदेश-भ्रमण करने की योजना बनाते हुए देखता था।

एक दिन दोपहर के समय बाहर से लौटकर आया, तो देखा कि आश्रम के सब लोग भ्रमण की चर्चा कर रहे हैं। बहस इस बात पर थी कि भ्रमण का रूप किस प्रकार का हो? सब लोग पैदल ही चलने की बात कर रहे थे, किन्तु विवाद इस पर था कि वेश-भूषा कैसी हो, कहाँ ठहरा जाय कितनी दूर चला जाय? मेरे आते ही लोग पूछने लगे कि कहिए, तुम्हारी क्या राय है? हमें किस तरह जाना चाहिए? मैंने उनकी बातें सुनकर कहा—चलना-जाना तो निश्चित है नहीं व्यर्थ में बहस करने से क्या लाभ? पर लोगों ने विवाद बन्द नहीं किया अन्त में मैंने कहा कि मैं कल निकलूँगा और उसी समय बताऊँगा कि निकलने का ढंग क्या होना चाहिए। जिसे मेरे साथ चलना हो वह अभी से निश्चय कर ले।

रात के समय भी इसकी चर्चा जोरों के साथ चलती रही। मैं यह सोचकर उस चर्चा में सम्मिलित नहीं हुआ कि अब तो मैंने चलने का निश्चय कर ही लिया है, फिर चर्चा से क्या लाभ ? किन्तु हृदय में यह द्वन्द्व मचा हुआ था कि यदि मैं आश्रम छोड़कर चला जाता हूँ तो आश्रम के प्रति कर्तव्य का हनन होता है। फिर भी चाहता था कि यदि मैं पैदल घूम-कर देश देख सकूं, तो भिन्न-भिन्न प्रदेशों का, विभिन्न प्रकार की श्रेणियों का अध्ययन हो जायगा। मैं ऐसी दुविधा में पड़ा था कि एकाएक हमारे पुराने साथी राघवराम भाई घर से आ गये। वे छह-सात महीने पहले अपने भाई की बीमारी के कारण घर चले गये थे। अब तक हम लोगों को उनका कोई समाचार नहीं मिला था। उस समय देश के राजनीतिक आन्दोलन में बहुत-से नौजवान, जिन्होंने १९२१ के आन्दोलन में भाग लिया था हताश होकर अपने अपने घर वापस आ रहे थे। हम लोगों ने राघवराम भाई के सम्बन्ध में भी यही सोच लिया था कि अब वे आश्रम में नहीं आयेंगे। किन्तु उनके इस आकस्मिक पुनरागमन से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यह ईश्वर की बहुत बड़ी कृपा है कि उसने राघवराम भाई को यहाँ ला पहुँचाया। अब मेरे जाने से आश्रम की लेश मात्र भी हानि नहीं होगी। मैं निश्चिन्त होकर आश्रम से विदाई ले सकता हूँ। मुझे अब किसी प्रकार की दुविधा नहीं रह गयी। रात को निश्चिन्तता से सोया।

सबेरा होने पर मैं २ गज लम्बे १ गज चौड़े दो गमछे, दो लँगोटे, एक झोला और एक लाठी लेकर उस स्थान पर आ पहुँचा, जहाँ बैठकर अन्य आश्रमी भाई बातचीत कर रहे थे। मैंने कहा—"देखो, मेरे विचार से इस प्रकार की पोशाक धारणकर चलना चाहिए और जिधर ये दोनों आँखें ले चलें उधर ही चलना चाहिए। अब बताओ कौन-कौन मेरे साथ चलने के लिए तैयार है ? पिछली रात तक लोगों ने हमारी बातों की गम्भीरता की ओर ध्यान नहीं दिया था। वे समझ रहे थे कि नित्य की भाँति यह भी एक कपोल

यात्रा की ओर
[illegible]

का प्रयत्न करते थे कि लोग कैसा जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी आर्थिक स्थिति कैसी है, सामाजिक आचार-विचार कैसे हैं आदि।

इस प्रकार यू पी, मध्यप्रदेश और गुजरात के विभिन्न गाँवों और शहरों का चक्कर लगाते हुए हम लोग लगभग ६० मील की यात्रा करके अहमदाबाद पहुँचे। इस यात्रा में हमने अमीर कहे जानेवाले सम्भ्रान्त श्रेणी के लोगों के घर देखे, पढ़े-लिखे मध्यमवर्गीय बाबुओं के घर देखे, देहात के उच्च और भद्र कहे जानेवालों के घर देखे और गाँवों के गरीब किसान मजदूरों के घर भी देखे। कभी-कभी कोल-भील आदि जंगली जातियों के घरों में भी हमें रहना पड़ा। हमें अनुभव हुआ कि मनुष्य जैसे-जैसे उच्च श्रेणी में पहुँचता जाता है, ज्यों-ज्यों समाज उसे शिक्षित और सभ्य कहकर पुकारने लगता है, त्यों-त्यों उसमें गरीब और साधारण श्रेणीवालों के प्रति घृणा की मात्रा बढ़ने लगती है। प्रायः ऐसा भी होता था कि पेटभर भोजन प्राप्त करने के लिए हमें २ २५ घरों की फेरी लगानी पड़ती थी और विभिन्न श्रेणियों के घरों से थोड़ा-थोड़ा भोजन माँगकर इकट्ठा करने में, उनके देने के ढंग को देखकर सहज ही उनकी मनोवृत्ति की थाह लग जाती थी। इस भिक्षाटन में हमें यह भी अनुभव कराया कि यदि माताएँ न होतीं, तो हम लोगों को जो यत्किञ्चित् प्रेम और आदर मिला वह भी नहीं मिलता। अतिथि-अभ्यागत के प्रति सम्मान और आदर का व्यवहार करने की जो भारतवर्ष की पुरातन परम्परा थी उसका अवशेष मातृ-जाति में ही देखने को मिलता है।

भीलों का आतिथ्य

एक दिन हम लोग ग्वालियर राज्य की सीमा सरदारपुर से सीधे पश्चिम की ओर चले। सरदारपुर तक तो हम सम्पन्न भू-भाग से होकर आये, किन्तु सरदारपुर से आगे केवल जंगल ही जंगल था। हमें लगभग १ मील जंगल पार करना था। जंगलों के बीच कहीं-कहीं मनुष्यों की छोटी-छोटी बस्तियाँ भी देखने को मिल जाती थीं। ये बस्तियाँ भील लोगों की थीं। भीलों के यहाँ आश्रय ग्रहण करने में हम लोगों को बहुत आनन्द आता था। वे

अपनी स्थिति के अनुसार मक्के की रोटी, खीरा, साग-सब्जी आदि खाने को देते थे। भील दुनिया के सबसे गरीब प्राणी हैं, किन्तु जब हम उनके यहाँ अतिथि के रूप में पहुँच जाते थे तो वे हमारे निकट बैठकर पहले हमें खाना खिला देते थे और हमारे विश्राम का प्रबन्ध कर देते थे, तब स्वयं भोजन करने जाते थे। भोजन के बाद भी वे हमसे कुछ बातचीत करते थे। उनकी बातों में आन्तर प्रेम और सदाचार की झलक साफ दिखाई देती थी, किन्तु इतने पर भी संसार उन्हें असभ्य ही कहता है।

अगस्त का महीना था। एक दिन हमें रास्ते में घनघोर वर्षा का सामना करना पड़ा। बीच में कोई गाँव नहीं मिला, इसलिए हम लोग तेजी के साथ आगे ही बढ़ते चले गये। दो-तीन मील और चलने के पश्चात् एक बस्ती दीख पड़ी। हम लोग उसी ओर बढ़े और एक भील के घर पहुँचे। उस भील के घर में कोई स्थान ऐसा नहीं था जहाँ पर पानी न चूता हो। किन्तु दालान की अपेक्षा कुछ बचाव हो सकता था, इसलिए हम लोग घर के भीतर एक स्थान पर खड़े हो गये। घर का मालिक हमें उस हालत में देखकर कहने लगा कि आप लोगों को यहाँ बहुत कष्ट होगा, अच्छा हो आप पटेल के घर चले जायें। वहाँ आपको कुछ सुख मिलेगा। इस सम्पूर्ण बस्ती में पटेल का ही घर सबसे अच्छा था। उसने एक छोटी लड़की को साथ भेजकर हमें पटेल के घर पहुँचा दिया। पर उस पटेल का घर देखकर तो हम हैरान रह गये। एक झोंपड़ा-सा घर था, उससे मिला हुआ एक लम्बा बरामदा बीच में था जो दो भागों में बँटा हुआ था। जंगली लकड़ियों का एक परदा लगा था। रात के समय एक चार दुधार और एक बैल बँधी रहा करती थी। उसके सामने एक अँगीठी-सी मढ़ी भोजन बनाने के लिए थी। पटेल के परिवार में वह स्वयं एक बड़ा लड़का, एक लड़की और उसकी पुत्र-वधू थी। जिस भाग में पटेल और उसका बड़ा लड़का रहते थे, उसी भाग में उसने हम लोगों को भी आश्रय दिया। हम लोगों के साथ ही उसी भाग में एक घोड़ा, दो बैल, एक बकरी और उसके बच्चे तथा मुर्गे-मुर्गियाँ भी

थीं। एक कोने में टूटी चारपाई हल और घोड़े के जीन आदि सामान था। छप्पर से एक बाँस लटका हुआ था जिस पर एक जीर्ण-शीर्ण कंभा सी कम्बली और मैले गन्दे कपड़े रखे थे।

ये लोग बहुत कम कपड़े पहनते हैं। पुरुष कौपीन के आकार का एक चौड़े कपड़े का टुकड़ा बाँधते हैं और स्त्रियाँ कमर पर एक छोटा-सा टुकड़ा लपेट लेतीं और वक्षस्थल पर भी एक टुकड़ा बाँध लेती हैं। बच्चे नंगे ही रहते हैं। उसकी बड़ी लड़की, जो अनुमानतः बारह-तेरह वर्ष की रही होगी, केवल एक छोटी-सी गमछी लपेटे थी। हम लोग जब उस लड़की के साथ चले थे, तो रास्ते में ही पटेल मिल गया था। उसने हम लोगों को अपनी बैठक में लाकर बिठाया। उस बैठक का दृश्य एक कबाड़खाना, गोशाला और मुर्गखाने आदि के समन्वित रूप-सा ही लगा। पहुँचते ही वह सारा परिवार वहाँ आ गया और दस-पन्द्रह मिनट हम लोगों के स्वागतार्थ वहाँ उपस्थित रहकर अपने-अपने काम पर चला गया। हम लोगों ने अपने गीले कपड़े उतारकर रख दिये और वहाँ पड़ी हुई खटोला-सी दो छोटी-छोटी चारपाइयों पर लेटकर गाँव के मुखिया की सम्पत्ति का गौर से निरीक्षण करने लगे। रात को उन्हीं दो चारपाइयों में से एक पर पटेल और उसका लड़का और दूसरी पर हम दोनों व्यक्ति सो रहे। प्रातःकाल हम लोगों ने देखा कि हमारे शरीर मुर्गों के मल-मूत्र से भर गये हैं। क्योंकि मुर्गों की गोष्ठी ठीक हमारे ऊपर टँगे हुए बाँस पर आराम कर रही थी। भोजन में हमें मक्के की रोटी और मक्के की दाल मिली थी। यह अवस्था उस इलाके के पटेल की है। अब तुम सरलतापूर्वक समझ सकती हो कि और लोगों की क्या दशा होगी!

जंगलों की यात्रा में भील हमें बड़ी सहायता देते थे। वहाँ रास्ता भूल जाने की आशंका सदैव बनी रहती थी। भील हमारे साथ चलकर हमें एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचा दिया करते थे। एक बार जंगली भूभाग में हम लोग तीन दिन तक आगे बढ़ते रहे। चौथे दिन

दोपहर के समय एक भील हमें एक गाँव से दूसरे गाँव को पहुँचाने साथ चला, किन्तु मार्ग में ही उसे एक दूसरा व्यक्ति मिल गया, जो किसी अत्यावश्यक कार्य के लिए उसे उसी गाँव को वापस ले गया, जहाँ से हम लोग चले थे। अतः विवश हो हम लोग बिना किसी पथ प्रदर्शक के आगे बढ़े। अन्ततः जैसी हमें पहले से ही आशंका थी, शाम हो गयी; किन्तु कोई बस्ती नहीं मिल सकी। हमें विश्वास हो गया कि हम लोग रास्ता भूल गये हैं। उस जंगल में पगडण्डियाँ तो हर तरफ थीं, किन्तु हम लोग निश्चय नहीं कर सके कि किधर जायें। अन्त में श्रीनिवासजी एक पेड़ पर चढ़ गये। उस पर से उन्हें कोई शहर की तरह अच्छी बस्ती नजर आयी। ऊपर ही से उन्होंने उसी दिशा की ओर निर्देश किया और मैंने उसके ही अनुसार अपने मन में दिशा का निश्चय कर लिया। कुछ देर चलने के उपरान्त एक पहाड़ी नदी पार करके हम लोग झाबुआ राज्य के शहर में पहुँचे।

दिनभर की यात्रा और मार्ग भूलने की परेशानी ने हमें काफी थका दिया था, इसलिए एक मन्दिर के बरामदे में जाकर लेट रहे। थोड़ी देर के बाद खाना माँगने के लिए निकले, किन्तु बस्ती में जाने पर ज्ञात हुआ कि यहाँ अधिकतर जैनी रहते हैं।

झाबुआ के अनुभव

२०–२५ घरों का चक्कर लगाने पर अनाज का एक दाना भी नहीं मिला। अन्त में निराश होकर फिर उसी स्थान पर आकर बैठ गये। किन्तु ५-७ मिनट के ही पश्चात् तीन आदमी वहाँ आये और हम लोगों को वहाँ से हट जाने का आदेश दिया। हम लोग भूख और थकान से चूर-चूर हो रहे थे अतः वहाँ से जाने को जी नहीं चाहता था इसलिए बैठे-ही-बैठे उनसे वाद-विवाद करने लगे। तब तक तीन-चार आदमी और आ गये और अन्त में हम लोग वहाँ से हटने को बाध्य हुए। जिस समय हम लोग वाद विवाद में लगे थे उस समय एक महाराष्ट्रीय महिला सड़क पर खड़ी सब दृश्य देख रही थी। हम लोग जब उतरकर नीचे आये, तो कहने लगी कि मन्दिर की ड्योढ़ी पर जाओ रघुना बैरागी पक्का है वहाँ से खाना लेकर

वहाँ शिव-मन्दिर में आराम करना। हम लोगों ने उसे धन्यवाद दिया और महाराज की कोठी पर आ पहुँचे। वहाँ बहुत से कंगाल और फकीर दो लाइनों में बैठे हुए थे, हम लोग भी उसी लाइन के अन्त में जाकर बैठ गये। कुछ देर बाद एक हट्टा-कट्टा राजपूत चपरासी बहुत से आदमियों के सिर पर खाना लदवाये आया। खाना क्या था? बड़े-बड़े लड्डू थे। वह हर व्यक्ति को दो-दो लड्डू देता जाता था और राजा की जय बुलवाता जाता था। एक लड्डू का वजन पावभर से कम नहीं रहा होगा। उसने हमें भी लड्डू दिये और राजा की जय बोलने को कहा। हम लोगों ने जय बोलने से इनकार किया। इस पर वह मारने को दौड़ा। हम लोग भाग चले और एक तालाब के पास पहुँचकर लड्डू खाने का उपक्रम करने लगे।

लड्डू इतने कड़े थे कि खास प्रयत्न करने पर भी दाँतों से नहीं टूट सके, इसलिए उन्हें पत्थर पर रखकर पत्थर से ही चूर किया गया और खाना प्रारम्भ हुआ। घबराहट और थकावट के कारण गला इतना सूख रहा था कि पानी पी-पीकर भी लड्डू को गले के नीचे उतारना कठिन हो गया। अन्ततोगत्वा लड्डू गमछे में बाँधकर शिव-मन्दिर में पहुँचे। थोड़ी देर बाद श्रीनिवास ने कहा कि भाई भूख बड़े जोर से लगी है, चलो एक बार और प्रयत्न करें। सम्भव है कहीं रोटी मिल जाय। मैंने कहा, बेटियों की बस्ती है, जब खाने का समय था तब तो कुछ मिला ही नहीं अब इतनी रात को किसके घर में खाने को रखा होगा? चुपचाप पड़े रहो सवेरे देखा जायगा। किन्तु वह राजी नहीं हुआ। अतः हम दोनों फिर रोटी की खोज में निकल पड़े। कई बार इधर-उधर घूमते देखकर एक सज्जन ने अपने बँगले के बरामदे से हमें बुलाया और पूछा—'तुम लोग किधर जाओगे? क्यों घूम रहे हो?' मैंने कहा—'घूम कहीं नहीं रहे हैं, हम भूख-प्यास से व्याकुल हैं खाना चाहिए।' यह सुनकर वह हम लोगों को बगल के गोपाल-मन्दिर में ले गया और हमें ठाकुरजी का भोग खिलवाया। भोग मुलायम था हमने उसे तरलता

से खा लिया। खाने के बाद हम लोग फिर उसके बँगले पर गये। वह अब तक बरामदे में ही बैठा हुआ था। अब उसने फिर हमसे बातचीत शुरू की और पूछा कि तुम लोग कहाँ जाओगे? उसका लड़का भी वहाँ आ गया। वह कहीं ऑफिस में नौकर था। उससे हम लोगों ने दाहोद का रास्ता पूछा। नक्शे से हमने देख लिया था कि दाहोद मक्सुआ से २ २५ मील की दूरी पर है। रास्ता पूछने पर लड़के ने कहा कि यदि कुछ लिखना-पढ़ना जानते हो, तो लिख लो। मैंने उत्तर दिया कि थोड़ा-थोड़ा जानता तो हूँ, किन्तु श्रीनिवास जी न जाने क्या सूझा, उसने कहा—हाँ, बी ए तक पढ़े हैं। उस बुड्ढे ने जब यह सुना कि हम लोग बी ए तक पढ़े हैं, तो वह एकाएक फुर्ती से उठ खड़ा हुआ। अब तक वह हमें नीची निगाह से देखता था, किन्तु अब सहसा उन सबकी आकृति बदल गयी, भाषा बदल गयी और व्यवहार में परिवर्तन हो गया। अब तक हमें कोई बैठानेवाला नहीं था, किन्तु अब बैठने के लिए कुर्सी मिल गयी और वे दोनों ही व्यक्ति बड़े शिष्टाचार के साथ बातचीत करने लगे और इस बात की कोशिश होने लगी कि हम लोग रेलगाड़ी से ही जायँ। ऐसा न क्यों हो उन्हें ज्ञात हो गया कि हम भी उन्हींकी श्रेणी के आदमी हैं, तो किस प्रकार दुनिया बदल गयी! हमने उन्हें उनके इस सौजन्य के लिए धन्यवाद दिया और कहा कि हम लोग पैदल यात्रा करने का निश्चय करके निकले हैं, गाड़ी पर नहीं चढ़ेंगे। उन्होंने कहा कि आप लोग यहीं ठहर जाइये, प्रातःकाल रास्ता बता दिया जायगा, किन्तु हम लोगों ने शिव-मन्दिर में रहने का निश्चय प्रकट किया और अनेक धन्यवाद देकर वहाँ से चल दिये।

व्यवहार में सहसा परिवर्तन

शिव-मन्दिर में उस दिन कोई उत्सव था, आरती हो रही थी, कुछ लोगों की भीड़ थी। हम लोग मन्दिर के एक कोने में कम्बल बिछाकर बैठ गये और मैं स्वामी रामतीर्थ का उपदेश पढ़कर सुनाने लगा। पढ़ते समय स्वामी रामतीर्थ का 'इन उड्स ऑव गॉड रियलाइजेशन'

एक छोटी-सी रामायण और न्यू टेस्टामेंट लेकर हम निकले थे। मार्ग में जहाँ आराम करने का अवसर मिलता था, पढ़ते थे। मुझे रामतीर्थ का उपदेश पढ़ते देखकर कुछ नौजवान वहीं आकर बैठ गये और सुनने लगे। मैंने एक अध्याय समाप्त कर लिया, तो वे पूछने लगे—"क्या आप लोग अंग्रेजी भी जानते हैं?" तब तक एक महाशय पीछे से बोल उठे—'अरे यह बी ए एल-एल बी हैं!' हमें बड़े जोर की हँसी आयी, किन्तु गम्भीर होकर बैठे रहे और उन लोगों से बातचीत करते रहे। थोड़ी देर के बाद जब सब लोग मन्दिर से चले गये तो वह बी ए एल-एल बी कहनेवाले महाशय रुक गये और हमें एक आदमी देकर कह गये कि यह आदमी आप लोगों को आठ मील जंगल पार कराकर दोहद जानेवाली सड़क पर पहुँचा देगा। यह महाशय वही थे, जिनके घर हम लोग रात को गये थे।

कुछ दिन बाद हम लोग साबरमती पहुँच गये और कीकी बहन के यहाँ ठहर गये। वहाँ पहुँचकर दादा का पत्र मिला कि जब तक हम न आयें, तब तक आगे न बढ़ें। अहमदाबाद में दादा के कुछ मित्र सपरिवार रहते थे। दादा के नाते हमारा भी उनसे परिचय हो गया था किन्तु हम लोगों के ग्रामीण रंग-ढंग देखकर उन लोगों की नाक-भौं हमेशा सिकुड़ी रहती थी और उनके व्यवहार में काफी घृणा और अनादर की भावना परिलक्षित होती थी।

दादा के साबरमती आने पर उनके कहने के अनुसार हम लोगों ने आगे बढ़ने का प्रोग्राम छोड़ दिया और आश्रम की ओर लौट पड़े और कुछ ही दिनों में आश्रम पहुँच गये। उस समय आश्रम में मेरे लिए कोई खास काम नहीं था इसलिए लोगों ने मुझे आश्रम के गुमाश्ता श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय की सेवा में लगा दिया जो उस समय महात्माजी के अनशन के सिलसिले में दिल्ली में मौजूद थे। मैं उनके साथ कलकत्ता चला गया।

● ● ●

निश्चित प्रयोग की चेष्टा

१७.

२१ ८ '४१

श्री सतीशचन्द्र मुखोपाध्याय के साथ दो माह बाद मैं कलकत्ते से बनारस चला आया। इसी बीच आश्रम के मंत्री श्री विपिनभाई बहुत अधिक बीमार पड़े और उनके लिए दो-तीन मास का आराम लेना जरूरी हो गया। एक दिन दादा ने मुझसे इस कार्य का भार ग्रहण करने को कहा, किन्तु मैं इस उत्तरदायित्व को उठाने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि एक तो मैं अपने को इस काम के योग्य नहीं समझता था और दूसरे यह कि यदि मैं प्रधान कार्यालय की जिम्मेदारी लेता हूँ, तो देहात से मेरा सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। इतने दिनों तक देहात में रहते-रहते मुझे देहात से बहुत प्रेम हो गया था और मेरी प्रकृति भी कुछ इस प्रकार की हो गयी थी कि शहरी जलवायु और शहरी लोगों से एक प्रकार की अरुचि-सी उत्पन्न हो गयी थी। किन्तु दादा ने बाध्य किया कि "जैसे कर सको वही करो, जो न समझ में आये, विपिनभाई से पूछ लिया करो।" इस प्रकार दादा के आदेशानुसार मैंने प्रधान कार्यालय का भार ग्रहण किया और तब से गाँव से मेरा सम्बन्ध छूट-सा गया।

सन् १९२८ में समाचारपत्रों में बारडोली सत्याग्रह का विवरण देखने को मिलने लगा। जब मैंने वहाँ के संगठन का विवरण पढ़ा तो मुझे ऐसा लगा कि इस तरह के संगठन के लिए अवश्य ही बहुत सुन्दर क्षेत्र है। प्रधान कार्यालय का कार्य करते हुए भी देहात के कार्य की योजना फिर मेरे मस्तिष्क में स्फुरित होने लगी। उसी वर्ष कलकत्ता में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था; कुछ कारणवश उस साल हम लोग वहाँ की प्रदर्शनी में खादी की दुकान नहीं ले जा सके, किन्तु आश्रम से खादी भेजी जा चुकी थी। इसलिए प्रदर्शनी के बाहर इस खादी को विक्रय करने का भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। जिस कोठी में महात्मा गांधी ठहरे हुए थे

१

उसीके एक कमरे में दूकान खोलकर मैंने खादी बेचना प्रारम्भ किया। गांधीजी की कोठी में जो लोग ठहरे हुए थे, उनमें से कितने ही लोगों ने बारडोली के संगठन में काम किया था। मैं उन लोगों से वहाँ का विवरण पूछता रहा और इस प्रकार पुनः मुझमें ग्राम-संगठन की उत्कंठा जाग उठी।

कलकत्ता से वापस आते ही आश्रमी भाइयों के समक्ष मैंने यह प्रस्ताव रखा कि मुझे पुनः उत्पत्ति-केन्द्रों में काम करने का अवसर दिया जाय किन्तु उन लोगों ने इसे नहीं स्वीकार किया। फिर भी मेरे मस्तिष्क में गाँव की बातें चक्कर काटने लगीं। इसी समय स्वास्थ्य खराब हो जाने से मैंने लम्बी अवधि की छुट्टी ले ली जिससे प्रधान कार्यालय की जिम्मेदारी भी अविनाश भाई के ऊपर आ पड़ी। मैं कश्मीर चला गया और लगभग तीन माह तक वहाँ रहा। श्री कृष्णदास गांधी भी वहाँ स्वास्थ्य-सुधार के लिए आये हुए थे। संयोग से हम लोग एक ही कमरे में रहते थे और गाँव के कार्य की बाबत आपस में विचार-विनिमय किया करते थे। श्री कृष्णदास भाई गुजरात के देहात में काम कर चुके थे। गाँवों के सम्बन्ध में मैं उन्हें अपनी कल्पना बताया करता था और उनकी समालोचना भी सुना करता था। इस प्रकार मैंने कश्मीर के प्रवास-काल में ही देहात के सम्बन्ध में कुछ योजनाएँ बना डालीं। उस समय तक ग्रामोद्योग की बात मेरे भी मस्तिष्क में नहीं आयी थी किन्तु कृष्णदास भाई से वस्त्र-स्वावलम्बन-योजना की बात सुनकर ही मेरे मस्तिष्क में उसी योजना को केन्द्र बनाकर ग्राम-सेवा का कार्य करने की कल्पना प्रस्फुरित हुई।* उस समय मैंने जिस योजना की कल्पना की थी, वह इस प्रकार थी :

ग्राम-कार्य की योजना

---

* क्या मेरी कृष्णदास भाई से वह प्रथम चर्चा भविष्य की किस दिशा की परिचायक थी। उस समय कौन जानता था कि ९ साल बाद १९५४ में मुझे चरखा संघ के अध्यक्ष और कृष्णदास भाई को उसके मंत्री की हैसियत से मिलकर देश व्यापी वस्त्र-स्वावलम्बन कार्य के माध्यम से समग्र ग्राम सेवा का कार्यक्रम चलाना होगा। ११. १. ५५

१ कई गाँवों के मध्य में आश्रम बनाकर देहात के नौजवानों को कताई और बुनाई की शिक्षा दी जाय और उनके द्वारा देहात का काम किया जाय।

२ प्रधान कार्यक्रम वस्त्र-स्वावलम्बन का ही हो, किन्तु साथ ही गाँव की सफाई, प्रौढ़-शिक्षा, ग्राम-सेवक-दल का संगठन, पंचायतों की स्थापना तथा स्त्री-शिक्षा आदि देहात के सर्वांगीण सुधार का कार्य क्रम रहे।

३. देहात के लोगों को हर प्रकार की शिक्षा और मार्ग-प्रदर्शन मिलता रहे।

कश्मीर में ही मैंने इस कल्पना को एक योजना के रूप में लिख डाला और अपने पास रख लिया। छुट्टी के पश्चात् अगस्त में मैं मेरठ लौट आया और सहयोगी साथियों से इस सम्बन्ध में बात की किन्तु उस समय हम आश्रम की ओर से इस प्रकार के विशेष ग्रामकेन्द्र बनाकर काम करने के लिए तैयार नहीं थे और न आश्रम के पास इतने साधन ही थे कि वह इसके लिए कुछ पूँजी लगा सके। इसलिए इसकी चर्चा विशेष गम्भीर रूप से न हो सकी। मैं भी पुनः प्रधान कार्यालय का कार्य लेकर काम करने लगा।

कुछ ही दिन बाद श्री शंकरलाल बैंकर मेरठ आये। मैंने अपनी योजना उनके समक्ष रखी। शंकरलालभाई भी इन दिनों स्थान-स्थान पर वस्त्र स्वावलम्बन के केन्द्र खोलने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्हें मेरा कार्यक्रम पसन्द आ गया और उन्होंने कहा कि आप केवल वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य करते हैं, तो मैं चरखा-संघ की ओर से इसका व्यय वहन करने के लिए तैयार हूँ। मैंने उनसे कहा कि गाँव के काम के सम्बन्ध में मेरा जो कुछ भी अनुभव है उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि ग्रामीण स्वावलम्बन के सम्बन्ध में जितने प्रकार के काम आवश्यक समझे हैं उन सभी को समान रूप से गाँवों के मध्य एक साथ संचालित करने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है क्योंकि एक कार्यक्रम दूसरे कार्यक्रम पर प्रभाव

सकता है। यदि हम ग्राम जीवन के प्रत्येक अंग पर सुधार की योजना नहीं बनाते, तो केवल एक ही कार्यक्रम लेकर हम सफल नहीं हो सकते। किसी भी नये कार्यक्रम को चलाने के लिए सबसे पहली आवश्यकता यह होती है कि जिनके भीतर यह नया कार्यक्रम लेकर चलना है, उनमें नवीनता को ग्रहण करने की मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी हो। यह मनोवृत्ति तभी उत्पन्न होती है, जब उनके जीवन की गति में नये दृष्टिकोण का विकास हो जाता है। यदि हम कोई एक ही एकाङ्गी कार्यक्रम लेकर कोई आर्थिक सुविधा प्राप्त कर कुछ दिन उसे चला भी दें तो उसमें जड़ता ही रहेगी, जीवन नहीं आ सकेगा। जीवन उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम सर्वप्रथम देहात में एक ग्राम-सेवा-शिक्षा-केन्द्र खोलकर उसमें सर्वतोमुखी विकास की योजना चलायें। इतना अवश्य है कि वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य मुख्य रहेगा और इसीको केन्द्र मानकर दूसरे कार्यक्रम भी परिस्थिति के भीतर चलते रहेंगे।

समग्र वृद्धि की आवश्यकता

इसी योजना पर देर तक विचार-विनिमय हुआ। अन्ततः शंकरलाल भाई को इस योजना के सिद्धान्त स्वीकार करने पड़े और कुछ बातों के अतिरिक्त उन्होंने सभी बातें विवरण सहित स्वीकार कर लीं। उन्होंने कहा कि जिस गाँव में आप काम करना चाहते हैं, उसे मैं स्वयं देखना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि वह क्षेत्र वस्त्र-स्वावलंबन के लिए अनुकूल है अथवा नहीं। मैंने योजना तो बना ली थी, किन्तु गाँव का चुनाव नहीं किया था और न मेरठ के देहात के सम्बन्ध में जानकारी ही रखता था। अतएव मैंने उनसे कह दिया कि आज शाम तक गाँव का चुनाव कर दूँगा। कल सबेरे देखने चलेंगे। सहयोगियों की सम्मति से सरधना तहसील के रारना ग्राम में कार्य आरम्भ करने का निश्चय हुआ और दूसरे दिन प्रातःकाल हम लोग भी शंकरलाल भाई को साथ लेकर रारना के लिए चल पड़े। वहाँ पहुँचने पर भी शंकरलालभाई ने गाँव में घूम कर वहाँ के निवासियों से बातचीत की और हमें कार्य प्रारंभ करने की

स्वीकृति दे दी। इसलिए हम लोगों में से भी श्यामबीमाई कार्य प्रारम्भ करने के लिए वहाँ भेजे गये। प्रारम्भ में कई दिनों तक मैं भी उनके साथ वहाँ टिका रहा और गाँव के व्यक्तियों से परिचय प्राप्त करता रहा। अवध के गाँवों के विषय में मेरी जो धारणा थी, वह यहाँ न रह सकी। यहाँ के लोग न उतने अधिक गरीब थे न उतने अधिक अशिक्षित ही। प्रायः सभी मकान अच्छी कोटि के थे अधिकांश का अग्रभाग बिल्कुल पक्का था। यहाँ अधिकतर तगा जाति के लोग निवास करते थे। लोगों की धार्मिक अवस्था अच्छी थी। ये लोग अवध के किसानों की तरह दबी हुई प्रवृत्ति के नहीं थे। शिक्षा का भी इनमें अच्छा प्रचार था। इसके अतिरिक्त यहाँ आर्यसमाज का भी अच्छा संगठन था। इसलिए अवध के किसानों की अपेक्षा उनमें दकियानूसीपन बहुत कम था। स्त्रियों में पर्दे का रिवाज उतना अधिक नहीं था, जितना पूर्वी ज़िलों में पाया जाता है।

रातना गाँव में एक बहुत सुन्दर पक्का मन्दिर है और गाँव की ओर से एक पक्की चौपाल बनी हुई है, जिसमें कोई भी व्यक्ति आकर ठहर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि गाँव की कोई पंचायत होती है, तो उसकी बैठक इसी चौपाल में होती है। चौपाल की देखभाल की ज़िम्मेदारी भी सारे गाँव के लोग वहन करते हैं। हम लोगों ने भी इसी चौपाल में आश्रय लिया। पहले दिन से ही मुझे वहाँ का वातावरण अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हुआ। लोगों की शिक्षा शिष्टाचार और नयी चीज़ों के समझने की प्रवृत्ति देखकर मुझे कुछ ऐसा लगा कि जितना काम मैं यहाँ सालभर में कर सकूँगा उतना अकबरपुर की ओर पाँच साल में भी न हो सकेगा। दो बातों ने मुझे अत्यधिक प्रभावित किया :

रातना की विशेषताएँ

१ चौपाल का होना—जिसका मुख्य अभिप्राय यह था कि पंचायती और सम्मिलित समाज का संस्कार इस इलाके में अब तक वर्तमान है।

२. घर-घर में चरखे की उपस्थिति।

जिस चरखे और पंचायत के लिए मैं टोंडा के देहात में मारा-मारा फिरता था, वे दोनों वस्तुएँ यहाँ पहले से ही मौजूद थीं।

मैं चार-पाँच दिन तक रासना में ही ठहर गया। रासना तथा उसके आसपास के गाँवों में खूब घूमा। सन्ध्या समय रासना के लोग स्वयं चौपाल में आ जाते थे। हम लोग उनसे अपनी योजना पर विचार-विमर्श करते थे। पाँच-छह दिन के बाद मुझे यह अनुभव हुआ कि ये लोग हमारी योजना को भलीभाँति समझ गये हैं और उसे चलाने के लिए इनमें काफी उत्साह है। मैं चार-पाँच दिन रुककर श्री श्यामजीभाई को वहाँ के कार्यक्रम का संचालक बनाकर मेरठ चला आया। श्यामजीभाई ने उनमें बुनाई और कताई सिखाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। मैं प्रति सप्ताह एक बार रासना चला जाता था और उस गाँव के लोगों को हर प्रकार के सुधार की प्रेरणा देता रहता था। कुछ दिन बाद किसानों और उनके बच्चों को पढ़ाने के लिए एक रात्रि-पाठशाला खोल दी गयी।

बुनाई कताई और रात्रि-पाठशाला

मैंने देखा कि किसानों के बच्चे दिन में खाली नहीं रह सकते। जिस दिन से वे कुछ सयाने होते हैं उसी दिन से उन्हें जानवरों को चराना, उनके लिए घास छीलना, गृहस्थी के काम में सहायता पहुँचाना, गोबर बटोरना तथा जंगल की लकड़ी चुनकर लाना आदि काम करने पड़ते हैं और वे दिनभर इन्हीं कामों में फँसे रहते हैं। देहात में हम निःशुल्क शिक्षा का कितना भी उत्तम प्रबन्ध क्यों न करें किन्तु जब तक देहात की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन नहीं होता तब तक वहाँ के बच्चे पाठशालाओं में उपस्थित होने में असमर्थ हैं। इसीलिए मैंने रात्रि पाठशाला की योजना बनायी। इससे हमें एक और लाभ हुआ। उसी गाँव के पास के प्रारम्भिक स्कूल के अध्यापक श्री रामदासभाई उस रात्रि पाठशाला में अवैतनिक रूप से पढ़ाने को तैयार हो गये। इस प्रकार [illegible] साथ-साथ शिक्षा और गाँव की सफाई का कार्य होने लगा।

अखिल भारतीय चरखा-संघ के मंत्री श्री शंकरलालभाई जब मेरठ आये थे तो उन्होंने मुझे यह बताया था कि जिस क्षेत्र में वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्य होगा उस क्षेत्र में चरखा-संघ या आश्रम की ओर से सूत की खरीद नहीं होनी चाहिए। मैंने वस्त्र-स्वावलम्बन के परिश्रम श्री वैकुण्ठलालभाई से भी सम्मति ली, तो उनकी बातों से भी शंकरलालभाई की ही बात समर्थित हुई। अतएव मैंने उस क्षेत्र की सूत-खरीद बन्द कर दी। सूत-खरीद बन्द हो जाने के पश्चात कताई का कार्य शिथिल होने लगा और कुछ ही दिनों में उन दो-चार परिवार के लोगों को छोड़ कर, जिनके साथ हम लोग विशेष घनिष्ठता रखते थे, शेष सभी लोगों की सहानुभूति उस कार्य से समाप्त-सी हो गयी। मैं रखना जाकर इसका कारण अध्ययन करने की कोशिश करता रहा। इस सम्बन्ध में उस गाँव तथा आसपास के गाँवों के बहुत-से लोगों से चर्चा की। इससे कुछ इस क्षेत्र की जनता के प्रति मेरी धारणा बदल गयी। मुझे लगा कि इनमें [illegible] और स्वार्थपरता ही अधिक है। आदर्श की बात उनकी समझ में नहीं आयी। इसलिए मैंने सोचा कि जब तक हम इनके सूत का कुछ भाग खरीद नहीं लेते तब तक इनमें वस्त्र-स्वावलम्बन का कार्यक्रम चलाना कठिन है। सदियों की शहरी और बाजार सभ्यता हमारे ग्राम समाज को ऐसी शैली में डाल चुकी है कि आज कोई भी काम बगैर बाजारू मनोवृत्ति के करना कठिन हो गया है। इस इलाके में घूमने पर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि यदि हमें वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्य में सफल होना है, तो आवश्यक है कि उनके सूत के लिए किसी का बाजार खोल दें तथा प्रचार और शिक्षा द्वारा उन्हें इस बात के लिए तैयार करें कि अपना कता हुआ सूत अधिक-से-अधिक अपने ही प्रयोग में लायें। इसके साथ ही एक बात और भी समझ में आयी कि वस्त्र-स्वावलम्बन के लिए अन्य प्रकार की आय में से कपड़े के लिए खर्च करना ठीक नहीं, क्योंकि इस कार्य के लाभ को वे तभी समझ सकते हैं, जब उन्हें इसके लिए कुछ

सूत न खरीदने की नीति की निष्फलता

खर्च न करना पड़े। इस स्थिति में हम उन्हें समझा सकेंगे कि वे कपड़े के लिए घर का कितना अनाज बाहर भेज देते हैं। यह तभी हो सकता है, जब उनकी खादी के तैयार होने का अन्य व्यय उनकी बढ़ती सूत की बिक्री से प्राप्त हो जाय। इन सब बातों पर सोचने से मुझे स्वावलम्बन-क्षेत्र में सूत न खरीद करने की पद्धति भ्रमपूर्ण प्रतीत हुई। इसलिए मैंने पुनः वहाँ का सूत खरीद लेने की क्रिया शुरू कर दी। दूसरी बाधा बुनाई की थी। उस देहात में कुछ ऐसे बुनकर थे, जो २७ इंच अरज का कपड़ा बुना करते थे। वहाँ के लोग उनसे पहले भी चादर आदि के लिए मोटे कपड़े स्वयं बनवा लिया करते थे। कुछ दिन प्रचार करने के पश्चात् और बुनाई-कताई की शिक्षा देने के बाद लोग अधिक सूत भी कातने लगे और धोती आदि बनवाने का आग्रह करने लगे।

श्यामजीभाई साबरमती आश्रम में कई वर्ष तक बुनाई का काम सीख चुके थे। उस गाँव के पास का ही एक बुनकर आश्रम की खादी बुना करता था। उसीको भी श्यामभाई की देखरेख में लम्बे अरज का कपड़ा बुनने को देकर गाँववालों की माँग पूरी करने की व्यवस्था की गयी। श्री श्यामजीभाई के द्वारा उस बुनकर की कठिनाइयाँ भी सुलझ जाती थीं। इस प्रकार धीरे-धीरे वहाँ के लोग स्वावलम्बी होने लगे।

कुछ दिन बाद श्री श्यामजीभाई अपनी पत्नी गुलबदन बहन और अपनी छोटी बच्ची को भी वहाँ पर ले आये।

मैं पहले लिख चुका हूँ कि गाँव का पुनर्गठन तब तक असम्भव है, जब तक वहाँ की स्त्रियाँ शिक्षित न कर दी जायँ और उनका सुधार न हो जाय। गुलबदन बहन के आने से मुझे इस दिशा में भी कुछ करने का

स्त्रियों का शिक्षण और सुधार

अवसर मिला। एक दिन मैंने पखना गाँव के स्त्रियों को बुलाकर यह समझाया कि प्राचीन काल में हमारे देश की स्त्रियाँ कैसी थीं और आज कैसी हो गयी हैं। मैंने बताया कि संसार और समाज का मूल संगठन स्त्रियों के हाथ में है। जब तक वे नहीं जागतीं तब तक हम और आप समाज को एक पग

भी आगे नहीं बढ़ा सकते। गृहस्थी में पुरुष चाहे कितनी भी आय करे और चाहे कितना ही उत्तम प्रबन्ध करे, किन्तु स्त्री यदि अयोग्य और संयम-हीना हुई तो सारा घर नष्ट हो जाता है दूसरी ओर पुरुष कितना भी गरीब क्यों न हो किन्तु यदि स्त्री सुप्र बन्धकारिणी हुई तो घर की रक्षा हो जाती है। इन्हीं घरों और गाँवों की समष्टि का ही नाम समाज या संसार है। गाँववालों ने मेरी बातें समझ लीं और इस दिशा में उत्साह दिखाने लगे। हम लोगों ने आपस में सलाह करके जिस घर में श्यामभाई रहते थे, उसी घर के एक दालान में स्त्रियों के लिए एक महिला विद्यालय खोल दिया। किन्तु उसमें केवल लड़कियाँ ही आती रहीं। घर की बहुएँ नहीं आती थीं। हमने यह सोचकर कि स्त्री-शिक्षा की दिशा में कुछ-न-कुछ तो हो ही रहा है, इतने पर ही सन्तोष किया और उन्हींको लेकर विद्यालय चलाने लगा।

महीने पर महीने बीतने लगे और उत्तरोत्तर आश्रम के प्रति गाँव वालों की सहानुभूति में वृद्धि होने लगी। योजना के एकाध एकदेशीय कार्यक्रम उत्पत्ति करते रहे। किन्तु जो योजना हम लोगों ने कटमीर में बनायी थी उसे सक्रिय रूप देने का अभी तक कोई मौका नहीं मिला। देहात के मध्य में केन्द्रीय आश्रम बनाकर ग्रामीण समाज के सर्वाङ्गीण पुनर्संगठन की कल्पना अब तक कल्पना ही बनी रही। मैं इस योजना को वास्तव में परिणत करने का अवसर ढूँढ़ा करता था किन्तु इसके लिए यह आवश्यक था कि मैं पर्याप्त समय तक रानता रह सकूँ। अतः मैंने विचार किया कि यदि श्री अविनाशभाई प्रधान कार्यालय का कार्य भार लें तो मुझे काफी समय तक गाँवों में रहने की सुविधा मिल जायगी। इसी ध्येय से मैं अविनाशभाई को रानता ले गया और उनसे अपनी योजना के सम्बन्ध में बातचीत की। उन्होंने मुझे निश्चित आश्वासन दिया कि वह अपने इच्छानुसार निश्चित समय तक रानता और मैं र सकते हैं। फिर क्या था! मैं रानता में ठहर गया और इस क्षेत्र के विचार शीलियों से अपने कार्यक्रम के विषय में चर्चा की। उन लोगों ने मुझे

काफी उत्साहित किया और रावना के दो-तीन मित्रों ने गाँव से कुछ दूर मुझे लगभग दस बीघे जमीन दान कर दी। इस स्थान पर लगभग १ बीघे पक्की जमीन थी जो उसी गाँव के लोगों की थी। गाँववालों ने आश्वासन दिया कि आप आवश्यकता पड़ने पर और अधिक जमीन ले सकते हैं। मित्र मास्टर साहब ने रात्रि-पाठशाला में रात को पढ़ाने का भार उठाया था, उन्होंने तो आश्रम के ही हाते में घर बनाकर सपरिवार रहने का वादा किया। इसके लिए श्री शंकरलालभाई ने १८) की स्वीकृति चरखा-संघ से आश्रम को प्रदान की और हम लोगों ने वहाँ आश्रम खोलने का निश्चय कर लिया।

इसी समय चरखा-संघ का कार्य आश्रम की सुपुर्दगी में आ गया और श्री विचित्रभाई जो इन दिनों चरखा-संघ के मंत्री का कार्य कर रहे थे, मेरठ आ गये और उन्होंने आश्रम के प्रधान कार्यालय का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया। मुझे आशा बँध गयी कि मैं अब अवकाश पाकर ग्राम-सेवा का कार्य-भार लेकर पुनः रावना में बैठ सकूँगा, किन्तु ऐसा हो नहीं सका।

इसी समय सन् १९३९ के सत्याग्रह का युद्ध छिड़ गया। चारों ओर से खादी की माँग बेहद बढ़ गयी। इधर चरखा-संघ की जिम्मेदारी आश्रम के सिर पर आ पड़ने से आश्रम पर बहुत बोझ पड़ गया और आश्रम के खादी-उत्पत्ति के कार्य से मुझे छुट्टी न मिल सकी। मुझे मेरठ क्षेत्र के बाहर के केन्द्रों की देखभाल करने का काम मिला था। तीन-चार माह की अवधि में जब कार्य कुछ संगठित हो चला और मुझे पुनः छुट्टी मिलने की आशा हुई तो अचानक श्री शंकरलालभाई मेरठ आये और बंगाल के प्रमुख आश्रम के सभी कार्यकर्ताओं के जेल जाने के कारण उन्होंने आश्रम से मेरी सेवा अभय आश्रम के लिए माँगी। फलतः उसी समय बंगाल चला जाना पड़ा और जो कुछ मैंने रावना का सोच रखा था वह नहीं हो सका। इधर कुछ दिनों बाद श्री श्यामजीभाई भी गिरफ्तार कर लिये गये। इसलिए यहाँ के काम की ओर भी धक्का लगा और आन्दोलन के दिनों में लगभग नहीं के बराबर रह गया। कालान्तर में

उत्तरदायित्व नहीं लिया। मुझे इस बात से भी प्रसन्नता हुई कि अब आश्रम के सबसे उत्तरदायी भाई गाँव में जाकर बैठेंगे, तो आश्रम के कार्यक्रम में ग्राम-संगठन का ही कार्य प्रधान हो उठेगा और हम लोगों को भी धीरे धीरे देहात में जाने का अवसर मिलेगा। सरकार ने जब रसड़ा केन्द्र वापस किया, तो मैंने चित्तभाई पर वहाँ बैठने के लिए जोर दिया। *चित्तभाई रसड़ा चले भी* गये किन्तु कई कारणों से बाध्य होकर कुछ समय बाद उन्हें मेरठ वापस चला आना पड़ा। फिर वे मेरठ से ही आश्रम के कुछ लड़कों को भेजकर वहाँ का काम चलाने लगे किन्तु इस ढंग से वहाँ का कार्य आगे न बढ़ सका और परिस्थिति इस अवस्था तक पहुँच गयी कि मुझ पर खादी-भंडारों की जिम्मेदारी आ पड़ी। अतः रसड़ा का काम बन्द कर दिया गया। मैंने अपना सारा ध्यान सिर्फ भण्डारों की व्यवस्था में ही केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार पुनः मुझे गाँव की बातें भूल जानी पड़ीं।

रसड़ा-केन्द्र का अन्त

● ● ●

यह भी लिख दिया कि गाँव तलाश करते समय इन बातों को ध्यान में रखना होगा :

१ गाँव छोटा हो, साफ हो तथा अच्छे जलवायुवाला हो।

२ उस क्षेत्र में कांग्रेस आदि का काम न हो, जिससे मुझे किसी अन्य प्रकार के कार्यक्रम में न फँसना पड़े।

३ गाँव का मुखिया सभ्य और सहानुभूतिपूर्ण हो।

४ जहाँ तक सम्भव हो, गाँव नदी के किनारे बसा हो।

अकबरपुर के भाइयों ने रखौवाँ गाँव का चुनाव किया। एक सप्ताह पश्चात् जब मैं अकबरपुर गया, तो उन लोगों ने मुझसे कहा कि जिस

रखौवाँ का चुनाव

गाँव का चुनाव किया गया है, उसमें नदी के अतिरिक्त सभी शर्तें पूरी हो जाती हैं। मैं तो गाँव में जाने के लिए उत्सुक था ही, इसलिए तुरन्त अकबरपुर से रखौवाँ के लिए रवाना हो गया। मेरे साथ लालसिंह और करण भी थे।

गुसाईंगंज पहुँचकर मैं एक मन्दिर में रुक गया। रखौवाँ के एक अध्यक्ष ने अपने दो कमरे, जिनसे वह भूसा रखने और घोड़ा बाँधने का काम लेते थे, हमें दे दिये। लालसिंह उन कमरों की कुछ साफ-सफाई करके वापस लौट आया। तत्पश्चात् हम लोग जाकर रखौवाँ में बैठ गये।

रखौवाँ गुसाईंगंज से ५ मील दक्षिण की ओर है। आने-जाने की सड़क भी ठीक नहीं है। लोग उस क्षेत्र को नाम देहात कहा करते हैं। सन् १९२३-२४ में मुझे इसी फैजाबाद जिले की टाँडा तहसील के देहात में भ्रमण करने का अवसर मिला था। अगस्त सन् १९२४ में मैंने वहाँ पदयात्रा आरम्भ की थी। दस वर्ष के पश्चात् ११ दिसम्बर सन् १९३४ को उसी जिले के इस गाँव में आकर स्थायी रूप से बस गया। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आकस्मिक बीमारी के कारण बरसों की दबी हुई इच्छा पूरी हो गयी। मनुष्य-जीवन में कभी-कभी शाप भी वरदान का रूप प्राप्त कर लेता है। ● ● ●

बेकार। इनके लाने कौन परदेसी विचार कौन मजी। आवे हैं स्वदेशी के प्रचार करे खातिर, मुला दिखवा में हमसे विलायतिया मरे बैठे हैं!"

तीसरा—"हमका पढ़े कहत हैं, अपनां राम कहत हैं। इनके बाप भोलीभर रुपया रहत तो हमहूँ का पढ़ के और पोथी से कपड़ा बुनवा के दुई से बड़ के मजमाइत। यहाँ खाने बिना मरित हैं, ए ज्ञान के नखरा झाड़त हैं!"

चौथा कहता है—"ये कहत रहे कि ब्याह-शादी में ढेर खरचा जिनि करो। भाखा बाबा कौन बात है कौन कुछ बेकार है, ई कुछ धीम-धाम नाहीं करे के चाही। भला उनसे पूछो तो कि इनके शादी में इनके माई-बाप हँसिया भर मुँह करके माठे रहे और इनके यहाँ लड़का-लड़की के ब्याह-शादी माँ बुद्धा-बुढ़िया का लड़िया में बैठाके हाँक देत हैं क्या!"

हम लोग जब देहात में जाकर देहात के लोगों को सुधरने का उपदेश देते हैं, तो वे लोग हमारी बातों की इसी प्रकार दिल्लगी उड़ाते हैं, क्योंकि वे अपने सदियों से चले हुए रस्मो-रिवाज के सामने दूसरी बातें ऊँची नहीं मान सकते। इससे उनके प्रच्छन्न आत्माभिमान पर चोट पहुँचती है और उनकी आत्मा विद्रोही बन जाती है।

मैंने रौंटा के देहात में काम करते समय यह भी देखा था कि जिन्हें वे अपना स्वजन समझते हैं, उन्हींकी बात सुनने के लिए तैयार होते हैं। जब दूसरे लोग उनकी गलती बताने जाते हैं, तो वे उन्हें बरदाश्त नहीं करते। यह उनका स्वाभिमान ही है कि जितनी वे अपने भाई की [illegible] बरदाश्त करेंगे उतनी परगामी की नहीं करेंगे। जितनी पड़ोसी की सहन करेंगे उतनी किसी दूर के बाहरी आदमी की नहीं। इसलिए मैंने अपने साथियों से कहा कि इस समय गाँव में रहना और वहाँ बस जाना ही हमारा कार्यक्रम है और कुछ नहीं। इस प्रकार हम लोग दिनभर गाँव में रहने का ही कार्यक्रम चलाने लगे। सवेरे उठना, चक्की चलाना, अपना भोजन बनाना, कपड़ा धोना, अपने स्थान तथा आसपास की गंद को साफ रखना और चरखा चलाना आदि कामों में हम समय ही

गये। गाँव के लोग हमारे पास आते थे, बैठते थे बातें करते थे। हम लोग भी उनके घरों में जाते थे और बैठते थे। धीरे-धीरे लोगों ने हमारे विषय में बहुत कुछ जान लिया और आसपास के दो-एक गाँवों से भी लोग हमें देखने आने लगे।

गाँव में घूमते समय कभी-कभी हमारे साथी लालसिंह गाँव के दकियानूसी लोगों से बहस करने लग जाते थे। मैं उन्हें रोकता था और कहता कि ऐसे विवाद से लोग तुमसे बिल्कुल ही जायेंगे और तुम कुछ काम नहीं कर सकोगे। वे मेरी बातों से घबरा-से उठते थे और कभी-कभी निराश होकर कहने लगते थे कि यदि गाँव के लोग ऐसे ही अन्धकार में पड़े रहे, तो हमारे यहाँ आने से ही क्या लाभ हुआ? क्या खाना बनाना बर्तन माँजना और चक्की चलाना ही हमारा काम है? मैं उन्हें समझाता था कि घबराने की बात नहीं, सब कुछ स्वतः हो जायगा। पहले गाँव के कुटुम्ब में तुम भी शामिल होने का प्रयत्न करो। फिर धीरे-धीरे लोग जब हमारे सम्पर्क में आयेंगे तो अपने-आप स्वभावतः बदलने लगेंगे।

हम लोग जिस क्षेत्र में आकर बैठे थे वह अयोध्या के समीप ही था इसलिए वहाँ प्राचीन रूढ़ियों का प्रचलन था। लोग बहुत गौर से देखा करते थे कि हम लोग क्या खाते हैं और किस तरह रहते हैं। मैं बंगाली था, इसलिए लोगों में और भी उत्सुकता थी। हम लोगों के कुरता पहनकर भोजन करने के ढंग पर पर्याप्त टीका-टिप्पणी होती थी। हम लोग मिलकर एक साथ भोजन बनाते थे यह भी उनके लिए एक विषम समस्या थी। खाना खाने के बाद चप्पल पहनकर हाथ धोने जाते थे इस पर भी लोगों को काफी एतराज रहता था। इस विषय पर हमसे गाँव के लोग खूब वाद-विवाद किया करते थे। हम भी उनका उत्तर देने के लिए विचित्र-विचित्र सिद्धान्त खोज निकालते थे। हमारे आविष्कृत सिद्धान्तों को जब तुम सुनोगी तो तुम्हें बड़ी हँसी आयेगी। कपड़ा पहनकर खाने के विषय में हम उनसे कहा करते थे कि हमारे देश के प्राचीन ऋषि-

हमारे रहन-सहन की देखरेख

७

महर्षि कोई बेवकूफ तो थे नहीं उन्होंने जो रिवाज आपके लिए बनाया है, वह ठीक है। आप लोगों को कपड़ा पहनकर नहीं खाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने में सफाई नहीं रह सकती। आप लोग रोज नहाते समय धोती तो धो लेते हैं, किन्तु अन्य कपड़े नहीं धोते। इसीलिए कुरता आदि पहनकर खाना मना कर दिया गया है। किन्तु हम लोगों के लिए यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि हम लोग नित्य स्नान करते समय अपने सभी इस्तेमाली कपड़े साबुन से साफ कर लिया करते हैं। इस ढंग से बात करने में दो लाभ होते थे। एक तो उनकी प्राचीन प्रणाली का सम्मान बना रहता था और दूसरे यह कि समाज के प्रचलित आचार-व्यवहार केवल आचार के ही लिए नहीं हैं, बल्कि उनके पीछे विचार भी मौजूद हैं और हरएक आचार के साथ विचार का होना अनिवार्य है, इन बातों की धारणा भी उनके मस्तिष्क में धीरे-धीरे उत्पन्न हो जाती थी।

हमारा तर्क

एक साथ मिलकर खाने के विषय में हम उनसे कहते थे कि हम लोग आपसे तो नहीं कहने जाते हैं कि आप भी हमारे साथ खाइये। आप अपना धर्म निबाहिये हम अपना निबाहें। हम लोग तो गांधी बाबा की फौज के सिपाही हैं। भला कहीं फौज में भी पचाव चूल्हे चलते हैं।

इस प्रकार गाँववालों ने धीरे-धीरे अपनी स्थानीय सामाजिक प्रथा के सर्वथा विरुद्ध हमारी रहन-सहन स्वीकार कर ली और हम उत्तरोत्तर उनके निकटतर होते गये और गाँव के अन्य सभी परिवारों में हमारा भी स्थान होने लगा। स्त्रियाँ भी हमें अपने कुटुम्बी जैसा ही देखने लगीं।

अब हम लोगों ने धीरे-धीरे गाँव में चरखा चलवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। तीन-चार चरखे वहाँ पहले से ही चल रहे थे हम लोगों की कोशिश से चरखा बढ़ने लगे। चरखा तो लोग कात लेते थे किन्तु रूई धुनने के लिए तैयार नहीं थे। रजौरी गाँव ब्राह्मणों का था अतः उन्हें डर था कि ताँत छूने से धर्म चला जायगा। हम लोग उन्हें बहुत समझाते थे किन्तु वे किसी तरह राजी नहीं

चरखे का श्रीगणेश

होते थे। इसी बीच हमने उनके घरों में प्रायः चालनेवाली चर्मनिर्मित चलनी देखी। अनाज साफ करने का सूप भी ताँत से बँधा हुआ देखा। तब हमने उनसे कहा कि आप लोग खाने-पीने की सारी सामग्री तो चमड़े और ताँत से मिला देते हैं, किन्तु केवल ताँत को हाथ से छूने में परहेज करते हैं। मेरी इस दलील का जवाब गाँव की किसी स्त्री या पुरुष के पास नहीं था। इस तरह धीरे धीरे उनमें धुनाई का प्रचार हो चला।

रणीवाँ गाँव के मुखिया पं॰ लालताप्रसाद मिश्र के आग्रह से हम लोग रणीवाँ आये थे। अब लालताप्रसादजी हम लोगों के साथ बैठकर नियमित रूप से चरखा चलाने लगे, तब हमारा काम बहुत सरल हो गया। उनकी देखादेखी गाँव के अन्य लोग भी चरखा कातने लगे। प्रारम्भ में गाँववालों की यह धारणा थी कि चरखे के सूत से धोती और साड़ी नहीं बन सकती है। उनका यह सोचना स्वाभाविक भी था, क्योंकि उस गाँव में जो दो-तीन चरखे चलते थे उनमें चार-पाँच नम्बर का ही सूत कतता था और साधारणतया लोग उसे बेच दिया करते थे। हम लोगों ने वहाँ पर वस्त्र-स्वावलम्बन के ही उद्देश्य को दृष्टि में रखकर काम प्रारम्भ किया था। पहले-पहल गाँव के सूत से बनी जनानी साड़ी बनकर जब रणीवाँ आयी, तो वहाँ के इतिहास में यह एक नयी बात थी। लोग तमाशा देखने के लिए इकट्ठा होने लगे। पर्दे के कारण जो स्त्रियाँ वहाँ नहीं आ सकती थीं वे उसे अपने घर मँगाकर देखती थीं। अपने सूत का कपड़ा बनते देखकर लोगों की अभिरुचि बढ़ने लगी और यह हमारे लिए भी चरखा-प्रचार का एक साधन हो गया। चरखा सिखाने के क्रम में गाँव की स्त्रियों और बच्चों से हमारी घनिष्ठता बढ़ने लगी। देखते ही देखते चरखा सिखाने की इतनी माँग आने लगी कि हम लोगों को एक मिनट के लिए भी छुट्टी नहीं मिलती थी।

गाँव के सूत की पहली साड़ी

● ● ●

४-९-४१

रणीवाँ गाँव फैजाबाद जिले के ठीक मध्य में पड़ता है। गुसाईंगंज स्टेशन से ५ मील दक्षिण बसी हुई ब्राह्मणों की यह छोटी-सी बस्ती देखने में गाँव नहीं जान पड़ती। इसे पुरवा या टोला ही कहा जा सकता है।

रणीवाँ की बस्ती

इसमें ६१ घर ब्राह्मणों के तथा १०-१२ घर मजदूर अहीर, बनिया और बढ़ई, कुम्हार वगैरह के कुल मिलाकर पचास घर होंगे। इतर जातियों के लोग ब्राह्मणों के आश्रित हैं और उन्हींकी सेवा-टहल किया करते हैं। ब्राह्मण लोग भीटी के ताल्लुकेदारों की अधीनता में पोस्तेदार हैं। ये लोग जमीन के मालिक होते हैं, किन्तु लगान ताल्लुकेदारों को देते हैं। इस गाँव के लोगों के पास जमीन बहुत थोड़ी है, जिससे वे किसी तरह अपना निर्वाह कर लेते हैं। इस गाँव के उत्तर और दक्षिण दोनों ओर नदी है। सड़कों की सुविधा न रहने से बाहर से इसका बहुत कम सम्बन्ध रहता है। जिला बोर्ड और सरकारी कर्मचारी इधर बहुत कम आते हैं। इसलिए इस ग्राम को पिछड़ा

बहुत पिछड़ा गाँव

हुआ इलाका कहा जाता है। प्राचीन रूढ़िवाद का वातावरण यहाँ अधिक देखने में आता था। गाँव में खान-पान के भेद-भाव के अतिरिक्त और कोई आन्दोलन नहीं चलता था। कौन किसका निमन्त्रण खाता है, इसी एक बात की चर्चा गाँव की दिलचस्पी का प्रधान विषय थी। कांग्रेस की बातों से इन्हें कोई सम्बन्ध नहीं था। हम लोगों के बारे में भी तरह-तरह की कहानियों का प्रचार होता था। लोग आपस में कहते थे कि एक बंगाली बाबू आये हैं। कहीं बम पार्टी बनाने का विचार तो नहीं है? एक बार बच्चों को तमाशा दिखाने के लिए मैं आतशी शीशे से कागज जला रहा था कि गाँवभर की औरतें यह कहती हुई इकट्ठी होने लगीं कि बंगाली

बाबू आदि से आग लगा देते हैं। इस तरह की विभिन्न कहानियाँ गाँव में फैली हुई थीं।

यद्यपि इस इलाके को कोई नयी बात समझना बड़ा कठिन काम था फिर भी मुझे यही जगह पसन्द आयी। मैंने अपने साथियों से पहले ही कह दिया था कि ऐसे गाँव की खोज की जाय, जहाँ किसी प्रकार का सार्वजनिक कार्य न होता हो, अपने स्वास्थ्य को ही दृष्टिबिन्दु में रखकर मैंने ऐसा कहा था किन्तु दो-तीन माह इस क्षेत्र में रहने के बाद मुझे ऐसा लगा कि इस क्षेत्र के लोगों में अन्य स्थानों की अपेक्षा भारतीय संस्कृति अधिक दिखाई देती है। अशिक्षित, मूर्ख और दकियानूसी समाज के होते हुए भी ये लोग भक्ति और प्रेम में अतुलनीय हैं। इसलिए उत्तरोत्तर मुझमें उत्सुकता उत्पन्न होने लगी कि

दकियानूसी विचार, पर प्रेम और श्रद्धा से भरा हृदय

मैं इसी क्षेत्र में काम करूँ। मैंने उस क्षेत्र में स्वावलम्बन-कार्य के प्रचार के लिए एक योजना बनाकर शंकरलालभाई के पास भेज दी। श्री शंकरलालभाई ने मेरी योजना स्वीकृत कर ली। तदनुसार मैंने मेरठ को पत्र लिखा और वहाँ से स्वीकृति आ गयी। रणीवाँ आने के समय यह निश्चय हुआ था कि करलभाई मुझे रणीवाँ में बैठाकर अकबरपुर वापस चले जायँगे। इसलिए वे कभी अकबरपुर रहते थे और कभी रणीवाँ। किन्तु जब रणीवाँ में आश्रम की ओर से ग्राम-सेवा-कार्य का केन्द्र खोलने का निश्चय हुआ, तो वे भी स्थायी रूप से मेरे साथ रहने लगे।

इस प्रकार अब रणीवाँ आश्रम की ओर से ग्राम-सुधार का स्थायी केन्द्र बन गया। मैं उसके लिए स्थायी कार्यक्रम सोचने लगा। मैंने तुम्हें लिखा था कि सदियों की गरीबी ने ग्रामीण लोगों को एकदम बेहोशी की हालत में पहुँचा दिया है, इसलिए जब तक हम उनके जीवन में चेतना का संचार नहीं करेंगे तब तक उनमें कोई भी कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता। जीवन-

ग्राम-सेवा का आधार-बिन्दु

संचार के लिए यह अनिवार्य है कि हम उनके जीवन के प्रत्येक अंग की

एक साथ सेवा करें। हम किसी एक योजना को लेकर सफल नहीं हो सकते। यदि केवल गाँव की स्वच्छता का ही कार्यक्रम लिया जाय तो हम जीवनभर गलियों ही साफ करते रह जायँगे और उनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं ला सकेंगे। यदि हम केवल चरखा ही चलवाते रहें तो ग्रामीण जनता को कुछ थोड़े से पैसे तो अवश्य दिला सकेंगे किन्तु बापू चरखे के द्वारा ग्रामीण समाज में जो परिवर्तन लाना चाहते हैं, वह नहीं हो सकेगा। गाँव के लोग सूत कातकर हमारे पास लायेंगे और हम उन्हें पैसा दिया करेंगे। इससे तो उनकी ठीक वही स्थिति हो जायगी जो हमने मध्यप्रदेश के बिलासपुर और गोंदिया में देखी थी जहा के हजारों व्यक्ति बीड़ी बनाकर रोजी कमाते हैं, किन्तु उनमें कोई चेतना नहीं उत्पन्न होती।

सन् १९२९ ई० में बापू दौरा करने के क्रम में मेरठ आये हुए थे। एक दिन हमारी शंकाओं के उत्तर देते हुए बापू ने कहा था कि 'यदि तुम लोगों ने बहिनों से सूत लेकर खादी बना ली तो तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हें तो प्रत्येक बहिन को स्वराज्यवादिनी बना देना है।' बापू की ध्वनि हमारे कानों में अब तक गूँजती रही और इस बात का क्षोभ बना रहा कि हम लोग अब तक उनके इच्छानुसार काम नहीं कर सके। यद्यपि मैंने योजना तो वस्त्र-स्वावलंबन की ही बनायी थी, फिर भी विचार था कि ग्राम-संगठन के सर्वांगीण कार्यक्रम को कार्यरूप में परिणत करूँगा। हमने देखा है कि लोग देहात में जाकर ग्रामीणों की मैसे-कितनियों देखकर घबड़ा-से उठते हैं और उस घबराहट में कभी कुछ और कभी कुछ करने लग जाते हैं। इस प्रकार ग्रामीणों की सेवा नहीं हो सकती।

निराशा हमारे एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम इससे तो हमारी शक्ति और हमारे साधन धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं और ग्रामीणों को कोई स्थायी लाभ नहीं पहुँच पाता और अन्त में काम बन्द कर देना पड़ता है। अन्ततोगत्वा उन्हें कहना पड़ता है कि जब तक हम शासन का पूरा-पूरा अधिकार अपने हाथ में नहीं कर लेते,

तब तक ग्राम-संगठन आदि की बात करना पागलपन मात्र है। उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही है क्योंकि जब हम अपनी भीतरी शक्ति का विश्वास खो बैठते हैं, तो हमारे लिए बाहरशक्ति पर भरोसा करना अनिवार्य सा हो जाता है। इसीसे हम प्रारम्भ में प्रधानतः एक ही मुख्य कार्यक्रम लेकर गाँव में आते हैं। जब तक हम गाँव की सर्वाङ्गीण समस्याओं का अध्ययन कर उनके सुधार कार्यक्रम को उस मुख्य कार्यक्रम से समन्वित नहीं कर देते तब तक वह मुख्य कार्यक्रम भी निर्जीव-सा ही रहता है। इसीलिए यद्यपि हमने वस्त्र-स्वावलम्बन के ही प्रोग्राम को लेकर रणीवाँ में कार्य करना प्रारम्भ किया था तथापि हम उस क्षेत्र की प्रत्येक समस्या को समझने की कोशिश करते रहे। प्रारम्भ में जब साथियों ने कार्यक्रम के लिए उत्सुकता प्रकट की तो मैंने उनसे कहा कि गाँव में गाँववालों की तरह रहना ही कार्यक्रम है, क्योंकि मुझे यह विश्वास हो गया था कि यदि हम गाँव में ग्रामीण बनकर रहने लग जायँगे और वहाँ की समस्याओं के प्रति सजग रहेंगे तो कार्यक्रम स्वतः हमारे सामने आते जायँगे। जो काम जिस क्रम से हमारे सम्मुख आयगा, उसी क्रम से काम करना उस क्षेत्र के लिए सर्वोत्तम होगा। इसलिए प्रारम्भ में हम उन्हें चरखा चलाने तथा अपने सूत के बने हुए कपड़े पहनने की शिक्षा देते रहे। उनके साथ उठते-बैठते तथा उनसे विभिन्न प्रकार के वार्तालाप करते समय हम देश की परिस्थिति तथा उसके प्रति गाँववालों के कर्तव्य के सम्बन्ध में भी बातचीत किया करते थे।

इस प्रकार रणीवाँ में रहते-रहते दो-तीन महीने कट गये। ● ● ●

सफाई की योजना   २१

१९'४१

मैं तुम्हें लिख चुका हूँ कि प्रारंभ में हमारा ध्येय केवल यही था कि हम ठीक ढंग से रखीवों में बस जायें तथा धीरे-धीरे ग्राम-सेवा के काम में भी आगे बढ़ते रहें। हम लोगों का केवल ग्राम-वास ही गाँववालों को बहुत-सी बातें सिखाता था। हमारे चक्की चलाने, खाना बनाने, मकान की मरम्मत करने, बर्तन माँजने और अपने रहने के स्थान के निकट सफाई करने आदि कामों को लोग बड़े ध्यान से देखा करते थे। लोग यह सोच नहीं सकते थे कि भले घर के व्यक्तियों का और वह भी पुरुषों का यह सब काम करना सम्भव है। जब हम लोग सफाई आदि का काम करते थे, तो कभी-कभी गाँव के कुछ लड़के भी शौकिया हमारे साथ हो लेते थे। इस प्रकार उनके मस्तिष्क से इन कामों के प्रति घृणा की भावना धीरे-धीरे अप्रत्यक्ष रूप से हटती जा रही थी। गाँव के मुखिया भी लालताप्रसादजी बातों ही बातों में एक दिन मुझसे कहने लगे कि "धीरेन्द्रभाई, आप लोगों के आने से हम लोगों की कपड़े की समस्या तो धीरे-धीरे हल हो रही है। एक बात का विशेष लाभ यह दिखाई दे रहा है कि अब हमारे यहाँ के लड़के अपने हाथ से कोई काम करने में बेइज्जती नहीं महसूस करते। सबेरे उठकर दातुन करने के पश्चात् जब तक मैं अपना दरवाजा और आँगन स्वयं अपने हाथ से साफ नहीं कर लेता हूँ, तब तक मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता है।" हमारे घर और दरवाजे की सफाई देखकर और लोग भी अपने दरवाजे की सफाई करने में लग गये।

अब तक हम लोगों ने परिश्रम या गाँव की स्वच्छता का कार्यक्रम नियमपूर्वक कभी गाँववालों के समक्ष नहीं रखा था, क्योंकि इन कार्यक्रमों को नियमतः गाँववालों के सामने रखने पर हमें विश्वास ही नहीं था। स्व-स्वावलम्बन के मूल कार्य के साथ-साथ प्रत्येक कार्यक्रम समय पाकर अनायास ही हमारे सामने आता जायगा। हमारा काम केवल उन्हें श्रम देकर उनमें धामआस्य

वेतनाविहीन सफाई व्यर्थ

स्थापित करना ही होगा। मुझे इस प्रकार का विश्वास पहले से ही हो गया था इसीलिए हम लोग झाड़ू फावड़ा और टोकरी लेकर गाव की सफाई करने कभी नहीं निकले। एकाध दिन हमारे साथी भी लालसिंह भाइ ने इसकी चर्चा भी की और कहा कि महात्माजी तो गाँव की सफाई का ही कार्यक्रम सबसे महत्व का बतलाते हैं। किन्तु मैं उन्हें सदा ही मना करता रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं गाँव की गन्दगी का महत्व नहीं समझता। सच तो यह है कि मुझे गाँव में रहने पर किसी बात से घबराहट होती है, तो वह गन्दगी से ही। शुरू शुरू में जब बनारस के चौराहा गाँव में गया था तो वहाँ की गन्दगी देखकर मैं व्याकुल हो गया था किन्तु रणीवाँ में मैं देख रहा था कि अभी गाँव की सफाई का कार्यक्रम हाथ में लेने का समय नहीं आया है। जब तक हम गाँववालों के साथ रहकर गन्दगी के प्रति उनके दिमाग में घृणा नहीं उत्पन्न करेंगे तब तक केवल गाव की गली साफ करने का कोइ परिणाम नहीं होगा। चेतनाविहीन ग्रामवासी उसके प्रति कोइ ध्यान नहीं देंगे।

धीरे धीरे रणीवाँ में हमारे तीन माह समाप्त हो गये। गाँव के हर आदमी से हम परिचित हो गये; हर परिवार में हमारा स्थान बन गया। गाँववाले हमें जानने लगे थे और हम लोग गाँववालों को जानने लग गये। हमने उनके एक निकटस्थ पड़ोसी का पद प्राप्त कर लिया। जिस प्रकार गाँव के लोग अपने सुख-दुःख की बातें अपने पड़ोसियों से किया करते हैं और अपने मामलों में उनसे सलाह लिया करते हैं, उसी प्रकार का व्यवहार अब उनके और हमारे बीच होने लगा। इसी बीच होली का त्यौहार आ गया और गाँव-गाँव में लोग होली के रंग से रँगे जाने लगे। होली और फाग से देश का कोना-कोना गुञ्जायमान होने लगा। इस त्यौहार में घरों के भीतर बाहर अच्छी तरह सफाइ करना एक धार्मिक अनुष्ठान है। अमीर और गरीब सभी लोग अपने-अपने घर-द्वार साफ करते हैं किन्तु अपने वासस्थान का निकटस्थ क्षेत्र एवं गली सड़क कभी साफ नहीं करते। हम लोगों ने

होली पर सफाई का श्रीगणेश

निश्चय किया कि गाँव की सफाई का कार्यक्रम प्रारम्भ करने का यही उपयुक्त अवसर है। अतः हम लोग उन्हें साथ लेकर सफाई के कार्य में जुट गये। हम लोग उन भागों की सफाई करने लगे जिन्हें वे कभी साफ नहीं करते थे और गाँव के कूड़े के ढेर (घूर), गली, कुवें और रास्ते की टट्टी जो कुछ भी गन्दगी दिखाई देती थी, सबकी सफाई प्रारम्भ कर दी। लज्जा और संकोचवश गाँव के कुछ लोग भी हमारे साथ हो लिये। एक बूढ़ी स्त्री, जिन्हें गाँववाले 'भउजा' कहकर सम्बोधित करते थे हम लोगों को गन्दगी साफ करते देखकर रोने लगीं और गाँव के लोगों पर नाराज होने लगीं कि क्यों लोग गाँव में गन्दगी फैलाते हैं। होली के कारण सफाई के प्रति लोगों के हृदय में उत्साह तो था ही इसलिए हमारे उस दिन के काम और उपर्युक्त घटना का लोगों पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार हम लोगों ने अनायास रूप से देहात में परिश्रम और सफाई का कार्यक्रम लेकर प्रवेश पा लिया। तदनन्तर उन लोगों के साथ उठते-बैठते प्रायः हर समय परिश्रम की मर्यादा और सफाई के विषय पर उन्हें कुछ समझाते ही रहते थे। अब हमारे लिए वहाँ तीन कार्यक्रम हो गये। १ चरखा २ श्रम-प्रतिष्ठा और ३ स्वच्छता।

गाँव के त्यौहार और अनुष्ठान आदि के उपलक्ष्य में यदि हम सफाई के कार्यक्रम को हाथ में लेते हैं, तो उस परिस्थिति में गाँव के सभी निवासी हमारा साथ देने को तैयार हो जाते हैं और उसका प्रभाव भी अच्छा पड़ता है। इस प्रकार दिन-ब-दिन मेरा विश्वास दृढ़ होता गया कि स्वच्छता का कार्य इसी ढङ्ग से करना उचित है। प्राचीन काल से त्यौहार, शादी विवाह आदि शुभ कार्यों में सफाई के अनुष्ठान को बहुत महत्व दिया गया है और ऐसे अनुष्ठान साल में इतने अधिक पड़ जाते हैं कि अगर उन्हीं अवसरों पर गाँव के लोग सुचारु ढंग से गाँव की सफाई कर लिया करें तो हमारे गाँव पर्याप्त स्वच्छ रहा करेंगे। कभी मिलने पर विस्तार से इस विषय पर बातें करूँगा। नमस्कार!

● ● ●

घनिष्ठ सम्पर्क का लाभ

७-९-'४१

पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि प्रारम्भिक तीन महीनों में हम लोगों ने रसौरों के लोगों से पड़ोसी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बीमारी में घर में हम उनकी खबर लेने लगे उनकी सेवा शुश्रूषा करने लगे और दवा-दारू में उन्हें सम्मति देने लगे। उनकी शादी और गमी के अवसरों पर हम एक पड़ोसी की तरह भाग लेने लगे। विवाह या श्राद्ध पर जब वे बिरादरी के लोगों को भोज देते, तो हमें भी आमंत्रित करते थे।

पहले-पहल हम लोगों के जाने से निमंत्रित व्यक्तियों में कुछ खलबली मची। हमारा सभी जाति के लोगों के साथ बैठकर खाना भोजन के समय कुर्ता आदि न उतारना भोजनोपरान्त जूता और चप्पल आदि पहनकर हाथ मुँह धोने के लिए जाना आदि सभी बातों पर समालोचना होने लगी किन्तु हम लोगों ने अपना ढंग कायम रखा। निमंत्रण देनेवालों से हम लोग साफ कह देते थे कि हमारे खाने-पीने की शैली नहीं बदलेगी जो आश्रम में रहती है। हमारे आने से तुम पर कोई आपत्ति आ पड़े तो हमें न बुलाओ।

आलोचनाओं का अन्त

फिर भी गाँव के लोग हमें अवश्य बुलाते थे। क्योंकि अब उन लोगों ने हमें अपने एक पड़ोसी के रूप में स्वीकार कर लिया था। धीरे-धीरे आलोचनाएँ समाप्त होने लगीं और इस प्रकार के निमन्त्रणों में हमारे बैठने का आसन भी धीरे-धीरे प्रधान पंक्ति के निकट पहुँचता गया और उसे भी लोग बरदाश्त करने लगे। इस प्रकार भोजन के सम्बन्ध में लोगों की कट्टरता धीरे धीरे कम होने लगी और हमारी देखादेखी जो लोग अपने प्रयोग में आने वाले कपड़े नित्य धो लिया करते थे वे भी कभी-कभी कपड़े पहनकर भोजन करने लगे। यहाँ तक कि उस गाँव का एक लड़का निमन्त्रणादि में हमीं लोगों के साथ बैठकर खाने लगा। गाँव के लोगों ने उसे भी सहन

कर लिया। अब हम लोग छुआछूत के सम्बन्ध में लोगों से खुलकर वाद विवाद करने लगे। शनैः शनैः वही जनता, जो पहले कुएं पानकर आने पर हम लोगों से घृणा करती थी, अब वाद-विवाद करते हुए यह कहने लगी कि "भाई, हम लोग भी जानते हैं कि यह सब ढकोसला है, किन्तु एक तो हमारा इस प्रकार का संस्कार बन गया है, जिसके विरुद्ध आचरण करने को जी नहीं चाहता और दूसरी बात यह है कि कौन आगे चलकर पहले अपनी नाक कटाये।"

मैं लिख चुका हूँ कि हम लोग गाँववालों के पड़ोसी होने के सम्बन्ध से उनके शोक-ताप और बीमारी आदि के समय उनके यहाँ आया करते थे और जहाँ तक सम्भव होता था उनकी सेवा करते थे और उन्हें सान्त्वना देते थे। अकबरपुर आने से पहले ही सन् १९२१ ई० में, जब कि मैं बनारस में रहा करता था और गाँवों में कार्य प्रारम्भ करने के विषय में विचार किया करता था तो श्री रामकृष्ण मिशन के श्री कालिका महाराज की प्रेरणा से होमियोपैथी का अध्ययन करना आरम्भ किया था। अकबरपुर रहते समय इसका पर्याप्त अभ्यास भी हो गया था। यद्यपि इधर कई वर्षों से अभ्यास छूट जाने के कारण यह विद्या प्रायः भूल चुकी थी, फिर भी जब गाँव के बच्चों को बीमार होते देखता था तो होमियोपैथिक दवाएं और पुस्तकें मँगाने की इच्छा प्रबल होने लगती थी। किन्तु बापू गाँवों में दवा देने के प्रतिकूल हैं, इसे मैं उनके कई लेखों में देख चुका था। उनके मतानुसार गाँव के रोग गाँव की सफाई करके ही दूर किये जाने चाहिए। दवा का उनके यहाँ कोई विधान नहीं है। इसलिए मैंने होमियोपैथी पुस्तकें मँगाने की कल्पना छोड़ दी और हम लोग स्वयं अपने प्रयोग के लिए जो टिंचर आयोडिन अमृतधारा और त्रिफला आदि दवाइयाँ मँगाकर रखते थे उन्हीं में से आवश्यकता आ पड़ने पर कुछ उन्हें भी दे दिया करते थे। कभी-कभी तुलसी की पत्ती बेल का पत्ता शहद और दूध की मट आदि देहाती दवाएँ भी उन्हें बता दिया करते थे।

चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार

किन्तु हमने अनुभव किया कि जब गाँववालों को साधारण रोग की अपेक्षा कठिन रोग हो जाता था, तो हम लोग असहाय-से हो जाते हैं और उनकी कोई मदद नहीं कर पाते हैं।

गाँव में कुछ लोग जिनमें विशेषतः स्त्रियाँ थीं, बहुत दिनों के रोग-ग्रस्त थे। उन्हें देखकर मैं सोचता था कि यदि हम होमियोपैथिक दवाएँ मँगा लें तो ऐसे अवसरों पर ग्रामीण जनता की सेवा कर सकेंगे। ज्यों-ज्यों मैं रोगियों और उनके आसपास के लोगों को बीमार पड़ते देखता था, त्यों त्यों मेरी इस विषय की चिन्ता बढ़ती जाती थी। मैंने देखा कि यदि हम गाँव की सफाई करके रोग-निवारण पर भरोसा करते हैं, तो इस प्रकार रोगों के दूरीकरण में एक-दो पुश्त का समय लग जायगा। हम गाँव में कितनी भी सफाई क्यों न कर लें किन्तु सदियों का बना हुआ संस्कार एक दिन में नहीं दूर हो सकता। यदि दो-चार व्यक्तियों में कुछ सुधार हो भी गया तो भी सम्पूर्ण गाँव का परिवर्तन तत्काल नहीं हो सकता और यदि गाँव के किसी भी भाग में गन्दगी रह गयी, तो उसका प्रभाव गाँव के सम्पूर्ण व्यक्तियों पर पड़ेगा। गाँव के किसी भी कोने की गन्दगी पर की मक्खी उनके भोजन पर भी बैठ सकती है जो लोग स्वच्छता का पूरा ध्यान रखते हैं। अतएव जब तक हम सम्पूर्ण गाँव के रहन-सहन में परिवर्तन नहीं करते, तब तक हमारी रोग-निवारण की आशा दुराशा मात्र है और गाँवों का इस प्रकार का आमूल परिवर्तन कितने दिनों में हो सकता है इसका हिसाब तुम स्वयं लगा सकती हो। मैं सोचने लगा कि क्या औषधि का ज्ञान रखते हुए भी उसका प्रयोग न करने से हमारे पड़ोसी-धर्म का यथारूप पालन हो सकेगा। ऐसी दुविधा में पड़कर मैं तत्काल कोई निश्चय न कर सका। किन्तु अन्ततः मैंने रोगों का कष्ट देखकर होमियोपैथिक दवाइयाँ और पुस्तकें मँगा लीं। अब जब कोई बीमार पड़ता था तो मैं उसे दवा दे दिया करता था।

जब लोगों ने यह जान लिया कि मैं दवा भी करता हूँ तो धीरे-धीरे आसपास के बहुत-से गाँवों के लोग बीमार पड़ने पर मुझसे सहायता

लेने लगे। इस प्रकार दवा-वितरण के आधार पर पाँच-छह गाँवों के लोगों से हमारा और परिचय हो गया और हम वहाँ भी चरखे का प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे सभी गाँवों में कुछ चरखे चलने लगे और हमारा काम क्षेत्र बढ़ने लगा। हमने देखा कि रोगियों का इलाज करने से चरखे के प्रचार-कार्य में भी सहायता मिलती है। लोग साधारणतः हमें बच्चों की बीमारी में बुलाया करते थे। इस प्रकार हम गाँव की स्त्रियों से भी कुछ-कुछ परिचित होने लगे और वे हमारी बातों की प्रतीक्षा करने लगीं। मैं तुम्हें पहले लिख चुका हूँ कि जब अकबरपुर-थाना क्षेत्र में चरखे का प्रचार करता था तो मैं पर्दे के कारण ब्राह्मण और क्षत्रिय जाति की स्त्रियों से नहीं मिल सकता था, इसलिए उनमें चरखे का प्रचार नहीं हो सका। कुर्मियों की स्त्रियों का हमसे कोई पर्दा नहीं था, इसलिए हम उन्हें चरखे के लाभ भलीभाँति समझा सके थे। दवाइयों के चल जाने से और उनके दुख-दर्द में शामिल होने से हम मध्यम श्रेणी की स्त्रियों के भी सीधे सम्पर्क में आने लगे और इस प्रकार उनमें भी चरखा चलने लगा।

काम-विस्तार

तबीयत कुछ सुस्त है। कई दिन से दाँत उखाड़ रहा हूँ। अब तुम्हारी तरह मेरे भी सब दाँत बने हुए हो जायँगे। वहाँ के विषय में लिखना। तुम लोग कैसे हो? नमस्कार।

● ● ●

वस्त्र-स्वावलम्बन की ओर २३

८-९ '४१

आज मैं तुम्हें यह बताने की कोशिश करूँगा कि वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्यक्रम से हमें क्या-क्या लाभ हुए।

रणीवाँ के आसपास बुनाई का काम करनेवाले कारीगर नहीं हैं। इसलिए स्वावलम्बन के लिए जो सूत कातता था, उसे हम अकबरपुर से बुनवा लेते थे। किन्तु धीरे-धीरे जब कई गाँवों में चरखे चलने लगे, तो हमारे सामने बुनाई की कठिन समस्या आ खड़ी हुई। एक तो अकबरपुर से बुनवाकर मँगाने में बहुत समय लग जाता था, दूसरे बुनाई का काम बहुत दूर होने के कारण लोगों की बुनाई के प्रति कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी और जो कपड़ा बनकर आता था, वह अपने यहाँ के बने हुए कपड़े के रूप में नहीं मालूम होता था। इससे स्वावलम्बन की भावना में कमी पड़ जाती थी।

एक दिन पण्डित लालताप्रसाद और गाँव के कई अन्य व्यक्ति हमसे कहने लगे कि 'यदि गाँव में ही बुनाई का प्रबन्ध हो जाय तो अपना सूत बुनते देखकर हमें जो आनन्द होगा वह आनन्द अकबरपुर से बुनवाकर मँगाने में नहीं होगा। स्त्रियाँ जब अपना सूत अपने सामने बुनते देखेंगी तो उनको सीखना पड़ता ही जायगा। तीसरा लाभ यह होगा कि यदि हमारे गाँव के कुछ लड़के बुनाई सीख लेंगे, तो उनकी बेकारी की समस्या भी हल हो जायगी। हम लोग स्वयं पैसे के स्थान पर अनाज देकर सूत बुनवा सकेंगे।" हमने आपस में परामर्श किया। हमें गाँववालों की दलीलें ठीक लगीं। हमने सोचा कि यदि गाँव के लोग कताई और बुनाई दोनों काम स्वयं कर लें, तो वे स्वावलम्बी हो जायँगे उन्हें हम पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा।

अतः हम लोगों ने गाँववालों का प्रस्ताव मानकर बुनाई का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

बुनाई का कार्यक्रम चालू कर देने से और भी कई लाभ हुए। यह क्षेत्र इतना पिछड़ा हुआ था कि यहाँ के लोगों को किसी प्रकार की नयी बात देखने को नहीं मिलती थी। बुनाई का कार्य प्रारम्भ होने से उन्हें एक नयी बात देखने को मिली। इस कार्य की विभिन्न प्रक्रियाओं में लोगों की अभिरुचि होना स्वाभाविक था। माड़ी बुनाई का आरम्भ द्वारा सूत की मॅभाइ 'बै' और 'पाछ' में सूत भरना, शटल की खट-खट आवाज आदि बातों को बच्चे और स्त्रियाँ तमाशा के रूप में देखतीं थीं और इस प्रकार उनके दृष्टिकोण एवं उनकी बुद्धि का परोक्ष रूप से विकास होता था। बुनाई के रूप में गाँव के भीतर उद्योग का वातावरण भी उत्पन्न हो गया।

शुरू में इस काम के लिए अकबरपुर से बुनकर बुला लिया था। बुनकर और बुनाई का सामान आ जाने पर हमारे सामने स्थान की समस्या आ खड़ी हुई। हम लोग जिस घर में रहते थे वह इतना संकीर्ण था कि उसमें हमीं लोगों के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था, फिर उसमें करघे के लिए स्थान कहाँ से आता? हमने गाँववालों से कहा कि यदि आप लोग हमें कहीं करघे के लिए थोड़ा स्थान दें, तो यह काम प्रारम्भ हो जाय। गाव के लोगों ने आपस में सलाह करके हमारे निवास के पास एक कोठरी में करघा गाड़ने का स्थान दे दिया। वह घर एक ब्राह्मण का था। इसलिए उसमें बुनाई शुरू करने से हमें और भी लाभ था। आमतौर से लोग बुनाई के काम को बहुत छोटा काम समझते हैं। यह काम केवल जुलाहों और हरिजनों का था भले घर के लोग इसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। जब गाव के पण्डितजी के घर में करघा गड़ जाना और उसमें एक जुलाहे का काम करना इस क्षेत्र के लिए एक विशेष महत्त्व की बात थी। इसलिए जब हमारे साथी भी करणभाई ने आकर कहा कि हमारे बुनाई काम के लिए तिवारी बाबा के घर में एक कोठरी मिल गयी

तो हमने कहा—"अच्छा ही हुआ, एक पंथ दो काज सध गये। करण भाई ने भी हँसते हुए कहा कि "अब इसके विरोध में कोई भी कुछ कह नहीं सकेगा।" हम लोग प्रारम्भ से ही रूढ़िवाद और दकियानूसी विचारों को शिथिल करने का सहज साधन ढूँढ़ा करते थे। इस घटना से हमें

शुभ परिणाम

इस दिशा में बड़ी सहायता मिली। गाँव के अग्रगण्य तिवारी बाबा के घर में एक मुसलमान बस गया और गाँव की स्त्रियाँ और बच्चे बुनाई की क्रिया देखने के लिए वहाँ आने-जाने लगे। ऐसी स्थिति में मुसलमानों और बुनकरों के प्रति जनता की प्रकृति गत घृणा की मात्रा स्वभावतः कम होती गयी।

बुनाई का कार्य प्रारम्भ हो जाने से लोगों में अपने सूत का कपड़ा बुनवाने का उत्साह बढ़ता गया किन्तु हमारा उद्देश्य यही नहीं था कि बाहर से जुलाहा बुलवाकर बुनाई का काम कराया जाय। हमारा उद्देश्य तो यह था कि इस ग्राम के बेकार नौजवान इसे सीख लें और स्वयं यह काम करने लग जायें। किन्तु यह ठहरा ब्राह्मणों का गाँव। घर में जुलाहे को स्थान देकर बुनाई का काम कराना ही इस क्षेत्र के लिए एक बहुत बड़ी क्रान्ति की बात थी, फिर वे स्वयं बुनाई का कार्य करें, यह उनकी मानसिक स्थिति के किसी भी तरह अनुकूल नहीं था। गाँव में कई नौज वान बेकार थे फिर भी हम उन्हें इस काम के लिए तैयार नहीं कर सके।

पं० लालताप्रसादजी ने कहा कि मैंने तो यह सोचा था कि आप हमारे दो-एक चमारों को बुनाई सिखा देंगे और इसे सीखकर वे गाँव वालों का सूत बुन दिया करेंगे। हमने उनकी यह बात स्वीकार कर ली और वे लोग सीखने के लिए आने लगे। उनसे हमें मालूम हुआ कि वे लोग सदा नहीं सीख सकते, क्योंकि वे खेती के कामों में मजदूरी करते हैं और जब उच्चवर्गीय लोगों को खेती के काम के लिए जरूरत पड़ेगी, तो वे उन्हें बुला लेंगे। होता भी प्रायः ऐसा ही था। इसलिए उनका बुनाई सीखना संभव नहीं था। यह सब सोचकर हम लोगों ने उन्हें सिखाने की चेष्टा छोड़ दी।

जिस घर में हमारा निवास था, उस घरवालों की आर्थिक स्थिति बहुत शोचनीय थी। कुछ दिन पहले ये लोग अच्छे गृहस्थ थे, किन्तु कर्ज के कारण इनकी जायदाद धीरे धीरे दूसरों के हाथ में चली गयी। उन्हें दोनों समय भोजन भी नहीं मिल पाता था फिर मालगुजारी चुकाने की बात तो दूर है। उस परिवार का पूरा भार एक विधवा ब्राह्मणी पर था, जिसके लड़के बिलकुल बेकार बैठे थे। वे बेचारे करते भी क्या? जमीन इतनी थी नहीं कि उसीकी देखभाल करते। दूसरा कोई उद्योग था नहीं। अपने हाथ से हल चलाना या इसी प्रकार के अन्य काम करने में बेइज्जती का सवाल था। स्कूल में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का भी साधन नहीं था। गृहस्थी की देखरेख इनकी माँ ही कर लेती थी। इसलिए ये लोग दिनभर बेकार रहते थे और भूख से छटपटाते थे। हमारे सहवास से और अपने हाथ से सारा काम करने से इनके हृदय की संकीर्णता बहुत कुछ कम हो गयी थी। हमने इन्हें समझाया कि बुनाई का काम सीख लो। आखिर हम लोग भी तो इसे करते हैं। इससे हमारी कौन-सी इज्जत चली जाती है? और फिर तुम्हारी इज्जत ही क्या है? गरीब होने के कारण एक तो कोई पूछता नहीं, दूसरे बेकार बैठकर दूसरों की कृपा का अन्न खाने से परिश्रम करके खाना अधिक प्रतिष्ठा की बात है। जिस दिन तुम परिश्रम करके खाने लगोगे और अपनी बिगड़ी हुई स्थिति सुधार लोगे उस दिन लोग तुम्हें अधिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखने लगेंगे।

रात-दिन के सहवास और बार-बार समझाने से उस घर के रामकरण नाम के एक लड़के ने बुनाई का काम प्रारम्भ कर दिया। उसके बुनाई सीखने से चारों ओर उसके विरुद्ध खूब आलोचनाएँ होने लगीं। चौबीसों घण्टे की आलोचना से उसका बड़ा भाई कुछ घबड़ा गया। किन्तु रामकरण अपने निश्चय पर डटा रहा। उसकी माँ ने भी उसका साथ दिया। एक दिन बड़े भाई ने जब अपनी माँ से कहा कि सब लोग कहते हैं, "तुम लोग जुलाहा हो गये" तो उसकी माँ ने हम लोगों की ओर संकेत करते हुए

विधवा ब्राह्मणी का साहस

कहा कि "जब इतने भले घर के ये लड़के जुलाहे हैं तो हमारे घर के लड़के भी जुलाहे हो जायँ। हमें इसकी चिन्ता नहीं। जब हम लोग खाने बिना भूखों मरते हैं तो खिलाफ़ करनेवाले क्या हमारे घर में अनाज भेज देते हैं!" इतने पिछड़े हुए दकियानूसी ब्राह्मण-गाँव की एक गरीब विधवा ब्राह्मणी का इतना कहना बहुत बड़े साहस का काम था। उस दिन से मैं रामचरण की माता के प्रति अधिक श्रद्धा रखने लगा। उनके द्वारा मुझे इस बात की एक झलक मिल गयी कि ग्रामीण स्त्रियाँ कहाँ तक आगे बढ़ सकती हैं।

रामचरण धीरे धीरे बुनाई सीखते हुए दो रुपया प्रतिमास पैदा करने लगा। उसे देखकर अन्य दो ब्राह्मण बालकों ने बुनाई सीखना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार हम लोग गाँव के रूढ़िवाद का सुधार करने की दिशा में और एक कदम आगे बढ़ गये। कुछ दिन बाद घाघरा पार के एक किसान के घर का रामटेर नामक मिडिल पास लड़का जो बुनाई भी जानता था हमारे पास आया और आश्रम-परिवार में सम्मिलित हो गया। उसके आ जाने से हम लोगों ने अकबरपुर के जुलाहे को विदा कर दिया। रामटेरभाई ही बुनाई का कार्य करने लगे और दूसरों को भी सिखाने लगे। इस प्रकार अब हमारे यहाँ दो विभाग स्थापित हो गये— एक कताई दूसरा बुनाई।

बुनाई-विभाग के संगठन से हम गाँव की सामाजिक क्रान्ति की दिशा में कहाँ तक आगे बढ़ सकते हैं, यह तुम अनुमान कर सकती हो।

आज यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार। ● ● ●

शरीर-श्रम की प्रतिष्ठा २४

१०-९-'४१

देखते ही देखते देहात में चरखे का काफी प्रचार होने लगा और दिन-ब-दिन चरखे की माँग अधिक आने लगी। हम लोगों ने चरखे बनवाने के लिए आसपास के गाँवों में बढ़इयों की तलाश की। किन्तु उस सम्पूर्ण देहात में कोई भी बढ़ई इस योग्यता का नहीं मिला। तब हम लोगों ने चरखा-संघ बिहार से कुछ चरखे मँगवा लिये। फिर भी हम चिन्तन में लगे रहे कि चरखे की बढ़ती हुई स्थानीय माँग को किस तरह पूरा किया जाय और स्थानीय व्यक्तियों को चरखा बनाने की शिक्षा किस प्रकार दी जाय। हमारा विचार हुआ कि स्थानीय बढ़इयों को इसकी शिक्षा दें किन्तु उनकी संख्या इतनी कम थी कि उनके लिए किसानों के हल-फाल और मकान आदि बनाने का ही काम बहुत अधिक था। ऐसी परिस्थिति में उनका किसी अतिरिक्त कार्य में समय देना नितान्त असम्भव था।

इसी समय हम लोग जिस मकान में रहते थे, उसमें मकानवाले को भूसा रखने के लिए कोठरी की आवश्यकता हुई। हमें अपने रहने की कोठरी खाली करनी पड़ी। हमने एक दूसरा घर तलाश किया उसमें भी पहले बैल बाँधे जाते थे। न तो उसमें कोई खिड़की थी और न दरवाजा ही। हमने अपना सारा काम बन्द करके उस मकान के पुनर्निर्माण का काम शुरू किया। उस घर में आगे की ओर एक छोटा-सा बरामदा था। जब घर बनकर ठीक हो गया तो हम लोगों ने उस बरामदे को बढ़ाकर और लम्बा कर लिया। अब उसमें खिड़की खोलना और दरवाजा लगाना शेष रह गया। हमने सोचा कि हमें इसे भी अपने ही हाथ से तैयार कर लेना चाहिए। जिसका घर था उसीके पास लकड़ी मौजूद थी। औजार गाँव के बढ़इयों से प्राप्त हो गया। मुझे बढ़ई का

काम पहले से ही आता था, साथियों को भी आरा से लकड़ी चीरना सिखा दिया। इस तरह हम सब लोग मिलकर दरवाजा और बंगला बनाने लगे। गाँव के लोगों के लिए यह भी एक नयी बात थी और वे लोग हमारा काम देखने आया करते थे।

एक दिन मैं पोस्टर बना रहा था कि भाई लालसिंह बरौंधी नाम के एक नौजवान बढ़ई को लेकर मेरे पास आये। वह मिडिल पास था और उसके हृदय में पहले से ही राष्ट्रीय भावना थी। उसने आश्रम में रहने की इच्छा प्रकट की। फलतः वह दूसरे दिन से आश्रम में रहने लगा। अब हम लोगों की संख्या तीन से पाँच हो गयी। बरौंधी बढ़ईगिरी के काम में होशियार था। बुनाई का काम रामसेरमाह ने सँभाल लिया था। बरौंधी के आ जाने से हम लोगों ने चरखा बनाने का काम भी शुरू कर दिया। हम लोग गाँव से पेड़ खरीदकर उसकी लकड़ी चीर-चीरकर बरौंधी भाई को दिया करते थे और वह चरखे बनाता रहता था।

अब इस कार्य के लिए स्थान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। गाँव में किसीके पास ऐसा पर्याप्त स्थान था नहीं। अन्ततः एक अन्य

बढ़ई-विभाग की स्थापना

गाँव मक्खनपुर के एक मालगुजार ने अपने यहाँ दो कोठरी और आँगन हमें इस काम के लिए दे दिया। मक्खनपुर रनीवाँ से दो-तीन फर्लांग की दूरी पर था। हम लोगों ने अपना बढ़ई-विभाग वहीं पर स्थापित कर दिया। बरौंधी भी सामान की हिफाजत के लिए उसी मकान की एक कोठरी में रहने लगा। बरौंधी के वहाँ रहने में एक लाभ और था। वह नित्य संध्या समय गाँव के लोगों को रामायण और अखबार पढ़कर सुनाया करता था। हम लोग भी नित्य प्रातःकाल लकड़ी चीरने के उद्देश्य से वहाँ पहुँच जाया करते थे। धीरे-धीरे उस गाँव के लोगों से हमारा परिचय बढ़ने लगा। हम लोगों को आरा चलाते देखकर उस गाँव के नौजवानों पर अधिक प्रभाव पड़ा और वे हमारे परिश्रम की प्रतिष्ठा करने लगे। वहाँ के

निवासी रवाँइयों के लोगों से भी अधिक गरीब थे। वे शीघ्र ही चरखा चलाने के लिए तैयार हो गये।

अब हम लोग नियमपूर्वक दो गाँवों में रहने लगे और हमारा कार्य-क्षेत्र दो गाँवों में फैल गया। वस्त्र-स्वावलम्बन के कार्य में हम लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे। चरखे बनाना, सूत कातना और कपड़े बुनना, सभी कार्य गाँव में ही सम्पादित होने लगे। चरखा कातना और कपड़ा बुनना तो हमने गाँववालों को भी सिखाना प्रारंभ कर दिया था। किन्तु स्थानीय बढ़इयों को चरखा-निर्माण की कला सिखाने की समस्या बाकी थी। स्वावलम्बन की दृष्टि से हम लोगों को इस दिशा में कुछ भी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। यहाँ के बढ़ई अधिकतर किसानी का काम करते हैं और उनका बढ़ईगिरी का ज्ञान नहीं के बराबर है। इसका कारण क्या है? क्या यहाँ के निवासी किसी भी युग में लकड़ी की अच्छी चीजें प्रयोग में नहीं लाते थे? पर यह बात तो नहीं। आज भी देहात में सुन्दर कारीगरी के गुणपूर्ण चौखट-बाजू, मचिया, पिढ़ई, पलंग आदि मिल जाते हैं। ये सुन्दर वस्तुएँ प्राचीन बढ़इयों के ही हाथ की बनी हुई हैं। फिर उनकी

बढ़इयों का लोप कैसे हुआ?

कारीगरी कहाँ चली गयी? अन्वेषण करने पर मुझे दो कारण ज्ञात हुए। एक तो यह कि भीषण गरीबी के कारण अब लोगों में यह शक्ति ही नहीं रह गयी कि वे इस प्रकार की चीजों की कदर कर सकें। दूसरे, अवध की बेगार प्रथा सालों तक ऐसा भयंकर रूप धारण किये रही कि किसी प्रकार के कारीगर इस क्षेत्र में पनप नहीं सके। अच्छा कारीगर होना भी बेगारी में पकड़े जाने का एक सर्टिफिकेट था! बेगार से बचने के लिए भी लोग अपने गुण प्रकट नहीं करते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे उत्तम कारीगरी का लोप हो गया और कई पीढ़ियों के बाद बढ़ई जाति के लोग अपनी कारीगरी छोड़कर किसान बन गये।

हम लोगों पर चरखा सिखाना, गाँव में उसका प्रचार, रूई की लेन-देन और पूनी-बाड़ी आदि निजी कार्यों का भार इतना भारी हो गया था

कि चरखा बनाने के काम में हम और अधिक मदद नहीं कर सकते थे।

श्रम की मर्यादा

इसलिए यह आवश्यक हो गया कि बढ़ई की लकड़ी चीरने और चरखा बनाने में मदद करने के लिए कुछ और लोगों की भी सहायता प्राप्त हो जाय। अन्य बढ़इयों के न मिलने पर विचार किया कि ब्राह्मणों के बेकार नौजवानों को इस काम में लगाया जाय। पर ब्राह्मण के लड़के बढ़ई का काम करने के लिए कैसे तैयार हो सकते थे! अन्त में मैंने इस कार्य के लिए भी उसी परिवार की शरण ली जिसका एक लड़का बुनाई का काम करना प्रारम्भ कर चुका था। रामशरण के बड़े भाई श्यामशरण को आरा चलाकर लकड़ी चीरना सिखाना प्रारम्भ कर दिया। जब रामशरण ने बुनाई सीखना प्रारम्भ किया था उस समय जितना विरोध उत्पन्न हुआ था, उतना इस बार नहीं हुआ। फिर भी देहात के लिए इस प्रकार का कार्य क्रांतिकारी था। गाँव के लोगों ने इन कामों के लिए जो सम्मान और प्रोत्साहन प्रकट किया उसने हमारे कार्यक्रम को आगे ही बढ़ाया। अब वे प्राचीन रूढ़िवादी विचार-धारा छोड़कर हर प्रकार के परिश्रम की मर्यादा समझने लगे। उन्होंने देखा कि उनकी निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इतने उद्योग निकल सकते हैं तो गाँव की गरीबी और बेकारी के लिए निराशा का कोई स्थान नहीं। रफ्तीनों में जब गाँव के कुछ बेकार नौजवान काम में लग गये और कुछ घरों में कपड़े के व्यय की बचत होने लगी तो लोगों में इतना उत्साह पैदा हुआ कि लोग गाँव की सफाई और शिक्षा आदि कार्यों में भी काफी दिलचस्पी लेने लगे। गाँव की स्वच्छता और शिक्षा के सम्बन्ध में हमने और कौन-कौन से प्रयोग किये यह मैं तुम्हें अगले पत्र में लिखूँगा। ● ● ●

१४ १ '४१

पिछले पत्र में मैंने गाँव की सफाई के विषय में अपने प्रयोग लिखने का वादा किया था। वास्तव में सफाई का प्रश्न ग्राम-सेवक के लिए सबसे कठिन और विकट प्रश्न है। गाँववाले प्रायः ऐसी परिस्थिति में रहते ही हैं कि वे सफाई रखने में असमर्थता अनुभव करते हैं। कुछ बातें ऐसी भी होती हैं जिनमें वे अपने इच्छानुसार सफाई रख सकते हैं; इसके लिए उन्हें किसी प्रकार की विवशता नहीं है, किन्तु मेरा विचार है कि वे इन बातों में भी सफाई रखने से विवश ही हैं। मैंने तुम्हें लिखा था कि ग्राम-सुधार किसी एक कार्यक्रम को लेकर नहीं चल सकता, क्योंकि देहात में जितनी बुराइयाँ मौजूद हैं एक-दूसरे से कार्य-कारण का सम्बन्ध रखती हैं। देहात के लोग काहिली के कारण गन्दे रहते हैं और इस काहिली का कारण उनकी बेकारी है। इसलिए सफाई की समस्याओं को हल करने के मार्ग में पग-पग पर अड़चनें आ पड़ी होती हैं। गाँव के लोग गलियों में ही पेशाब करते हैं, उन्हीं में कूड़ा-करकट फेंकते हैं। उनके घर और आँगन का पानी घर के पास ही सड़ा करता है। घरों में इतना अँधेरा होता है कि नमी भीतर ही सड़ा करती है। चारपाई कपड़े कथरी, लेदर, चादर, तोशक रजाई तकिया और सभी प्रयोग में आनेवाली चीजें पसीना, धूल और मैल से सनी रहती हैं। बच्चे से लेकर बूढ़े तक की जबान पर भारी भद्दी अश्लीलतापूर्ण गन्दी बातें बनी रहती हैं। इन तमाम गन्दगियों पर विचार करने से हमारे सामने यह प्रश्न आ उपस्थित होता है कि हम सबसे पहले किस गन्दगी को दूर करें।

सब बुराइयों का एक ही स्रोत

देहात में रहते समय मैं अधिकतर किसानों और मजदूरों के ही घरों में जाया करता था। यहाँ की बदनामी मिटाते समय मैंने तुम्हें लिखा था

कि गाँव की गलियों और मकानों के आगे-पीछे की गन्दगी से घर के भीतर की गन्दगी मुझे अधिक भयंकर प्रतीत होती थी। रसोइयों आकर मुझे प्रायः कभियों के घरों को भी भलीभाँति देखने का अवसर मिला। इनके घरों की गन्दगी देखकर मुझे अनुभव हुआ कि उन मजदूरों के घरों की गन्दगी इनकी तुलना में कुछ नहीं थी। उसके पश्चात् मैं ज्यों ज्यों देहात में काम करता गया, त्यों-त्यों मेरी यह धारणा और भी दृढ़ होती गयी कि गाँव की सफाई के कार्यक्रम में कपड़ों की सफाई पर सबसे पहले और सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। उच्च श्रेणी के घरों में मुझे कपड़ों की गन्दगी के प्रति और भी भयंकर उदासीनता देखने को मिली।

कपड़ों की सफाई किसानों और मजदूरों के घरों में भी कपड़े काम में लाये जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या कम होती है। बिछाने के लिए पुआली चादर और कथरी के अतिरिक्त और होता ही क्या है! किन्तु जल्दी से फट जाने के कारण उनके कपड़ों में अधिक गन्दगी नहीं आ पाती। किसान और मजदूर कुरते भी कम पहनते हैं। जो पहनते हैं, वे भी ऐसे मामूली कपड़े के बने होते हैं कि आसानी से धुल सकें। इसके अतिरिक्त ये कुरते केवल मराऊ रूप में ही काम में लाये जाते हैं इसलिए उन्हें सदा धोकर ही रखा जाता है। किन्तु उच्च श्रेणी के लोग दरी, तोशक और रजाई काम में लाते हैं, जो अधिक टिकाऊ और अधिक भारी होती है। इसलिए इनमें अरसे तक गन्दगी इकट्ठी हो जाती है। कुरते कोट और पगड़ी भी ये लोग काम में लाते हैं, जिससे ये चीजें भी पसीना आदि से सन जाती हैं। मैंने अनुभव किया कि जब तक वे अपने ओढ़ने, बिछाने और पहनने के कपड़े इतने गन्दे रखते हैं, तब तक इन्हें गली-कूचों और बाहरी गन्दगी का अनुभव कराना नितान्त असम्भव है क्योंकि सफाई तो वे ही लोग रख सकते हैं, जिन्हें गन्दगी से घृणा हो। इसलिए मैं जहाँ भी जाता था, लोगों के कपड़ों पर विशेष ध्यान रखता था और कपड़ों की ही गन्दगी के विषय में उन्हें चेतावनी भी देता था। लोग मेरी इन बातों को महसूस तो करते थे किन्तु कुछ तो अपने स्वभाव

और कुछ साधन के अभाव के कारण इस पर अधिकतर अमल नहीं कर पाते थे। धीरे धीरे गाँव के कुछ लोगों को भी साफ रहने का शौक पैदा होने लगा।

इस दिशा में कुछ दिन काम करने के बाद हम यह महसूस करने लगे कि यदि हम किसी तरह साबुन बनाने का काम देहात में जारी कर सकें तो एक पंथ दो काज होगा। लोगों में सफाई की रुचि बढ़ेगी और हम लोग ग्रामोद्योग की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ सकेंगे। मैंने यह अनुभव किया था कि यदि कोई वस्तु गाँव में ही बनने लग जाय तो गाँववाले सरलता से उसका व्यवहार कर लेते हैं, किन्तु बाजार की वस्तु मजबूरी की अवस्था में ही खरीदकर लाते हैं। इसलिए हम लोगों ने साबुन बनाने का निश्चय किया और फैजाबाद से थोड़ा-सा कास्टिक सोडा और तेल लाकर कुछ साबुन बना कर तैयार कर दिया। यह साबुन बनाने का कार्य भी गाँववालों के लिए बिलकुल नया ही था। नितान्त सरलतापूर्वक साबुन तैयार होते देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते थे। उनकी इस कुतूहल-वृत्ति का लाभ उठाकर हम लोग उन्हें यह समझाने की कोशिश करते थे कि साबुन ही क्यों यदि वे चाहें तो अपनी जरूरत की सभी चीजें गाँव में ही तैयार कर अपना पैसा बचा सकते हैं। इस प्रकार उनकी धारणा, उनके दृष्टिकोण और उनके आत्म-विश्वास की भावना में उन्नति होती रही। हम लोगों को साबुन बनाते हुए देखकर पण्डित लालताप्रसाद ने भी साबुन बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस तरह उत्तरोत्तर लोगों में साबुन के प्रयोग करने और स्वच्छ रहने की ओर दिलचस्पी बढ़ती रही।

गाँवों में साबुन बनाने की आवश्यकता

कुछ वर्षों तक साबुन बनाने का कार्य निर्बाध गति से होता रहा, किन्तु कालान्तर में इसमें एक कठिनाई महसूस होने लगी। फैजाबाद और गुसाईंगंज ऐसे औद्योगिक केन्द्र नहीं थे कि वहाँ से कास्टिक सोडा सर्वदा सरलतापूर्वक प्राप्त होता रहे। पं० लालताप्रसादजी भी प्रायः

यही चर्चा करते थे कि साबुन बनाने का कोई ऐसा ढंग निकालिये, जिसमें हमें बाजार से कोई सामान मँगाने की आवश्यकता न पड़े । अतएव हम लोगों ने गाँव में प्राप्त होनेवाली रेह से ही साबुन बनाने का प्रयोग आरम्भ कर दिया । इस विषय में हम लोगों को रंचमात्र भी अनुभव नहीं था इसलिए हम अपने प्रयोग में सफल न हो सके । आखिरकार रेह का साबुन न बना पाने पर हम लोगों ने साबुन बनाना ही बन्द कर दिया । हमने सोचा कि यदि बाजार से ही सामान खरीदकर साबुन बनाना है, तो बाजार के बने हुए साबुन ही क्यों न खरीद लिये जायें । हम लोग मेरठ का बना हुआ साबुन ही प्रयोग करने लगे और गाँववाले भी उसीको खरीदकर अपना काम चलाने लगे । मेरी यह धारणा क्रमशः दृढ़ होती गयी कि एक ग्राम-सेवक के लिए गाँव के साधनों से साबुन बनाने का काम हाथ में लेना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा और इसके द्वारा गाँव की स्वच्छता के कार्यक्रम में पर्याप्त सहायता मिलेगी । ● ● ●

१७-९-'४१

हमें रखौली आये कई महीने हो चुके थे। लोगों से काफी घनिष्ठता हो गयी थी। चरखे का काम दिन-दिन बढ़ता जा रहा था। हम लोगों के सम्पर्क से गाँव के लोग अपने बहुत-से पुराने संस्कारों और आचार व्यवहार के सम्बन्ध में विचार से काम लेने लगे थे। धीरे धीरे लोगों का मानसिक विकास होता जा रहा था, किन्तु अब तक शिक्षा का कोई विधिवत् कार्यक्रम निश्चित नहीं हो सका था।

गाँव के किसान और मजदूर दिनभर इस तरह काम में फँसे रहते हैं कि दिन में वे स्कूल जा नहीं सकते और यदि रात की व्यवस्था की जाय तो भी सदियों से पठन-पाठन की ओर दिलचस्पी न होने के कारण स्कूल जाने के लिए उन्हें कोई विशेष उत्सुकता नहीं होगी। इसके अतिरिक्त मुझे स्वयं भी इस बात में सन्देह था कि केवल अक्षर ज्ञान करा देने से इन्हें कोई लाभ हो सकेगा। पर धीरे-धीरे हमें यह मालूम होने लगा कि इस दिशा में कुछ-न-कुछ करना आवश्यक है।

अन्त में हम लोगों ने यह निश्चय किया कि रामायण का पाठ शुरू किया जाय और उसीके द्वारा इन्हें सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक शिक्षा दी जाय। मझनपुर के नौजवानों में बहुत उत्साह देखकर हम लोगों ने नित्य संध्या समय मझनपुर में रामायण का पाठ प्रारम्भ कर दिया।

रामायण-पाठ द्वारा शिक्षा

करणभाई और मर्दौची मिस्त्री साथ-साथ चौपाइयाँ गाते और करणभाई उनकी व्याख्या करते। वे उसी व्याख्या के ही सिलसिले में प्रत्येक विषय पर कुछ-न-कुछ बताया करते थे। कुछ दिनों के बाद यह प्रतीत होने लगा कि इस प्रकार की शिक्षा गाँव के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है। धीरे-धीरे लोगों की रुचि इधर बढ़ने लगी और पाठ के समय गाँव के

सभी लोग उपस्थित रहने लगे। रामायण-पाठ में आते-आते लोगों को ऐसे अन्य कामों के लिए भी उपस्थित होने की टेव पड़ने लगी। इसके पहले लोग शाम को घर पर बैठकर तम्बाकू खाते थे और अन्य लोगों पर टीका-टिप्पणी किया करते थे। रामायण का पाठ प्रारम्भ होने पर लोगों की इस प्रकार की एक-दूसरे के विरोध में कही जानेवाली बातें कम हो गयीं तथा रोज एक साथ उठने-बैठने उनमें आपस में प्रेम और सद्भावना का विकास होने लगा। ग्रामीण शिक्षा के कार्यक्रम में गाँववालों में एक दूसरे के प्रति घनिष्ठता उत्पन्न करना सबसे महत्त्वपूर्ण बात है। इस काम के लिए किसी ऐसे ही साधन को अपनाने की आवश्यकता होगी जिसमें गाँववाले स्वभावतः दिलचस्पी रखते हों और उसके लिए प्रतिदिन एक ही समय किसी निश्चित स्थान पर इकट्ठे हो सकते हों। प्रतिदिन एक साथ एक स्थान पर बैठने से लोग स्वभावतः एक-दूसरे के प्रति प्रेम करने लगेंगे।

● ● ●

१८ ९ ४१

रामायण-पाठ से एक लाभ यह हुआ कि लोग दूसरे कार्यों के लिए भी बुलाये जाने पर उसी आश्रम के कारखाने के आँगन में एकत्र होने लगे। यह स्थान एक प्रकार से गाँव के लोगों का क्लब बन गया। फिर हमारे निर्णयानुसार यहाँ भी मिश्री उन्हें दिन के समय भी अखबार पढ़कर सुनाने लगा। धीरे धीरे हम लोगों ने रामायण का पाठ दैनिक के बजाय साप्ताहिक कर दिया और अन्य दिनों वहीं पर नियमपूर्वक रात्रि-पाठशाला का कार्य होने लगा। मिश्री उन्हें पढ़ाने का काम करता था। कभी-कभी हम लोग भी पढ़ाने जाया करते थे।

सामाजिक भावना का जागरण

यहाँ एक बात और भी उल्लेखनीय है कि यह रात्रि पाठशाला मैंने स्थानीय लोगों के अनुरोध पर ही प्रारम्भ की थी। इस प्रकार रामायण के द्वारा ग्रामीण शिक्षा के कार्यक्रम के प्रारम्भ करने का प्रयोग बहुत अंशों में सफल रहा। जब तक हम गाँववालों में अभिरुचि और उत्सुकता नहीं उत्पन्न करेंगे, तब तक केवल पाठशाला स्थापित कर देने से वे इधर नहीं आकर्षित हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त केवल अक्षर ज्ञान से ग्राम-शिक्षा का अभिप्राय पूरा नहीं होता। प्रारम्भ में उनके हृदय में संसार की बातें जानने की आकांक्षा उत्पन्न करनी होगी फिर तो वे स्वयं ही पढ़ने के लिए उत्सुक हो उठेंगे। जिस समय मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया उस समय रखौली के आसपास के लगभग पचीस गाँवों में प्रौढ़ रात्रि-पाठशाला का कार्य चल रहा था। हम लोगों में अन्य-अन्य कार्यों के द्वारा गाँववालों की उत्सुकता जगाकर पाठशाला का कार्यक्रम अपने हाथ में लिया था इसलिए गाँववाले इसमें इतनी दिलचस्पी लेने लगे थे कि हमें इसकी उपयोगिता समझाने के लिए अलग प्रयत्न नहीं करना पड़ा। पाठशाला का स्थान बैठने का सामान और रोशनी आदि सभी

वस्तुओं का प्रबन्ध गाँववाले स्वयं करते थे। पढ़ानेवाले भी गाँवों से ही उपलब्ध हुए थे।

इस प्रकार गाँववालों के मध्य रहकर उनसे बातचीत कर, रामायण-पाठ का प्रबन्ध कर और रात्रि-पाठशाला के द्वारा दिन को अखबार सुनाने का नियम बनाकर हम लोग गाँव की सर्वांगीण शिक्षा के कार्यक्रम में अग्रसर होने लगे।

अब तक हम लोग रखौलों में भलीभाँति जम गये थे और दो-तीन फर्लांग के भीतर के गाँवों में हर प्रकार का कार्यक्रम चलाने लगे थे। यों कहने के लिए तो हमारा कार्यक्रम चार गाँवों में फैला हुआ था पर ये चारों गाँव मिलकर एक ही गाँव के बराबर थे। उन सबकी जन-संख्या पाँच-छह सौ से अधिक नहीं है।

ये चारों गाँव इतने निकट-निकट थे कि हम लोग लगभग नित्य इनमें घूम लेते थे और प्रतिदिन सफाई, चरखा, रोगियों का इलाज तथा राजनैतिक आलोचना आदि कार्य कुछ-न-कुछ अंशों में कर लेते थे। रोगियों की सेवा और इलाज के कार्यक्रम ने बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली। धीरे धीरे हम लोग कठिन और पुरातन रोगों का भी इलाज करने लगे। स्त्री-रोगों और बाल-रोगों में आशातीत लाभ होने से इन चार के

रोगों की चिकित्सा

अतिरिक्त अन्य गाँवों के लोग भी हमें जानने तथा हमारे कार्यों से दिलचस्पी और सहानुभूति प्रकट करने लगे। हम लोगों ने यह तय कर लिया था कि इस क्षेत्र को छोड़कर किसी अन्य देहात में नहीं जायेंगे। इसलिए लोग रोगियों को लेकर स्वयं हमारे पास आ जाया करते थे। जिन्हें आवश्यकता होती थी उन्हें हम दवा देते थे और उनसे अपने कार्यक्रमों के सम्बन्ध में वार्तालाप किया करते थे। वे हमारे धुनने और कातने की क्रिया देखते थे। हमारी रहन सहन पर विचार करते थे और गाँववालों से पूछताछ तथा आलोचना प्रत्यालोचना करते थे। इस प्रकार डेढ़-दो मील की दूरी के लोग हमारे कार्यक्रमों से परिचित हो गये और बीमारी तथा दुःख के समय हमारे पास

के अधिक फैलने की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए दवा आदि लेकर हैजा-ग्रस्त क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गये।

हैजे का प्रकोप और भवानी का भय

रसीवों के लोगों को जब यह बात मालूम हुई कि हम लोग हैजे का इलाज करने जा रहे हैं, तो वे हमें रोकने के लिए हमारे पास आकर कहने लगे कि यदि हैजा के रोगी को दवा दी गयी तो भवानी माई नाराज हो जायेंगी गाँव-भर में किसीको नहीं छोड़ेंगी सम्पूर्ण देश को खा जायेंगी आदि। किन्तु हम लोग उनकी बातों की उपेक्षा कर अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चल पड़े। जब हम गाँव में गये तो देखा कि चमारों के मुहल्ले में प्रायः प्रत्येक घर में रोगी पड़े हुए हैं और परिवार के लोग करुण और असहाय अवस्था में उनके पास बैठे हुए उनकी मौत की प्रतीक्षा कर रहे हैं। किसी-किसी घर के तो सभी प्राणी रोगाक्रान्त हो गये थे। उनके दरवाजे पर कोई अभ्यागतों का स्वागत करनेवाला भी नहीं बचा था। चारों ओर श्मशान-शान्ति छायी थी। कोई मरता था, तो उसके लिए लोग रोते भी नहीं थे क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि रोने से भवानी माई नाराज होकर सबको समाप्त कर देंगी। हम लोग जब किसी बीमार के विषय में पूछते थे तो वे बहुत धीरे से फुसफुसाकर उत्तर देते थे और हमसे बात करते समय इस प्रकार डरते थे कि कहीं भवानी माई उनकी बातें सुन न लें।

सन् १९२३-२४ में जब मैं ढाका में रहता था, तो एक बार मुझ पर हैजे का आक्रमण हुआ था, जिसकी कहानी मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। उस समय मुझे अनुभव हुआ था कि यदि हम उन्हें दवा दे आयेंगे, तो वे उसका सेवन नहीं करेंगे। इसलिए हम लोग दिनभर घूम-घूमकर स्वयं दवा देते थे। इस तरह इलाज और सेवा करने से चार-पाँच दिन में ही परिस्थिति काबू में आ गयी और हैजा अधिक फैलने नहीं पाया। भवानी माई नाराज होकर न तो हमीं लोगों को खा गयीं और न तो उन्होंने गाँव के ही किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाया। यह देखकर रसीवोंवालों

के भवानी माई के विश्वास में कुछ शिथिलता आयी। तब हमने उन्हें यह बताया कि यह छूतवाला रोग है। प्लेग और चेचक आदि बीमारियाँ भी इसी प्रकार की हैं। इनके फैलने का कारण भवानी माई का प्रकोप नहीं है। रहन-सहन की ठीक प्रणाली से गाँववालों की अनभिज्ञता और स्वच्छता के प्रति लापरवाही के कारण ही इनका आगमन होता है। इस प्रकार हम उनमें गाँव की स्वच्छता, रोग के कारण और उनके निवारण के तरीके आदि का प्रचार करने लगे।

धीरे-धीरे हमारा कार्यक्षेत्र कई गाँवों में फैल गया। असाध्य रोगियों को देखने के लिए हम बाहर भी जाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद मुझे अनुभव होने लगा कि यदि हम इसी प्रकार होमियोपैथिक दवाएँ बाँटते रहे, तो गाँववाले सदा हमारा ही भरोसा करेंगे। कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेंगे। यों तो प्राचीन और असाध्य रोगों का इलाज करना हमारा धर्म ही है, किन्तु सामान्य ज्वर, खाँसी सिर-दर्द फोड़ा-फुन्सी आदि का इलाज ऐसा सरल होना चाहिए कि गाँववाले उसे स्वयं कर लें। इसलिए यह आवश्यकता है कि गाँववालों को गाँवों में मिलनेवाली वनस्पतियों और बूटियों से रोग-निवारण का तरीका बताया जाय। हमने कुछ पुस्तकें मँगाकर इस प्रकार का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया, पर वे सभी हमारी आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हुईं। सभी पुस्तकों में प्रायः आयुर्वेद के सरल-सरल नुस्खे ही मिले रहते हैं, किन्तु हमें तो दूब तुलसी की पत्ती और नेम की पत्ती आदि गाँव में मिलनेवाली वनस्पतियों के प्रयोग की खोज करनी थी और इस दिशा में मदद देनेवाली मुझे कोई पुस्तक नहीं मिली। मैंने देखा कि गाँव के कुछ लोग और विशेषकर कुछ पुरानी स्त्रियाँ इस प्रकार के तोटकों की जानकारी रखती हैं। हाँ, यह बात सत्य है कि एक ही व्यक्ति अनेक रोगों की ऐसी दवाएँ नहीं जानता किन्तु यदि कोई ग्राम-सेवक इस प्रकार की दवाओं की खोज करना प्रारम्भ करे और स्थान-स्थान से

गाँवों में नवीन चिकित्सा-क्रम की आवश्यकता

आने लगे। दवा देने के लिए अब तक हमने कोई निश्चित क्रम नहीं किया था। हमारे पास दवा रहती थी और कभी किसीके बीमार पड़ने पर उसे किसी भी समय दे दिया करते थे। किन्तु जब दूर-दूर के लोग आने लगे, तो कभी-कभी उन्हें बड़ी परेशानी होने लगी। इसलिए हमने निश्चय किया कि किसी निश्चित स्थान पर निश्चित समय तक दवा देने का कार्यक्रम रखा जाय। गाँववालों ने पास के ईश्वरपट्टी नाम के गाँव में इस काम के लिए कोठरी की व्यवस्था कर दी। उसमें हम लोगों ने अपने ही

स्वच्छता की रुचि

हाथ से खिड़की और दरवाजा लगाकर उसे काम के योग्य बनाया। इस गाँव में एक विशेषता यह दिखाई दी कि जब हम लोग उस कोठरी को ठीक कर रहे थे, तो गाँव के नौजवानों ने हमारे काम में सहायता प्रदान की। चार-पाँच दिन तक मैंने अपनी कोठरी एवं उसके आसपास का स्थान स्वयं साफ किया, किन्तु इसके बाद जब मैं वहाँ पहुँचता था तो कोठरी और आस पास के स्थानों की सफाई पहले ही हो चुकी रहती थी। धीरे धीरे ध्यान दिलाने पर लोग अपने-अपने घर तथा उसके आसपास के स्थान साफ रखने लगे।

रणीवाँ से लगभग एक मील दूर ठाकुर लोगों का चाचीपुर नाम का एक बड़ा-सा गाँव है। पहले जमाने में यह गाँव बहुत समृद्धिशाली था किन्तु दुराचार और दुर्नीति के कारण अब यह गाँव नितान्त दरिद्र और बदनाम था। इसी गाँव के ठाकुर माधवसिंह की पुत्रवधू लम्बी अवधि से सन्निपात से ग्रस्त थी तथा उसके जीने की कोई

चाचीपुर का पुनर्जीवन

आशा नहीं रह गयी थी। माधवसिंह गाँवभर के लोगों के प्रेमभाजन थे। इसलिए सभी व्यक्ति इस बीमारी से चिन्तित थे। किसीने उन्हें सूचना दी कि रणीवाँ में आश्रम खुला है और वहाँ पर दवा मिलती है। उस गाँव के कई व्यक्ति आश्रम पर आये और चाचीपुर चलकर दवा करने का अनुरोध करने लगे। मैं उस समय आश्रम पर मौजूद नहीं था। यद्यपि हम लोगों

ने किसी दूसरे गाँव में जाकर दवा न देने का नियम बना रखा था, फिर भी रोग की भयंकरता और गाँववालों की आतुरता देखकर करुणभाई और निकुंजभाई किताब और दवा लेकर उस गाव में गये और रोग का अध्ययन कर दवा देने लगे। कुछ दिनों बाद वह रोगिणी रोग-मुक्त हो गयी। इस घटना से चाचीपुर के लोग आश्रम के प्रति विशेष आकर्षित हुए और हमारे प्रत्येक कार्य में दिलचस्पी लेने लगे। हमने भी इस गाँव को अपने कार्य-क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया। धीरे धीरे यह गाँव इतना अधिक सुधर गया और आश्रम का इतना प्रेमी बन गया कि आज तक हमने रचियों के आसपास जो जो कार्यक्रम आरम्भ करने चाहे, उनमें चाचीपुर ही सबका नेता बना। चाचीपुर अपनी कुरीतियों के लिए जिले भर में बदनाम हो चुका था आज लोग इसकी सुधरी हुई अवस्था देखकर आश्चर्य करते हैं। मैंने अनुभव किया है कि डाकू, लुटेरा और बदमाश कहे जानेवाले लोगों के दिल पर यदि किसी प्रकार से प्रभाव पड़ जाय, तो वे सुधरकर आदर्शों के प्रति जितने वफादार हो सकते हैं, उतने समाज के भले और अच्छे कहे जानेवाले लोग नहीं हो सकते। ग्राम-सेवकों को इस प्रकार के लोगों से घबड़ाना नहीं चाहिए, प्रत्युत धैर्य के साथ प्रतीक्षा करते हुए इस बात की खोज करनी चाहिए कि उनकी हृदय-तंत्री के किस तार पर उँगली रखें, जिससे उनके जीवन में परिवर्तन की झनकार झंकृत हो उठे।

गर्मी का मौसम चल रहा था। इसी समय हमें ज्ञात हुआ कि पास के कुछ गाँवों में हैजा फैला हुआ है। करुणभाई ने मुझे बताया कि स्थिति बहुत भयंकर है, चारों ओर से मृत्यु के समाचार आ रहे हैं। हम लोगों ने निश्चय किया कि इस समय सब कुछ छोड़कर हैजे की दवा और रोगियों की सेवा करना ही हमारा धर्म है। अतएव हम लोगों ने सर्वप्रथम यह पता लगाया कि किन-किन गाँवों में हैजे का प्रकोप है। अभी तक केवल दो ही एक गाँव में बीमारी फैली थी। इससे हम लोगों ने सोचा कि यदि हम इन गाँवों पर अधिकार प्राप्त कर लें, तो बीमारी

के अधिक फैलने की आशंका नहीं रहेगी। इसलिए दवा आदि लेकर हैजा-ग्रस्त क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गये। रसीवों के लोगों को जब यह बात मालूम हुई कि हम लोग हैजे का इलाज करने जा रहे हैं, तो वे हमें रोकने के लिए हमारे पास आकर कहने लगे कि यदि हैजा के रोगी को दवा दी गयी तो भवानी माई नाराज हो जायेंगी गाँव भर में किसीको नहीं छोड़ेंगी सम्पूर्ण देश को खा जायेंगी आदि। किन्तु हम लोग उनकी बातों की उपेक्षा कर अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार चल पड़े। जब हम गाँव में गये तो देखा कि चमारों के मुहल्ले में प्रायः प्रत्येक घर में रोगी पड़े हुए हैं और परिवार के लोग करुण और असहाय अवस्था में उनके पास बैठे हुए उनकी मौत की प्रतीक्षा कर रहे हैं। किसी-किसी घर के तो सभी प्राणी रोगग्रस्त हो गये थे। उनके दरवाजे पर कोई मजदूरों का स्वागत करनेवाला भी नहीं बचा था। चारों ओर श्मशान-शान्ति छायी थी। कोई मरता था तो उसके लिए लोग रोते भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें यह विश्वास था कि रोने से भवानी माई नाराज होकर सबको समाप्त कर देंगी। हम लोग जब किसी बीमार के विषय में पूछते थे तो वे बहुत धीरे से फुसफुसाकर उत्तर देते थे और इससे बात करते समय इस प्रकार डरते थे कि कहीं भवानी माई उनकी बातें सुन न लें।

हैजे का प्रकोप और भवानी का भय

सन १९२३-२४ में जब मैं टाँडा में रहता था तो एक बार मुझ पर हैजे का आक्रमण हुआ था, जिसकी कहानी मैं तुम्हें लिख चुका हूँ। उस समय मुझे अनुभव हुआ था कि यदि हम उन्हें दवा दे आयेंगे, तो वे उसका सेवन नहीं करेंगे। इसलिए हम लोग दिनभर घूम-घूमकर स्वयं दवा देते थे। इस तरह इलाज और सेवा करने से चार-पाँच दिन में ही परिस्थिति काबू में आ गयी और हैजा अधिक फैलने नहीं पाया। भवानी माई नाराज होकर न तो हमीं लोगों को खा गयीं और न तो उन्होंने गाँव के ही किसी व्यक्ति को नुकसान पहुँचाया। यह देखकर रसीवोंवालों

के भवानी माई के विश्वास में कुछ शिथिलता आयी। तब हमने उन्हें यह बताया कि यह संक्रामक रोग है। प्लेग और हैजा आदि बीमारियाँ भी इसी प्रकार की हैं। इनके फैलने का कारण भवानी माई का प्रकोप नहीं है। रहन-सहन की ठीक प्रणाली से गाँववालों की अनभिज्ञता और स्वच्छता के प्रति लापरवाही के कारण ही इनका आगमन होता है। इस प्रकार हम उनमें गाँव की स्वच्छता, रोग के कारण और उनके निवारण के तरीके आदि का प्रचार करने लगे।

धीरे धीरे हमारा कार्यक्षेत्र कई गाँवों में फैल गया। असाध्य रोगियों को देखने के लिए हम बाहर भी जाने लगे। थोड़े ही दिनों बाद मुझे अनुभव होने लगा कि यदि हम इसी प्रकार होमियोपैथिक दवाएँ बाँटते रहे तो गाँववाले सदा हमारा ही भरोसा करेंगे। कभी स्वावलम्बी नहीं हो सकेंगे। यों तो प्राचीन और असाध्य रोगों का इलाज करना हमारा धर्म ही है, किन्तु सामान्य ज्वर, खाँसी, सिर-दर्द, फोड़ा-फुन्सी आदि का इलाज ऐसा सरल होना चाहिए कि गाँववाले उसे स्वयं कर लें। इसलिए यह आवश्यकता है कि गाँववालों को गाँवों में मिलनेवाली वनस्पतियों और बूटियों से रोग-निवारण का तरीका बताया जाय। हमने कुछ पुस्तकें मँगाकर इस प्रकार का अध्ययन आरम्भ कर दिया, पर वे सभी हमारी आवश्यकता की पूर्ति करने में असमर्थ सिद्ध हुईं। सभी पुस्तकों में प्रायः आयुर्वेद के सरल-सरल नुस्खे ही लिखे रहते हैं, किन्तु हमें तो तुलसी की पत्ती और बेल की पत्ती आदि गाँव में मिलनेवाली वनस्पतियों के इलाज की खोज करनी थी और इस दिशा में मदद देनेवाली मुझे कोई पुस्तक नहीं मिली। मैंने देखा कि गाँव के कुछ लोग और विशेषकर कुछ पुरानी स्त्रियाँ इस प्रकार के टोटकों की जानकारी रखती हैं। हाँ, यह बात सत्य है कि एक ही व्यक्ति अनेक रोगों की ऐसी दवाएँ नहीं जानता; किन्तु यदि कोई ग्राम-सेवक इस प्रकार की दवाओं की खोज करना आरम्भ करे और स्थान-स्थान से

गाँवों में नवीन चिकित्सा-क्रम की आवश्यकता

ग्राम गुरुओं को सावधानी से नोट करके रोगियों पर उनका प्रयोग करके शोध करे, तो कुछ ही दिनों में उसके पास इतनी सामग्री इकट्ठी हो जायगी कि वह अनेक रोगों की चिकित्सा देहाती साधनों से कर सकेगा। मुझे इस बात का विशेष दुःख है कि मैं आज तक इस काम को नहीं कर सका। इस तरह की एक सम्पूर्ण चिकित्सा-प्रणाली बन जाय, तो गाँव-वालों को सिखाना सरल होगा।० किन्तु जब तक इस प्रकार की सर्वांगीण खोज करने की सुविधा नहीं मिलती है, तब तक ग्राम-सेवकों को चाहिए कि वे इस दिशा में जहाँ तक प्रयत्न कर सकें, करते रहें। ● ● ●

---

० इस लिखने के बाद मैंने जल मिट्टी वगैरह आदि चीजों का प्रयोग किया। अब मैं मानता हूँ कि प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली के साथ इस वनस्पति-विज्ञान का समन्वय करना होगा। १५-१-'५

स्त्रियों में दवा आदि कार्य के साथ चरखे का काम दिन प्रतिदिन बढ़ता ही रहा। किन्तु कुछ दिनों के अनुभव से हमें ज्ञात हुआ कि यह जो चरखे की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ रही है, उसमें लोगों की स्वाभाविक रुचि नहीं है। अधिकतर लोग हमारे व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण संकोच से ही चरखा चलाते हैं। उनके रंग-ढंग से ऐसा प्रतीत होता था कि वे चरखा चलाने में कुछ आर्थिक लाभ नहीं समझते।

कुछ स्त्रियाँ तो हमसे साफ-साफ कहती थीं कि "भैया, इतनी मेहनत करके सूत कातें और बदल-बदलकर रुई लायें। इतनी मेहनत करके कहीं एक धोती बन पाती है। इससे तो अच्छा यही है कि हम बाजार से धोती खरीद लें। लाभ के अनुपात में हमें परिश्रम बहुत अधिक करना पड़ता है।" हम उन्हें यह कहकर समझाने का प्रयत्न करते थे कि जो कुछ लाभ होता है, वह बैठे रहने से तो बहुत अधिक है। किन्तु इससे उन्हें अधिक सन्तुष्टि नहीं होती थी। वे कहती थीं कि तुम कहते हो इसलिए कातती हैं नहीं तो यह बिल्कुल व्यर्थ काम है। कुछ लोग तो अपने घरों में कताई

चरखे का आर्थिक पक्ष

का कार्य इसलिए जारी रखते थे कि एक तो इससे कुछ थोड़ा-बहुत कपड़ा मिल जाता था, दूसरे चरखे में व्यस्त रहने के कारण उनके घर की स्त्रियों को आपस में झगड़ा करने का अवसर कम मिलता था। हम अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध के प्रभाव से तथा कुछ आर्थिक और नैतिक लाभ बताकर उनसे चरखा अवश्य चलवा लेते थे किन्तु गाँव की स्त्रियों के सन्देह ने हमें भी कुछ सन्देह में डाल दिया। अतः मैं चरखे की वास्तविक आय का पता लगाने में लग गया।

शुरू-शुरू में जब मैं अकबरपुर आया था, तब भी मुझे एक बार सन्देह

हुआ था और मैंने भी रामाराम भाई से इसकी चर्चा की थी। उन दिनों हम लोगों ने हिसाब लगाकर देखा था कि यदि कोई भी दिनभर बैठी कातती रहे, तो वह चार पैसे मजदूरी प्राप्त कर सकती थी। भारत के किसानों के लिए इतनी आय भी कम न थी, जब कि उनके साल के चार पाँच माह बिल्कुल बेकारी में बैठे-बैठे कट जाते हैं। उस समय हम लोग मध्यम श्रेणी के ब्राह्मण और क्षत्रियों के घर चरखा नहीं चलवा सके थे, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति आज से अच्छी थी और इतनी थोड़ी मजदूरी के लिए वे परिश्रम करने को तैयार नहीं थे। कुर्मियों की बात दूसरी थी। उनका तो मेहनत करने का स्वभाव ही होता है। इसलिए उनके लिए बेकार रहने की अपेक्षा चार ही पैसे की आमदनी विशेष महत्त्व रखती है। रणीवाँ के आसपास के मध्यम श्रेणी के लोगों ने चरखा चलाना स्वीकार किया, इसके दो कारण थे। एक तो हमारा व्यक्तिगत सम्बन्ध का संकोच और दूसरे यह कि आज उनकी स्थिति सन् '२१-२४ की अपेक्षा अधिक दीनतापूर्ण हो गयी थी।

मैंने चरखे की आय की परीक्षा की, तो मुझे ज्ञात हुआ कि सन् २१ में हम लोगों ने मजदूरी का जो हिसाब लगाया था, उसकी तुलना में आज की आमदनी आधे से भी कम हो गयी है। इस स्थिति को देखकर मैं काफी परेशान हुआ। कारण का विचार करने पर मुझे ऐसा लगा कि खादी-संसार में सन् १९१ से ही एक नयी मनोवृत्ति उत्पन्न हो गयी थी। लोगों ने खादी सस्ती करने का जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन में चरखा-संघ के अधिकारी भी सम्मिलित थे। इसलिए खादी कार्यकर्ताओं को खादी सस्ती करने के लिए प्रचण्ड परिश्रम करना पड़ा। सभी वस्तुओं का भाव गिरने के साथ-साथ रुई का भाव तो गिर ही गया था किन्तु लोग इतनी ही कमी से संतुष्ट नहीं थे। वे तो मिल के साथ मुकाबला करने की असम्भव परिस्थिति का स्वप्न देख रहे थे। इन कोशिशों के कारण कताई की मजदूरी तो कम हो गयी, किन्तु कतैयों की गति में कोई वृद्धि नहीं हुई। रणीवाँ के आसपास लोगों ने पहले-पहल चरखा

चलाना प्रारम्भ किया था, इसलिए उनकी गति साधारण गति से भी कम थी। धुनाई की कला सिखाकर हम लोगों ने उनकी गति बढ़ाने का प्रयास किया था, किन्तु काम का ब्योरेवार हिसाब करने पर ज्ञात हुआ कि धुनाई और कताई का खर्च घटा देने से एक कत्तिन की आठ घण्टे की आमदनी तीन पैसे भी नहीं होती थी। अभी हम लोग इस स्थिति पर विचार कर ही रहे थे कि गांधीजी की 'जीवन-मजदूरी' के सिद्धान्त की घोषणा समाचार पत्र में पढ़ने को मिली। प्रारम्भ में तो हमें बड़ी प्रसन्नता हुई किन्तु साथ ही यह भी विचार आया कि यदि गांधीजी के इस आठ आने के हिसाब से खादी का दाम लगाया जाय, तो खादी बिकेगी ही नहीं। फिर हम उन्हें अधिक मजदूरी देने की अपेक्षा जो दे रहे हैं, वह भी नहीं दे सकेंगे। हम लोग रवीर्यों में इस विषय पर विचार-विनिमय करते रहे। अन्ततः हम इस परिणाम पर पहुँचे कि काम की मजदूरी की स्थिति में परिवर्तन लाना तो आवश्यक ही है किन्तु यह आठ आने की योजना भी सम्प्रति अव्यावहारिक है। मैं सोचता था कि यदि कत्तिनों को वर्तमान मजदूरी से दूनी मजदूरी मिलने लग जाय तो कुछ स्वाभाविक और सुविधाजनक स्थिति उत्पन्न हो जायगी। मुझसे जब इस विषय में सम्मति माँगी गयी, तो मैंने ऐसी ही सम्मति भेज दी थी।

जीवन-वेतन का सिद्धान्त

मैंने अपनी राय तो भेज दी थी, किन्तु मेरे मस्तिष्क में गांधीजी की घोषणा के सम्बन्ध में तरह-तरह की भावनाएँ उत्पन्न हो रही थीं। यह निश्चित था कि चरखे की मजदूरी दो आने कर देने से लोगों की चरखा चलाने की अरुचि दूर हो जाती और गाँव की स्त्रियाँ चरखा चलाने के लिए तैयार हो जातीं पर गांधीजी तो आठ आने मजदूरी करके गाँव की सामाजिक और आर्थिक स्थिति में क्रान्ति करना चाहते थे। इस तथ्य को मैं भी समझता था कि *यदि यह मजदूरी सम्भव हो जाय तो हम केवल* कत्तिनों के ही द्वारा ग्रामीण समाज में क्रान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। किन्तु इतनी मजदूरी सम्भव हो सकेगी इसकी कल्पना करना कठिन

प्रतीत हो रहा था। इसलिए मैंने अपनी सम्मति दो ही आने के पक्ष में भेजी।

कुछ दिनों के पश्चात् जब सारे खादी-कार्यकर्ता गांधीजी की घोषणा के विरोध में सम्मति देने लगे, तो गांधीजी ने प्रत्येक प्रान्त के लोगों को अलग-अलग बुलाकर इस विषय पर विचार-विमर्श करना प्रारम्भ किया। इसी सम्बन्ध में विचित्र भाई और अनिल भाई वर्धा जा रहे थे। उन्होंने मुझे भी वर्धा पहुँचने को लिखा। हम लोग वर्धा पहुँचकर गांधीजी से मिले। हमारे साथ दूसरे प्रान्तों के भी कार्यकर्ता थे। गांधीजी से बहुत देर तक चर्चा होती रही। वे हरएक की शंका का समाधान बड़े विस्तार के साथ करते थे। वहाँ की चर्चा सुनकर मुझमें यह भाव अंकुरित हो उठा कि मजदूरी बढ़ाने का यह कार्य हमें अवश्य करना चाहिए, क्योंकि यदि हम मजदूरी बढ़ा देते हैं, तो हमें संसार के समक्ष महँगी खादी पेश करने के लिए एक बहुत बड़ा नैतिक आधार मिल जायगा। अब तक हम जो खादी बेचते रहे, वह भी विदेशी कपड़े या मिल के कपड़े से महँगी ही थी। इस महँगी खादी को संसार के समक्ष उपस्थित करने का हम लोगों के पास केवल एक यही आधार था कि खादी के द्वारा हम देहात के कुछ गरीब लोगों को बेकार समय में काम देकर कुछ पैसे दिला सकते हैं। यह पैसा कितना है, उसे कहने में भी शर्म मालूम होती थी। 'जीवन मजदूरी' के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से हम न केवल नैतिक दृष्टि से कतिना के प्रति न्याय करते हैं, प्रत्युत देहाती समाज को पुनर्गठित करने के लिए इसे हम अपना बहुत बड़ा साधन बना सकते हैं। इसका प्रभाव स्वराज्य-आन्दोलन पर भी पड़ सकता है। ऐसी स्थिति में खादी महँगी होने पर भी बिक्री कम हो जाने का बहुत अधिक भय नहीं रहेगा, क्योंकि खादी की बिक्री तो राष्ट्रीय भावना पर ही निर्भर है और राष्ट्रीय भावना हमारे कार्यक्रम की शैली पर ही अवलम्बित है।

एक ग्रामसेवक की दृष्टि से मुझे इसमें एक दूसरा लाभ भी दृष्टिगोचर होता था। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि भारत के ग्रामीण समाज

का सुधार तभी हो सकता है, जब गाँव की स्त्रियों का सुधार हो जाय और स्त्रियां समाज-सेवा का भार अपने हाथ में लें। साथ ही मेरा यह भी

स्त्रियों में कार्य की आवश्यकता

विश्वास है कि हम इस विषय में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक शीघ्र तैयार कर सकते हैं और वे हमारी बातें अधिक आसानी से समझ सकती हैं। यदि हम कत्तिनों को इतनी पर्याप्त मजदूरी देने की व्यवस्था कर लें, तो हम उनका सम्पूर्ण ध्यान अपनी ओर खींच सकेंगे और थोड़े ही प्रयत्न से उनमें राष्ट्रीय और समाज-सेवा की भावना उत्पन्न कर सकेंगे। उनमें से अधिकांश हमारे निर्देशानुसार ग्राम-सेविका का कार्य भी कर सकती हैं। सन् १६२६ ई० में जब बापू मेरठ आये थे तो उन्होंने कहा था—"तुम्हारा कार्य प्रत्येक कत्तिन को स्वराज्यवादिनी बना देना है।" इस बार वर्धा में जब गांधीजी से जीवन-मजदूरी के विषय में चर्चा हो रही थी, तो मुझे अनुभव हुआ कि इस परिस्थिति में कत्तिनों को स्वराज्यवादिनी बना देने की कल्पना का सफल होना सम्भव हो सकेगा। यह सोचकर मैंने विचित्र भाई से कहा कि अब तक मेरे हृदय में सन्देह था, किन्तु अब मैं समझता हूँ कि जीवन-मजदूरी के सिद्धान्त के अनुसार चलने पर हमारे आन्दोलन का कल्याण होगा। विचित्र भाई ने एक मधुर परिहास करते हुए मेरी राय से असहमति प्रकट की। किन्तु मैंने स्वयं इस विषय पर जितना ही सोचा उतना ही मेरा विश्वास दृढ़ होता गया और कालान्तर में जब-जब मुझे अवसर मिला इस दिशा में कुछ-न-कुछ करने की कोशिश की।

वर्धा में इस प्रकार शंका-समाधान करके हम लोग वापस लौट आये। चरखा-संघ ने आठ आने मजदूरी का सिद्धान्त नहीं स्वीकार किया, किन्तु आज तीन आना तक तो कर ही दिया है। इस तीन आना के ही आधार पर हम लोग कत्तिनों में क्या-क्या कार्य कर चुके हैं, इसके विषय में फिर कभी लिखूँगा।

● ● ●

१-१०-४१

हमारे रवीपों-जीवन का लगभग एक वर्ष बीत चुका था। इस अवधि में हमारा कार्यक्रम प्रायः ६-७ गाँवों तक फैल गया था और दूर के ग्रामवासियों से भी परिचय हो गया था। हमने अपने कार्य का विवरण श्री शंकरलाल भाई को लिख भेजा। जब बापू को यह ज्ञात हुआ कि हम लोग कई गाँवों में कार्य कर रहे हैं, तो उन्होंने श्री शंकरलाल भाई से कहा कि तुम धीरेन्द्र को लिख दो कि वह इस सम्बन्ध में मुझसे बात कर ले। अतएव श्री शंकरलाल भाई के आदेशानुसार सेवाग्राम जाकर बापू से मिला तथा तीन-चार दिन तक उनसे बातें करता रहा।

बापू का अभिप्राय यह था कि मैं अपने ग्राम-सेवा का काम एक ही गाँव तक सीमित रखूँ। किन्तु मेरी विचारधारा इसके प्रतिकूल कई गाँवों का एक क्षेत्र बनाकर कार्य करने की थी। बापू कहते थे कि यदि तुम लोग ऐसा करोगे, तो तुम्हारी कार्यकारिणी शक्ति कई गाँवों में विभाजित हो जायगी, जिसका परिणाम यह होगा कि तुम कहीं भी सफल न हो सकोगे। पर इसके विपरीत मेरा निजी अनुभव यह था कि ग्रामीण लोग किसी प्रकार के नवीन परिवर्तन की एक निश्चित गति रखते हैं। हम अत्यधिक प्रयत्न करने पर भी उस निश्चित गति में किसी प्रकार की तीव्रता नहीं ला सकते। उन्हें हमारे रहन-सहन, हमारे कार्य करने के ढंग एवं हमारी शिक्षा का प्रभाव ग्रहण करने के लिए एक निश्चित समय की अपेक्षा होगी। चाहे हम यह समय एक ही गाँव के सम्पर्क में बैठे रहकर

बापू से भिन्न अनुभव

व्यतीत करें या कई गाँवों के सम्पर्क में आकर, समय एक ही लगेगा। प्रत्येक गाँव में हमारे कार्यक्रम के साथ थोड़े ही व्यक्ति सहानुभूति रखते हैं, शेष लोगों को अपने साथ लाने में समय लगता है। फिर भी कुछ व्यक्ति तो कभी साथ नहीं आते। इसी प्रकार प्रत्येक गाँव के कुछ व्यक्ति तो स्वभावतः हमसे सहानुभूति रखते हैं और शेष कुछ लोगों को साथ लाने में हमें उतने ही समय की

आवश्यकता होती है, जिसे हम एक गाँव के लोगों को साथ लाने में व्यय करते हैं। इसके अलावा सभी व्यक्ति सभी कार्यक्रमों में सम्मिलित नहीं होते। रुचि-वैभिन्य के कारण कोई एक कार्यक्रम में भाग लेता है, कोई दूसरे में। इस प्रकार यदि हम कई गाँवों का क्षेत्र लेते हैं, तो सम्पूर्ण क्षेत्र मिलाकर हमारे कार्यक्रम के हर पहलू पर बड़ी संख्या में लोग प्रयत्न करने लग जाते हैं और हम उनके सहारे अपना काम आगे बढ़ा सकते हैं।

कुछ कार्यक्रम तो ऐसे होते हैं कि उन्हें संचालित करने के लिए गाँव में वातावरण तैयार करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, हम चाहे कितना ही भाड़ देते रहें कितना ही रद्दी साफ करते रहें और हल चलाना आदि कार्य अपने हाथ से करते रहें परिश्रम की मर्यादा स्थापित करने के लिए हम साक्षात् आदर्श ही क्यों न बन जायें किन्तु किसी ठाकुर-परिवार के लोग ऐसा कार्य करने का साहस नहीं करेंगे। इच्छा रखते हुए भी वे ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि इससे उनके समीपवर्ती बिरादरी के लोग उन्हें तुच्छ समझने लगेंगे। इसी प्रकार ब्राह्मणों के लिए गाँव छूने पंक्ति-पावन लोगों के पक्की चलाने और छुआछूत दूर करने आदि के विकट प्रश्न सामने आते हैं। लोगों का चाहे कितना ही बौद्धिक विकास हो जाय, किन्तु प्राचीन परम्परागत रूढ़ि को त्याग कर किसी नयी बात को ग्रहण करने का साहस उनमें नहीं आ पाता। गाँव में एकाध ही ऐसे दुस्साहसी व्यक्ति मिलते हैं, जो इन पुरानी बातों को छोड़ने के लिए तैयार होते हैं, किन्तु अकेले होने के कारण उनका साहस ढीला पड़ जाता है। यदि एक पूरे क्षेत्र के कई गाँवों के कई व्यक्ति ऐसे विचार के हो जायें, तो उन्हें एक दूसरे से बल मिलता है और उनके आगे बढ़ने से सम्पूर्ण क्षेत्र के वातावरण में एक साहस की लहर पैदा हो जाती है। धीरे-धीरे दूसरे लोग भी उनका साथ देने लगते हैं। कई गाँवों का एक क्षेत्र चुनने से एक विशेष लाभ और होता है। प्रत्येक गाँव के कुछ अलग-अलग ढंग होते हैं, इसलिए कोई कार्यक्रम किसी एक गाँव में चल जाता है, तो कोई किसी दूसरे में चल जाता है। हम लोगों के उस क्षेत्र में भी यही हुआ।

हम लोगों ने सबसे अधिक समय रखीवों में रहकर व्यतीत किया, किन्तु भाभीपुर में पहले ही अधिक चरखा चल गया। चतुरीपट्टी नामक गाँव के सम्पर्क में हम लोग बहुत पीछे आये, किन्तु उस गाँव में सबसे अधिक चरखे चलने लगे थे, किन्तु आश्रम से सटे हुए गाँव बेनाडी में आठ साल प्रयत्न करके हम एक भी चरखा नहीं चलवा सके। छुआछूत के सम्बन्ध में भी यही हुआ। आश्रम से डेढ़ मील दूर के एक गाँव के कई नौजवान आश्रम में उनके साथ खाने-पीने लगे, फिर अन्य गाँव के लोग भी खाने पीने का साहस करने लगे और अब वहाँ वायुमण्डल अनुकूल हो जाने से इस सम्बन्ध में कहीं किसी प्रकार का विरोध भी नहीं प्रकट किया जाता।

रखीवों के निवासियों ने हमारे कहने से एक बार तम्बाकू पीना छोड़ दिया था, किन्तु अन्य स्थानों से उस गाँव में अतिथि आने पर जब उन्हें तम्बाकू नहीं दी गयी, तो सम्पूर्ण बिरादरी में एक हलचल खड़ी हो गयी। बिरादरी की संगति में बैठकर तम्बाकू न पीना एक प्रकार की बेइज्जती करना समझा जाता है। इस प्रकार बहुत से कार्यक्रम ऐसे हैं कि जब तक अनुकूल वातावरण नहीं पैदा होता है तब तक व्यक्तिगत रूप से वे चल नहीं पाते हैं।

मैं गांधीजी से तीन-चार दिन तक बातें करता रहा, किन्तु हम लोग सहमत नहीं हो सके। अन्त में बापू ने कहा—"जाओ, अपने ढंग से काम करो अन्त में अनुभव तुम्हें मेरी बात का कायल बना देगा।" उन्होंने बेठासाक्स मार्श का भी उदाहरण दिया और कहा— "बेठासाक्स भी आरम्भ में इसी प्रकार की बातें करता था मगर अब उसकी राय बदल गयी है। बापू की इन बातों से भी मेरी धारणा परिवर्तित न हो सकी और मैं उन्हें प्रणाम कर और उनका आशीर्वाद लेकर रखीवों लौट आया। तब से छह वर्ष बीत गये। मैं इस प्रश्न पर सदा विचार करता रहा किन्तु इतने समय तक देहात में काम करने पर भी मेरे विचार में कोई परिवर्तन नहीं आया। प्रत्युत अपनी ही धारणा दिन प्रतिदिन और भी दृढ़ होती गयी।

● ● ●

के भीतर चौबीस घण्टे हिल-मिलकर रहना उचित न होगा। इन सारी बातों का विचार कर हमने गाँववालों के समक्ष अपना प्रस्ताव रखा और उनसे जमीन माँगी। कई स्थान देखे गये और आश्रम-निर्माण की भिन्न-भिन्न योजना बनने लगी। दीवार कच्ची ईंट की रखी जाय या बिलकुल कच्ची हो और फूस से बनायी जाय या खपरैल से, इन विषयों में विचार चलने लगा।

इसी प्रकार जमीन के सम्बन्ध में भी नित्य विचार-विनिमय होता था। अन्ततः श्री लालताप्रसादजी मिश्र ने गाँव से दक्षिण खेतों के मध्य लगभग एक बीघा भूमि प्रदान की और जोर दिया कि आप लोग वहीं पर अपनी झोपड़ियाँ बना लें। उस स्थान पर एक कुआँ भी था, इसलिए हम लोगों ने उसी स्थान पर आश्रम बनाने का निश्चय किया।

एक दिन सन्ध्या समय पं० लालताप्रसाद के साथ मैं गाँव के पश्चिम की ओर घूमने निकला। कुछ दूर जाने के बाद हम लोग एक जंगल के समीप आ पहुँचे। यह जंगल एक बहुत बड़े तालाब के चारों ओर फैला हुआ था। तालाब बहुत प्राचीन होने के कारण भठ चुका था। सुन्दर चाँदनी रात थी इसलिए वह स्थान बहुत आकर्षक लगा। मैं जंगल के मध्य तालाब के खुले मैदान पर बैठ गया और पण्डितजी कुल्ला करने चले गये। मैं बैठे-बैठे सोच रहा था कि यदि इस जंगल का कोई कोना प्राप्त हो जाता तो आश्रम बनने के लिए बहुत सुन्दर स्थान होता। गाँव से यह कुछ दूर भी था और बन जाने पर देखने में भी एक प्राचीन ऋषि के आश्रम के ही समान होता। साथ ही मुझमें वह कल्पना भी जाग्रत हो उठी जिसे मैंने अपने कश्मीर-निवास के समय गाँव के सेवा-कार्य के लिए एक केन्द्रीय संस्था बनाकर आसपास के नौजवानों को शिक्षित कर देहात को संगठित करने के रूप में किया था। अपनी उसी कल्पना के अनुसार मैंने मेरठ के निकट रहना में कार्य करना प्रारम्भ किया था किन्तु अनुभवहीन विद्यार्थियों के द्वारा संचालित किये जाने के कारण वह सफल न हो सकी

वन झीलों का आकर्षण

थी। अब तो मैं रवीर्वा में सदा के लिए बैठ रहा था, तो क्या फिर एक बार और कोशिश करना उपयुक्त नहीं होगा? मैंने रासना में जितनी बड़ी केन्द्रीय संस्था की कल्पना की थी, उससे भी बड़ी कल्पना उस तालाब के किनारे बैठे-बैठे बना डाली। यह सोचकर वह स्थान मुझे और भी सुन्दर प्रतीत होने लगा कि यहाँ रहकर भविष्य में अनुकूल परिस्थिति मिलने पर हम आगे भी बढ़ सकेंगे।

थोड़ी देर में पं० लालतावप्रसादजी कुल्ला करके लौट आये। मैंने उनसे पूछा कि यह जमीन किसकी है? उन्होंने मेरे प्रश्न का अभिप्राय पूछा तो मैंने अपना उद्देश्य कह सुनाया। पंडितजी हँसकर कहने लगे कि इन जंगली सियारों के बीच यहाँ आकर निवास करेंगे? यहाँ कहीं निकट में पानी भी तो नहीं है। मैंने आपको जो स्थान दिया है, वह आपके लिए बहुत सुन्दर और साफ है। यहाँ तो घर बनाने के लिए भी कोई स्वच्छ स्थान नहीं है। सब टीला और जंगल है। आप घर बनायेंगे भी तो कहाँ बनायेंगे? फिर भी मैंने उनसे जमीन के मालिक का नाम बता देने का आग्रह किया। मेरा आग्रह देखकर वे हँस पड़े और कहने लगे—"कोई हर्ज नहीं, यदि जंगल में ही निवास करना है, तो यहीं पर बनाइये। किसीसे पूछना नहीं है। जमीन अपनी ही है।" तब मैं उसी स्थान पर आश्रम-निर्माण का निश्चय करके घर लौट आया और करणभाइ से सारी बातें कह सुनायीं। दूसरे दिन प्रातःकाल श्री करणभाइ और पं० लालताप्रसाद" पुनः उस स्थान को आश्रम-भवन-निर्माण की दृष्टि से देखने के लिए गये। स्थान करणभाइ को भी बहुत पसन्द आया और वे लोग जंगल का एक कोना पसन्द करके लौट आये।

शुभस्य शीघ्रम्। हम लोगों ने उसी समय गाँव से फावड़े और टोकरियों इकट्ठी कर लीं और सबेरे से ही उस स्थान पर जुट गये। जंगल की सफाई और टीले को काट-छाँटकर बराबर करने का कार्य प्रारम्भ हो गया। हमारी इस चेष्टा को देखकर गाँव के लोग हँसने लगे। आरम्भ में कहते थे कि भला इतना ऊँचा टीला ये लोग किस तरह काट सकेंगे?

यह तो टिटिहरियों के समुद्र सोखने का साहस करने जैसा है। किन्तु हम लोग उनकी बातों को अनसुनी करके अपने फावड़े और टोकरियाँ लेकर काम पर जुट जाया करते थे। कुछ दिनों के पश्चात् गाँव के व्यक्ति हमारे काम के प्रति हँसी-मजाक करने के उपरान्त धीरे-धीरे उस टीले पर आने लगे और हमारे कार्य को कौतूहल की दृष्टि से देखने लगे। कुछ लोग थोड़ी देर के लिए हमारे साथ फावड़ा लेकर खोदने भी लगते थे। इस प्रकार जो लोग हमारे कार्य को असम्भव समझते थे वे ही अब शनैः शनैः स्वयं सहायता देने लगे। अन्तिम दिनों में तो वहाँ लगभग तीस-चालीस फावड़े चलने लगे थे। इस प्रकार प्रायः दो-तीन माह की अवधि में हम लोगों ने उस टीले और जंगल को काटकर समतल बना डाला और आश्रम के मकान के लिए नींव खोद डाली। गाँव के सभी लोगों में उस समय काफी उत्साह था। उस उत्साह और जोश के ही परिणामस्वरूप हम जितना बड़ा घर बनाना चाहते थे उससे चौगुना और पाँचगुना बड़ा घर बना डाला। मैंने प्रतिवाद भी किया, तो लोगों ने कहा कि आप घबड़ाइये मत, सब कुछ हो जायगा। बहुत से लोगों ने बाँस आदि देने का भी वादा किया। इस प्रकार ग्रामीणों-निवास की एक वर्ष की अवधि में ही हम लोगों ने स्थायी रूप से आश्रम की नींव डाल दी।

आश्रम-भवन बनाते समय हमें एक बहुत बड़ा अनुभव भी प्राप्त हुआ। ग्रामीण जनता में अपने को महामनई समझनेवाले लोग भी हमें रोज फावड़ा चलाते हुए देखकर अपने दिल में परिश्रम के प्रति श्रद्धा करने लगे। हम लोगों की यह बात इतनी फैल गयी कि दूर-दूर के लोग भी हमारा काम देखने के लिए आने लगे।

तीन माह तक लगातार टीला काटने का काम करते रहने से आश्रम का काफी प्रचार हो गया और गाँववालों ने थोड़ा-थोड़ा सामान देकर आश्रम के लिए पूरी सामग्री इकट्ठी कर दी। हम लोगों को केवल बढ़ई और मजदूरों के ही लिए खर्च करना पड़ा।

आज जब हम आश्रम की उस विशाल इमारत को देखते हैं तो

ग्रामीण जनता के इस असीम प्रेम की बात सोचकर आश्चर्य करते हैं। हमारे बहुत से नौजवान कहा करते हैं कि गाँव का काम किस प्रकार होगा! गाँववाले इतने गरीब मूर्ख और आलसी हैं कि उनसे तो कुछ हो ही नहीं सकता है और हमारे पास कोई साधन नहीं। अतः गाँव मे जाकर बैठना बेकार-सा ही है। किन्तु वे भूल जाते हैं कि शहरी लोगों के शहरी जीवन व्यतीत करने के लिए, तालुकेदारों और महाराजाओं की अट्टालिकाओं को बनाने के लिए तथा शहर के लोगों को मोटर, सिनेमा आदि सामग्री जुटाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वे सभी तो उसी ग्रामीण जनता के यहाँ से आते है। इसलिए देहात के जन-समूह

श्रद्धा की आवश्यकता

अपने जिन साधनों से ऐसे बड़े-बड़े कार्य कर सकते हैं यदि वे चाहें तो उन्हीं साधनों से अपनी टूटी-फूटी मँड़ैया की मरम्मत भी कर सकते हैं। केवल मार्ग बतलाने की आवश्यकता है। यदि हम गाँवों में जाकर श्रद्धापूर्वक उनके सेवा-कार्य में लग जायें तो धीरे-धीरे उनको रास्ता बताने में समर्थ हो जायँगे।

अभी तुम्हारा पत्र आया है। सब समाचार मालूम हुआ। मैं खूब मजे में हूँ, सबको नमस्कार।

● ● ●

सरकारी दमन का रूप

३१

१९-१-'४१

अपने पिछले पत्र में मैंने लिखा था कि किस प्रकार गाँववालों की सहायता से एक स्थायी आश्रम बन गया।

धीरे धीरे दूर देहात तक आश्रम की बात फैलने लगी और आश्रम का प्रभाव बढ़ने लगा। पहले की अपेक्षा ग्रामीण लोगों में कुछ-कुछ जीवन संचार भी होने लगा। तालाब का टीला और जंगल खोदने की दृष्टि से हम लोग और भी प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सरकारी अधिकारियों की दृष्टि भी हम पर पड़ने लगी। चौकीदारों को हमारी गति-विधि नोट करने का आदेश मिल गया। देहात के जो व्यक्ति हम लोगों से अधिक घनिष्ठता रखते थे, उन्हें पुलिस के सिपाही परोक्ष रूप से डराने भी लगे। किन्तु अब तक हम लोगों ने गाँववालों के हृदय में स्थान बना लिया था। इसलिए हमारा कार्य पूर्ववत् चलता रहा। अधिकारी वर्ग ने जब देखा कि देहात के लोग सामान्य रूप से उनकी धमकी में नहीं आते तो उन्होंने दमन का विशेष तरीका काम में लाना शुरू किया।

आश्रम का बढ़ता प्रभाव

उस वर्ष लखनऊ में कांग्रेस हो रही थी और उसी वर्ष हमें पहले-पहल कांग्रेस में खादी और ग्रामोद्योग-प्रदर्शनी करनी थी। इसलिए मुझे चार पाँच माह के लिए लखनऊ चला जाना पड़ा। जिले के अधिकारियों ने अच्छा अवसर देखा और एक पर पूर्ण स्वाधीनता-दिवस के अवसर पर किये गये भाषण के उपलक्ष में भी करणभाई पर राजद्रोह की दफा १२४-अ लगाकर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। तत्पश्चात् गाँव में दमन-नीति का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। सिपाही और चौकीदार गाँव-गाँव में जाकर गाँववालों को समझाते थे और कहते थे कि अब क्या देखते हो? करणभाई की गिरफ्तार

सरकार द्वारा दमन

कर लिये गये और बंगाली बाबू डर के मारे स्थान बचाकर कहीं भाग गये। अब जो कोई आश्रम बनाने में किसी तरह की सहायता करेगा, वह बाँध लिया जायगा। गाँव के लोग इन बातों से घबराते तो अवश्य थे, किन्तु आश्रमी भाइयों के साथ उनका सम्बन्ध पूर्ववत् ही बना रहा। अधिकारियों को इतने पर भी सन्तोष न हुआ। एक दिन थानेदार ने अपने दल-बल के साथ रतौली के पास एक बाग में आकर खीमा गाड़ दिया। वहीं पर लोगों को बुला-बुलाकर खूब धमकाया और कहा कि जो लोग आश्रम बनाने में मदद देंगे उन्हें देख लूँगा। थानेदार के सबसे अधिक कोपभाजन वे लोग बने जिन्होंने हमें रहने के लिए या हमारे काम के लिए अपने मकान के हिस्से दिये थे। कुछ लोग डर गये और उन्होंने बड़े संकोच से लालसिंह भाई से घर छोड़ देने का अनुरोध किया। लालसिंह भाई ने उनका घर छोड़कर बाहर मैदान में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। छोटे-छोटे लड़कों में इतना जोश था उत्साह था कि वे कष्ट सहकर सभी विभागों का कार्य सुचारु रूप से चलाते थे और फिर भी आश्रम-निर्माण के लिए सामग्री एकत्र करते थे। आश्रम के भाई अपने खुले मैदान के निवास-स्थान से कार्य के लिए किसी दूसरी जगह जाते थे, तो बच्चे बारी-बारी से सामान की रखवाली करते थे।

पुलिस और जिले के अन्य अधिकारी पण्डित लालताप्रसाद पर बहुत अधिक दबाव डालने लगे कि आप अपनी जमीन में आश्रम न बनने दें। तहसील के हाकिम और थानेदार ने उन्हें बुलाकर धमकियाँ भी दीं। प्रारम्भ में पण्डितजी बहुत घबराये। उनके हृदय में प्रेम और भय का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दो-तीन दिन तक वे अहर्निश पड़े रहे। अन्त

दमन की आँधी में अचल रहने वाले

में प्रेम की ही जीत हुई और उन्होंने निश्चय कर लिया कि जो कुछ हो आश्रम तो बनेगा ही। अधिकारियों के हाथ में जो कुछ शक्ति थी उसके द्वारा उन्होंने पण्डितजी को गिराने की पूरी कोशिश की। गाँव के मुखिया का पद छीन लिया गया। पण्डितजी कई गाँवों की

सरकारी पंचायत के सरपंच भी थे। अधिकारियों ने उन्हें इस पद से भी वंचित कर दिया। परन्तु यह सुनकर तुम्हें प्रसन्नता होगी कि दो वर्ष तक लगातार परिश्रम करके भी सरकार उस क्षेत्र में दूसरा सरपंच न चुन सकी। निवासक हमेशा पण्डितजी का ही नाम लेते रहे।

गाँव का यही क्षेत्र था जहाँ सालभर पहले एक पुलिस चौकीदार को देखकर लोग घर-घर दौड़ते थे। सिपाही देखकर तो गाँव छोड़ भाग जाते थे। जब पहले-पहल हम लोग रणीवाँ आये तो एक बार उस गाँव में मुजफ्फरपुर से तहसीलदार आये हुए थे। उनके भय से कर अच्छे-अच्छे व्यक्तियों ने अपने बरतन और पुतलियाँ छिपा दी थीं। एक ने तो बखार में अपनी धुनकी धान के पयाल में छिपा दी थी। उसी क्षेत्र में केवल एक वर्ष तक रचनात्मक कार्य करने से लोगों में इतना साहस आ गया कि अधिकारी कोशिश करने पर भी एक सरपंच नहीं चुन सके और अन्त में उन्हें उस क्षेत्र की पंचायत ही तोड़ देनी पड़ी। थानेदार ने उन सभी लोगों को बुलाया था जिनके घरों में हम लोग रहते थे। कुछ लोगों ने तो अपने डर की बात भाई लालसिंह से कहकर अपनी जगहें खाली करवा लीं किन्तु जिस घर में हम लोग रहते थे उस घर की विधवा के बड़े लड़के श्यामधर मिश्र ने हम लोगों के विरुद्ध से कुछ नहीं कहा। जब उसने यह देखा कि पं० लालनारायण" ने अपनी भूमि पर आश्रम बनने का काम नहीं रोका तो वह भी चुप रहा। किन्तु तीन-चार दिन के पश्चात् पुलिसवालों ने उसे फिर बुलाकर धमकाया, जिससे वह डर

विधवा का तेज

गया। उस समय उसकी विधवा माता अपने नैहर में थी। श्यामधर वहीं गया और उसे बुला लाया तथा पुलिस के इस्तगासे का सारा किस्सा उसने कह सुनाया। साथ ही इस बात पर भी जोर दिया कि अब इन लोगों से अपना घर खाली करा लेना चाहिए। किन्तु उस गरीब और दुखी विधवा माँ ने साहस के साथ जवाब दिया कि चाहे जो हो, मैं इन्हें नहीं निकालूँगी। अगर पुलिस की शिकायत है तो वह स्वयं आकर

निकल जाय। हमारे ऊपर जो मुसीबत पड़ेगी, देख लेंगी। जिसे डर लगता हो, वही घर से निकल जाय।

कितने आश्चर्य की बात है कि देहात की एक गरीब विधवा, जिसके घर में हमेशा दोनों समय उचित रूप से भोजन भी नहीं मिलता, जिसके पास जीवित रहने के लिए भी पर्याप्त साधन नहीं है, जिसने अपने जीवनभर में किसी प्रकार का राजनीतिक व्याख्यान भी नहीं सुना, उसके भीतर इतना साहस कहाँ से आ गया! किस शिक्षा, किस आशीर्वाद और किस ऊँची सभ्यता ने उसके हृदय में इतने ऊँचे भाव जाग्रत किये!

अधिकारियों और पुलिस की उपर्युक्त चेष्टा देखकर मुझे जवाहर लालजी की कही हुई एक बात याद आती है। सन् १९११ ई० में मैंने गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा ग्राम-सेवा-कार्य के लिए स्थापित कानपुर के देहात के नरवल-आश्रम के सम्बन्ध में जवाहरलालजी को एक पत्र लिखा था। ग्राम-सेवा के कार्य में मुझे आरम्भ से ही दिलचस्पी थी। इसलिए मैं विशेष उत्सुक था कि वह आश्रम सुचारु रूप से चल जाय। जवाहर लालजी ने मेरे पत्र का यह उत्तर दिया था—

"प्रिय वीरेन्द्र, तुम्हारा पत्र मिला। विद्यार्थीजी के नाम के साथ जिस भी काम का सम्बन्ध है, उससे दिलचस्पी होना मेरे लिए परम स्वाभाविक बात है। मैं कानपुर जा रहा हूँ और आश्रम के सेक्रेटरी से बातें करूँगा, किन्तु तुमसे मैं एक बात कह देता हूँ कि देहात में तुम चाहे कोई भी काम करो, किन्तु उसका कुछ वास्तविक प्रभाव जनता पर पड़ने वाला हो, तो अधिकारी तुम्हें वह काम नहीं करने देंगे।

यही हुआ भी। रचीवों में जवाहरलालजी की बात चरितार्थ हो गयी किन्तु साथ ही यह भी अनुभव हुआ कि यदि हम देहात में रचनात्मक कार्य इस ढंग से करें कि उससे जनता पर वास्तविक प्रभाव पड़ सके, तो अधिकारियों के लिए काम का न करने देना भी असम्भव हो जाता है।

● ● ●

खादी-सेवकों को शिक्षा

३२

१५-१०-'४१

रखौली के दरवेश ब्रह्मचारीजी को तो तुम जानती हो। इधर जब से हम लोग ग्रामोद्योग विद्यालय को व्यवस्थित करने में लगे रहे तब से गाँव के कार्य का सारा भार उन्होंने उठा लिया था। उनके समान सादा सेवाभावी और चरित्रवान् सेवक दुर्लभ है। अत्यन्त योग्य और अनुभवी कार्यकर्त्ता होते हुए भी वे हमेशा अपने को पीछे रखकर ही कार्य करते थे। अभी-अभी मुझे समाचार मिला है कि ब्रह्मचारी तालाब में तैरते हुए डूब गये हैं। इस खबर ने मुझे इन दिनों बेचैन-सा कर दिया है। मेरे लिए तो वे सगे भाई से भी अधिक थे। रखौली के आसपास के तीन-चार सौ गाँवों की गरीब और असहाय जनता को उन पर बड़ा भरोसा था। पुलिस जमींदार और रोग आदि के प्रकोप में ब्रह्मचारी उनका एकमात्र आधार था। आज वह जनता अनाथ हो गयी। इसकी चिंता मुझे खा-खाकर खा रही है। किन्तु विवश हूँ। मनुष्य कर ही क्या सकता है! ईश्वर की लीला अपार है।

दुर्लभ सेवक का निधन

हाँ तो उस दिन मैं अधिकारियों के दमन की कहानी लिख रहा था। मेरी अनुपस्थिति में करणभाई को गिरफ्तार कर लेने के बाद पुलिस ने गाँववालों पर अपना आतंक फैलाने की कोई भी कोशिश उठा नहीं रखी। इससे एक लाभ भी हुआ। लोगों के साहस और प्रेम की परीक्षा भी हो गयी। हमारे सहकर्मियों की भी परीक्षा हो गयी।

करणभाई का मुकदमा लड़ा गया और सात महीने अभियोग चलाकर भी पुलिस अपनी बात साबित न कर सकी। करणभाई मुकदमे से बरी हो गये। मैं भी लखनऊ से लौट आया। फिर हम लोगों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति आश्रम-भवन निर्माण में ही केन्द्रित कर दी। करणभाई के छूट जाने से देहात में चारों ओर एक नया जोश छा गया और लोग पहले की

करणभाई का छुटकारा

अपेक्षा अधिक मनोयोग से आश्रम बनाने में सहायता करने लगे। मूल सन् १९११ तक आश्रम-भवन पूर्णतया तैयार हो गया।

अब तक हम लोगों से ग्राम-सेवा का कार्य केवल व्यक्तिगत रूप से ही किया था। किन्तु अब रणीवाँ-केन्द्र ने एक संस्था का रूप ग्रहण कर लिया था। आश्रम के खादी-विभाग में एक योग्य कार्यकर्ता की समस्या भी लगी हुई थी। उत्पत्ति-विभाग के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक था कि कुछ कार्यकर्ताओं को इस प्रकार की शिक्षा दी जाय कि वे कताई बुनाई के ज्ञान के साथ-साथ हमारे खादी-आन्दोलन के उद्देश्य और स्वरूप का भी ज्ञान प्राप्त कर लें। आश्रम के प्रधान कार्यालय ने उत्पत्ति-विभाग के नये कार्यकर्ताओं को कताई-बुनाई सीखने राष्ट्रीय आन्दोलन का साधारण ज्ञान प्राप्त करने एवं आश्रम जीवन की भावना ग्रहण करने के लिए तीन महीने तक रणीवाँ में भेजने का निश्चय किया।

गाँव में चरखे का प्रचार और स्वच्छता आदि का काम तो चल ही रहा था किन्तु इस शिक्षण-केन्द्र के स्थापित हो जाने से मेरी पुरानी कल्पना को साकार रूप प्राप्त होने की कुछ सम्भावना प्रतीत होने लगी। व्यक्तिगत रूप से शिक्षा की अवधि कुछ अधिक रखना चाहता था, किन्तु आश्रम ने केवल तीन माह की ही अवधि स्वीकार की। इस प्रकार के कार्यकर्ता-शिक्षण का अनुभव मुझे पहले से कुछ नहीं था। अतः यह कार्यक्रम मेरे लिए भी उतना ही सीखने का विषय था जितना किसी नवागत शिक्षार्थी के लिए। वस्तुतः इससे मैंने सीखा भी बहुत अधिक। इससे मुझे अनुभव हुआ कि कार्यकर्ता-शिक्षण पर अब तक हम लोगों ने जितना ध्यान दिया है वह बिलकुल नहीं के बराबर है।

खादी-शिक्षण का केन्द्र

मैं नवागत शिक्षार्थियों के शिक्षा-काल में लग गया और कुछ दिनों के लिए मैंने इसी कार्य को अपना प्रधान कार्य बना लिया। आश्रम के विविध विभागों के लिए बहुत से कार्यकर्ताओं को कई टुकड़ियों में शिक्षा दी गयी। कुछ कार्यकर्ता तो सन्तोषजनक नहीं निकले किन्तु साधारणतया

इस थोड़े दिनों की ही ट्रेनिंग से उनकी भावना में कुछ परिवर्तन अवश्य आ गया। कालान्तर में वे जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ इस शिक्षा का कुछ प्रभाव दिखाई पड़ा। किन्तु शिक्षा-केन्द्र खोलते समय मेरी कल्पना कुछ और ही थी। मैं चाहता था कि चरखा-संघ के उत्पत्ति-केन्द्र

उत्पत्ति-केन्द्रों को नये ढंग पर चलाने की आवश्यकता

इस दृष्टिकोण से चलाये जायँ कि गांधीजी के चरखा और खादी का व्यापक अर्थ साकार रूप से दृष्टिगोचर हो सके। मेरी वह कल्पना कल्पना ही रह गयी। एक तो तीन माह के संक्षिप्त समय में कार्यकर्ताओं को पर्याप्त शिक्षा देना सम्भव नहीं था। दूसरे उत्पत्ति-केन्द्रों को नये दृष्टिकोण से चलाने का कार्यक्रम आश्रम स्वीकार न कर सका। सम्पूर्ण कार्य पुराने ही ढर्रे से चलता रहा। मैं जितना ही विचार करता हूँ, उतनी ही यह धारणा दृढ़ होती जाती है कि चरखा-संघ नवीन दृष्टिकोण से अपने कार्यकर्ताओं की शिक्षा का प्रबन्ध करे। ज्यों-ज्यों कार्यकर्ता तैयार होते जायँ, त्यों-त्यों उत्पत्ति केन्द्रों का कार्य इस ढंग से संचालित किया जाय कि हरएक कातनेवाली कम-से-कम अपने काते हुए सूत का कपड़ा पहनने के लिए उत्सुक हो उठे। आज जो वे यत्किंचित् खादी पहनती भी हैं, वह एक प्रकार के दबाव से ही पहनती हैं। मेरा विचार है कि वस्त्र-स्वावलम्बन की योजना अलग से न बनाकर कताई-केन्द्रों को ही स्वावलम्बी कर दिया जाय। तभी हम वस्त्र-स्वावलम्बन की दिशा में सफलता प्राप्त कर सकेंगे। ● ● ●

हम लोगों का लाभ ही हुआ। रात-दिन गाँव-गाँव घूमना, जहाँ संध्या हुई, वहीं रह जाना और जो मिला, वही खा लेना आदि बातों से हमारे कार्यकर्ताओं ने पर्याप्त साहस का पाठ पढ़ा। प्रत्येक श्रेणी के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण हमने गाँवों की स्थिति का भी भलीभाँति अध्ययन कर लिया। यह अध्ययन कालान्तर में ग्राम-सेवा-कार्य के लिए हमारा बड़ा सहायक सिद्ध हुआ।

चुनाव के पश्चात् हमारे सामने एक अन्य समस्या आ खड़ी हुई। अब तक हम गाँव में चरखा-शिक्षण, सफाई, रोगी की सेवा और छुआछूत-निवारण का कार्य करते रहे। चुनाव में कांग्रेस की जीत होने के कारण देहात की परिस्थिति एकाएक बदल गयी। युक्तप्रान्त में कांग्रेस के विरोध में केवल जमींदार और ताल्लुकेदार पार्टी के ही लोग खड़े हुए थे। इन ताल्लुकेदारों और जमींदारों का इस प्रान्त के अवध के जिलों में किस प्रकार एकच्छत्र अधिकार है यह तो तुम्हें विदित ही है। उनके विरुद्ध आवाज उठाना तो बहुत बड़ी बात थी, सीधे आँख उठाकर ताकना भी देहात के लोगों के लिए असम्भव था। धन सम्पत्ति सरकारी कानून और अधिकारी, सभी इनके हाथ में थे। कोई व्यक्ति यदि इनके बीच में आने का साहस करता, तो कुचल दिया जाता था। ऐसी दशा में जब उन्हींकी भूमि में रहनेवाले अवध के किसानों ने उनके विरुद्ध वोट दिया तो वे क्रोध से पागल हो उठे और किसानों की इस धृष्टता का बदला लेने की कोशिश में लग गये। उनके सिपाहियों द्वारा किसानों का निरपराध ही पीटा जाना, जबर्दस्ती खेत दखल कर लेना, खड़ी फसल कटवा लेना नित्य की साधारण बातें हो गयी। ऐसी स्थिति में आसपास की असहाय और गरीब जनता इन कष्टों से पीड़ित होकर सहायता के लिए स्वभावतः हमारे पास आने लगी। दिनभर में इस तरह के दो-तीन मामले तो आ ही जाते थे। इस प्रकार चुनाव के कई मास बाद तक भी किसानों के अत्याचार-निवारण में उनका साथ देना ही हमारा मुख्य काम हो गया था।

जमींदार-किसान संघर्ष की भूमि

१८-१०-४१

जमींदारी-प्रथा

जब मैं भारत की ग्रामीण पंचायती-प्रथा का वर्णन करता हूँ और उस समाज से वर्तमान जमींदारी-प्रथा के समाज की तुलना करता हूँ, तो स्तब्ध हो उठता हूँ। उन दिनों समाज में साम्यवादी व्यवस्था कायम थी, वस्तुएँ बँटी थीं; श्रेणी-भेद का निर्माण कर्मभेद की ही दृष्टि से हुआ था, शोषण की दृष्टि से नहीं। कालान्तर में जमींदारी-प्रथा आ गयी। यह प्रथा चाहे जब प्रारम्भ हुई हो किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि यह मुगल काल की चीज है और सम्भवतः विदेशी शासन के बाद ही इस जमींदारी और जागीरदारी का जन्म हुआ है। प्रारम्भ में जब यह स्थापित हुई तो शताब्दियों के परम्परागत साम्यवादी संस्कार के कारण जमींदार और किसानों के बीच काफी प्रेम और सहकारिता का सम्बन्ध रहा किन्तु यूरोपीय संस्कृति और सभ्यता के साथ-साथ वहाँ के सामन्तवादी स्वार्थ और शोषण की प्रवृत्ति भी हमारे देश में पहुँच गयी। ब्रिटिश साम्राज्यवादी स्वार्थ ने भी इसे प्रोत्साहन ही दिया। उनको तो किसी ऐसी श्रेणी की आवश्यकता थी ही जिसके द्वारा वह जनता का शोषण जारी रख सकते और देश पर प्रभुत्व स्थिर रख सकने में समर्थ हो सकते। इसलिए उन्होंने एक ओर तो जमींदारों को शोषण और प्रजा-पीड़न का पाठ पढ़ाया और दूसरी ओर कानून बनाकर इनका संरक्षण किया।

और वह ताल्लुकेदारी।

अवध की ताल्लुकेदारी-प्रथा का तो कहना ही क्या। इन ताल्लुकेदारों के लिए हर प्रकार के शोषण और अत्याचार उनके वाजिब हक हैं। उनकी जबान से जो कुछ निकल जाय वही कानून है। उनके विरुद्ध कोई कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि सरकारी कर्मचारी भी सदैव उन्हींका साथ देते हैं। किसानों से लगान लेकर कम रकम की रसीद देना और फिर बकाया लगान का दावा करना किसीसे नजराना लेकर उसे खेत

सताना अत्यन्त सरल हो गया। घबराहट के कारण किसान कितने साहस हीन हो गये थे, एकाध उदाहरणों से ही तुम इसका अनुमान कर सकोगी।

एक दिन की बात है। प्रातःकाल ६ १ बजे थे। मैं स्नान करके अखबार पढ़ रहा था। इतने में ही दो किसान मेरे पास आकर फूट-फूट कर रोने लगे। रोते-रोते उन्होंने बताया कि जिलेदार हमारे गाँव के लोगों को आकरवा पीट रहा है। मैंने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा कि तुम लोग चलो, मैं अभी आता हूँ। वह गाँव आश्रम से करीब आठ मील की दूरी पर था। इसलिए मैं खाना खाकर साइकिल से उस गाँव के लिए चल पड़ा। रास्ते में समरसिंहपुर नाम का एक गाँव पड़ता था, जिसमें हमारे द्वारा स्थापित पंचायत के एक सरपंच रहते थे। मैं उन्हें भी साथ लेकर घटनास्थल पर पहुँचा। किन्तु वहाँ जाकर एक अजीब दृश्य देखने को मिला। गाँव में कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता था, केवल दो-तीन बूढ़ी स्त्रियाँ अपने-अपने बरामदे में बैठी नजर आती थीं। उनसे पूछकर भी हम यह नहीं जान सके कि गाँव के आदमी कहाँ चले गये। देर तक हम इस प्रतीक्षा और खोज में लगे रहे कि किसीसे भेंट हो जाय, किन्तु बहुत समय बीत जाने पर भी कोई दिखाई नहीं पड़ा। आखिरकार निराश होकर हमें वापस लौट आना पड़ा। समरसिंहपुर के सरपंच भी मधुरसिंह उस गाँव के लोगों पर बहुत क्रोधित होकर वापस आये। रास्ते में एक दूसरे गाँव के लोगों से मालूम हुआ कि हमें आते देखकर वे छिप गये थे, क्योंकि उनमें इतना साहस नहीं था कि गाँव में बैठकर जिलेदार की निन्दा कर सकें। जो व्यक्ति शिकायत करता उसकी सूचना जिलेदार के पास अवश्य पहुँच जाती और जिलेदार उसका गाँव में रहना असम्भव कर देता। ये बातें सुनकर किसानों की स्थिति पर विचार करते हुए मैं आश्रम वापस आया।

किसान ताल्लुकेदार से कहाँ तक घबराता है, इसका एक उदाहरण और देना अधिक नहीं समझता आपका।

किसानों की साहस हीनता के कुछ उदाहरण

एक दिन दोपहर के समय आश्रम से एक मील दूर सिहौरा गाँव से दो-तीन स्त्री-पुरुष दौड़ते हुए आये और कहने लगे कि जमींदार के आदमी हमारे खेत जबरन जोत रहे हैं। उस समय आश्रम पर कई भाई उपस्थित थे। हमने आश्रम के दो भाइयों को उन किसानों के साथ कर दिया। किसान आगे-आगे और हमारे आश्रमीय भाई उनके पीछे-पीछे जा रहे थे। रास्ते में एक खेत के पास ताल्लुकेदारों के सिपाही उन किसानों पर टूट पड़े। जब हमारे आश्रमीय कार्यकर्ता भी नजदीक पहुँचे तो एक लाठी उन पर भी पड़ी। किन्तु तत्काल ही वे आश्रम के लोगों को पहचानकर भाग गये। हमारे कार्यकर्ता गाँव में गये। उन्होंने गाँववालों को साहस दिलाया कि जमींदार के आदमी जबरदस्ती खेत न जोतने पावें। फिर जो आदमी घायल हुए थे उन्हें साथ लेकर थाने में रिपोर्ट करने चल दिये। उनके चले जाने पर ताल्लुकेदार के सिपाहियों ने गाँव में घुसकर गाँव-वालों को बहुत मारा। कुछ लोगों को तो मारते-मारते बेहोश कर दिया और कहते गये कि देखेंगे कि अब किस तरह आश्रम में जाते हो!

दूसरे दिन प्रातःकाल मैं कप्तानसाहब के साथ उस गाँव में तहकीकात करने पहुँचा। उस के मारे गये लोगों को भी थाने में रिपोर्ट देने के लिए भेज दिया। लोग बहुत डरे हुए थे किन्तु साहस दिलाने पर सब लोग उन सिपाहियों के विरुद्ध गवाही देने को तैयार हो गये। मैंने इस मामले की एक लिखित रिपोर्ट जिले के डिप्टी कमिश्नर के पास भेज दी और उनसे अनुरोध किया कि इस सम्बन्ध में पूरी जाँच की जाय। मैं उनसे स्वयं भी जाकर मिला। डिप्टी कमिश्नर और पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने आकर स्वयं जाँच की। गाँववालों ने भी साहस के साथ सच्ची-सच्ची घटना कह सुनायी। जिलाधीश ने तहकीकात करके उन सिपाहियों पर अभियोग चालू कर दिया।

ताल्लुकेदार के आदमी क्यों और कैसे दखल कर रहे थे यह भी एक सुनने योग्य कहानी है। मैं तुम्हें पिछले पत्र में लिख चुका हूँ कि भैया किसी अन्य को देकर और उस पर नाम किसी अन्य का चढ़वा देना

उनका एक साधारण काम था। इसी प्रकार उस गाँव के सैकड़ों ऐसे खेत, जिन्हें गाँव के किसान पचास-पचास साठ-साठ साल से जोते हुए थे, पटवारी के रजिस्टर में जमींदार के नाम से और दर्ज थे। तालुकेदार के तो प्रायः सभी अधिकारी मित्र ही रहते हैं, इसलिए सदा उसके आदेशानुसार ही पटवारी के यहाँ इन्दराज होता रहा। बन्दोबस्त के समय बन्दोबस्त के अफसरों ने भी उस पर ध्यान नहीं दिया। आखिर वे भी तो जमींदार के दोस्त बनकर उनसे इच्छानुसार पूजा प्राप्त करते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब जमींदार किसी भी ऐसे खेत के लिए यह कह दे कि यह मेरा खेत है, तो किसानों के लिए उसे अपना सिद्ध करना कठिन हो जाता है। हाँ गवाहों द्वारा कब्जा अवश्य ही सिद्ध किया जा सकता है किन्तु इस प्रकार के जालिम और सर्वशक्तिमान् तालुकेदारों के विरोध में साक्षी देने का साहस कौन कर सकता है। इस प्रकार झूठी तौर लिखी हुई जमीन छीनकर वह गाँव पर अत्याचार करना चाहता था, किन्तु जब यह अभियोग डिप्टी कमिश्नर की कचहरी में चला गया, तो उसे कुछ परेशानी अवश्य हुई। पर तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि अन्त में गाँववाले उस तालुकेदार के दबाव से इतना घबड़ा गये कि सब-के-सब डिप्टी कमिश्नर के यहाँ जाकर उसके अनुकूल गवाही दे आये। कालान्तर में मुझे मालूम हुआ कि उन पर दबाव डालने में पुलिस ने भी जमींदार का साथ दिया था।

किसानों के हक कैसे छीने जाते हैं?

इस प्रकार मामला समाप्त हो जाने पर भी जमींदार का क्रोध शान्त नहीं हुआ। थोड़े ही दिनों के भीतर उस गाँव के एक आदमी का कत्ल कर दिया गया। यह आदमी वही था जिसने तालुकेदार के विरुद्ध सबसे पहले आवाज उठायी थी।

विविध अधिकारी समय-समय पर भारतीय जनता को सुख-शान्ति प्रदान करने की डींग हाँकते हैं। उनके द्वारा लिखित पुस्तकों के जरिये यह प्रचार किया जाता है कि उनकी राज्य-व्यवस्था इतनी सुन्दर है कि

भारतवर्ष में चोर लुटेरे और डाकुओं का भय नहीं रह गया। किन्तु जब

व्यवस्थित लूट की प्रणाली

हम देखते हैं कि ये साम्राज्यशाही लूट के दलाल गाँव के गरीब किसानों का डाका लूट और नूच आदि से किस प्रकार संरक्षण कर रहे हैं, तो साफ जाहिर होता है कि वर्तमान शासन ने प्राचीन काल के सॉझ-सबेरे होनेवाले डाका और लूट के स्थान पर इनका व्यवस्थित रूप से दुःखमयी बन्दोबस्त कर रखा है। यदि ये एक-आध ऐसी घटनाओं को कहीं रोकते भी हैं तो इसलिए नहीं कि वे हिन्दुस्तान की गरीब जनता को आराम पहुँचाना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि वे नहीं चाहते कि उनके नियत किये गये एजेन्टों के अतिरिक्त दूसरा कोई उन्हें लूटे।

गाँव के केवल वे ही किसान नहीं सताये जाते, जो ताल्लुकेदारों की भूमि में रहते हैं। छोटे-छोटे जमींदार, जिन्होंने निर्वाचन में कांग्रेस का

घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा मेड़चढ़ा नहीं

साथ नहीं दिया था ताल्लुकेदारों से भी अधिक पागल हो गये थे। ताल्लुकेदार तो किसानों से दूर रहते हैं। किसानों की अवस्था उनके सामने से नहीं गुजरती किन्तु छोटे जमींदार तो सदा उनके सिर पर सवार रहते हैं और समय पर डण्डा लेकर पहुँच जाते हैं। शायद इसीसे किसानों में एक कहावत प्रचलित है—'घोड़चढ़ा ठाकुर अच्छा, मेड़चढ़ा नहीं।' छोटे जमींदार न तो किसानों को पट्टा ही देते हैं और न कभी लगान की रसीद ही। इसलिए उनके किसान सोलहों आने उनकी अधीनता में रहते हैं।

इस प्रकार चुनाव के पश्चात् ताल्लुकेदारों और छोटे जमींदारों का अत्याचार इतना बढ़ गया था कि हमारी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः उसीके निराकरण में लग जाती थी। ग्राम-सेवक के लिए जनता की हर तकलीफ में साथ रहना परम धर्म है। गाँव के लोग उससे यही अपेक्षा भी रखते हैं।

आशा है, तुम सभी लोग स्वस्थ होगे। सबको नमस्कार। • • •

११-१०-'४१

शायद ही कोई ऐसा पढ़ा-लिखा मनुष्य होगा जो आजकल के जमींदारों के किसानों पर अत्याचार करने का हाल कुछ-न-कुछ न जानता हो। किन्तु अवध के किसानों को मौखिकी तक नहीं मिलता, जिससे वे उन अत्याचारों के विरुद्ध चूँ तक नहीं कर सकते। कानून कुछ इस ढंग से बना हुआ है कि जमींदार यदि कानून के खिलाफ भी ज्यादती करे, तो किसान उसे सहने के लिए मजबूर है। किसान ताल्लुकेदार को नजराना देकर जमीन का पट्टा लेता है, किन्तु उस पट्टे की मीयाद केवल उसीके जीवन तक समाप्त हो जाती है और उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद जमींदार उसके उत्तराधिकारियों को बेदखल कर देता है तथा नये सिरे से नजराना लेकर उसका नया पट्टा लिखता है। यदि उसके बाल-बच्चे दूसरे लोगों से अधिक नजराना देने की व्यवस्था न कर सकें, तो उनका खेत औरों के हाथ में चला जाता है और वे सदा के लिए बेदखल हो जाते हैं। जीवित रहने के एकमात्र साधन अपने खेतों को बचाने के लिए लोग अधिक-से अधिक ब्याज दर पर भी महाजन से कर्ज लेते हैं और इस प्रकार पिता की मृत्यु के पश्चात् ही पुत्र के जीवन पर कर्ज के बोझ का दबाव आ पड़ता है।

कानूनी त्रुटियाँ

इस तरह लम्बा नजराना देकर प्राप्त की गयी जमीन के लिए भी यह कोई आवश्यक नहीं कि किसान अपने जीवन भर उसका उपयोग कर सके, क्योंकि जमींदार उसे कई अन्य तरीकों से जब चाहे तब बेदखल कर सकता है। किसान किसी कारण वश अपने खेत का कोई भाग न जोत सके और उसे किसी अन्य को जोतने के लिए दे दे तो जमींदार उसे सारी जमीन से बेदखल कर देता है। लगान न देने के अपराध में बेदखली हो जाती है।

बटवारों के पौरसताम्बे

यदि चार-छह आने ही बाकी रह जायँ तब भी किसान अपनी सारी जमीन से बेदखल हो जाता है। तालुकेदार के कर्मचारी किसानों को हर प्रकार से अपने वश में रखने के लिए उनसे पूरा लगान लेकर भी उन्हें पूरी वसूली की रसीदें नहीं देते। सदा कुछ-न-कुछ बकाया तो लगाये ही रहते हैं। यदि किसी समय किसी पर भृकुटी टेढ़ी हुई तो उसी बकाया रजिस्टर के आधार पर दावा कर देते हैं। प्रायः ऐसा भी होता है कि जमींदार के कर्मचारी किसानों को तंग करने की नीयत से फसल का मौसम न रहने पर भी लगान माँग बैठते हैं और यदि दो-एक दिन के भीतर उन्हें लगान न मिला, तो दावा कर बैठते हैं। इस प्रकार यदि किसान कहीं से कर्ज लेकर अदालत में हाजिर भी हुआ तो कम-से-कम अदालत तक आने-जाने का व्यय-भार तो उसे उठाना ही पड़ता है और उसे लगान से कई गुने के चक्कर में पड़ ही जाना होता है। किसानों को कर्ज देनेवाले भी या तो जमींदार के एजेंट ही होते हैं या ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो जमींदार से मिले जुले रहते हैं। वे एक ओर से दबाते हैं और दूसरी ओर कर्ज लेने के लिए बाध्य करते हैं। इस तरह वे किसानों से दोहरा फायदा उठाते हैं।

बेदखली के ये अधिकार किसानों से जो चाहे सो कराने के लिए काफी हैं। बेदखली की पिस्तौल सदा उनके सिर पर तनी रहती है।

जमींदारों को मुआवजा देना अनुचित है

यद्यपि नजराना लेने का कोई कानूनी हक नहीं है, फिर भी उन्हें देना ही पड़ता है। साधारणतया प्रति बीघे पचास-साठ रुपये नजराने देने पड़ते हैं जो लगभग जमीन के दाम के बराबर ही होता है। कांग्रेसी मंत्रि-मण्डल में इस विषय पर विचार चला था कि यदि जमींदारों से जमीन ले ली जाती है, तो उन्हें मुआवजा देना चाहिए अथवा नहीं। मेरी समझ में नहीं आता कि अब इस विषय पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या रह गयी है। नजराना के रूप में उन्होंने अब तक इतना अधिक रुपया प्राप्त कर लिया है जो जमीन के वास्तविक मूल्य से कई गुना हो सकता है। इसके अतिरिक्त आये दिन वे किसानों से जो तरह-तरह की

रक्में लेते रहते हैं और उन पर जो तरह-तरह के अत्याचार करते हैं, उसका तो हिसाब ही अलग है। इन अत्याचारों को किसान इसी भय से चुपचाप सहन कर लेते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि जमींदार नाराज होकर उनके जीवन-यापन के एकमात्र साधन खेतों से बेदखल कर दे। अन्त में उनकी यह बेबसी इस दर्जे तक पहुँच जाती है कि वे जमींदार और उनके कर्मचारियों की माँग के विरुद्ध अपनी बहू-बेटियों की प्रतिष्ठा बचा सकने में असमर्थ हो जाते हैं और उनकी मांगों को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने का साहस उनमें नहीं रह जाता।

यह बात सही है कि कांग्रेस मन्त्रिमण्डल स्थापित हो जाने पर तथा नये विधान के निर्माण के पश्चात् परिस्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु सदियों से जमींदारों द्वारा सताये जाने के कारण उनमें इतना साहस नहीं रह गया है कि वे अपने सत्व पर अड़ सकें। नये कानून के बन जाने पर उनकी अवस्था ठीक उसी प्रकार की है, जिस प्रकार गरीब जमींदार को अपनी जमीन की डिग्री अदालत से मिल गयी हो किन्तु अपनी गरीबी और बेबसी के कारण वह उस पर अधिकार न कर पाता हो।

यह तो हुई किसानों की स्थिति अब उन मजदूरों का भी कुछ हाल सुनो, जो किसानों के साथ गाँव में रहते हैं।

गाँव में मजदूरी करनेवाले लोग प्रायः चमार केवट और पासी आदि होते हैं। इनके अलावा कुर्मी अहीर कुम्हार आदि भी, जिनके पास यह म्मी मजदूरी। अपना खेत बहुत कम है दूसरों के खेत में मजदूरी करते हैं। साधारणतया गाँव के जमींदार मजदूरों को कुछ खेत दे देते हैं जिसके बदले वे या तो लगान लेते हैं अथवा मजदूरी करा लेते हैं। जो लोग मजदूरी कराते हैं, वे मजदूरी का कोई हिसाब नहीं रखते। दस-बारह घंटे तक मजदूरों को खेत में काम करना पड़ता है, जिसके बदले में उन्हें सेर-डेढ़ सेर मटर या चना जैसा घटिया अनाज दिया जाता है। कहीं-कहीं उस के समय पावभर चबेना भी देते हैं। इस प्रकार हिसाब की दृष्टि से दस-बारह घंटे की मजदूरी एक आने या डेढ़ पैसे तक

पड़ती है। यह थोड़ी-सी मजदूरी भी मजदूरों को तभी मिलती है, जब खेत में काम करने का समय होता है। इसके अतिरिक्त गृहस्थी के छोटे-मोटे काम तो उनसे मुफ्त ही करा लिये जाते हैं।

अधिकतर जमींदार जिस प्रकार किसानों को सताते और लूटते हैं, उसी प्रकार वे मजदूरों के साथ भी व्यवहार करते हैं। अनाज तेल नमक

मनमाना भाव

और तम्बाकू के लेन-देन में अन्धेर की सीमा हो जाती है। जब ये चीजें मजदूरों के पास नहीं रह जातीं तो वे अपने मालिकों से उधार लेते हैं और जब मजदूरी का जमाना आता है तो मजदूरी में से कटवा देते हैं, परन्तु काटते समय जमींदार लोग भाव बढ़ाकर दाम लगाते हैं। इसी प्रकार जिन मजदूरों के पास कुछ खेती होती है अथवा जो छोटे किसान होते हैं, उनसे ये जमींदार सालभर अनाज, घी और तेल आदि लेते रहते हैं। फसल में इन चीजों का मूल्य लगान में या अपने दिये हुए रुपये के सूद में काट देते हैं। किन्तु हिसाब करते समय बड़ी बेरहमी के साथ चीजों का सस्ता-से-सस्ता मनमाना भाव लगा लेते हैं। इन बातों के अतिरिक्त मजदूरों को मार-पीट कर उनसे अधिक काम करा लेना उनकी झोपड़ी के आगे-पीछे या छप्पर पर लगी हुई सब्जी, तरकारी और तम्बाकू आदि जबरदस्ती तोड़ लेना उनके लिए साधारण बातें हैं।

मजदूरों के पास कमाने का अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिए चुपचाप इन अत्याचारों को सहने के अलावा और कोई चारा नहीं।

मैं स्वस्थ हूँ। आशा है, तुम सभी लोग भलीभाँति होगे। सबको नमस्कार।

● ● ●

२१-१०-४१

कल हम लोगों ने खूब दिवाली मनायी। अपनी-अपनी बैरकों को प्रकाश से खूब सजाया। इतने प्रकाश का हो जाना इस जेल की दुनिया के लिए बिल्कुल नयी बात थी। रात के समय 'कैम्पफायर' की तरह का तमाशा भी हुआ। लोग विचित्र-विचित्र पोशाकें पहनकर अपना खेल दिखाते थे। कोई स्त्री बनकर आता था कोई पुरुष कोई अफगानिस्तान के पठान का रूप ग्रहण करता था और कोई विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न बनकर पहुँचता था। इस तरह रातभर खूब हो-हल्ला रहा, जिससे महीनों की उदासीनता समाप्त हो गयी। तुम्हें ज्ञात है कि किसान और जमींदार के झगड़ों की समस्या सुलझाने के लिए आजकल बहुत-से लोग देहात में जाते हैं, किन्तु उनमें प्रायः एकतरफी भावना होती है। मेरे पिछले पत्रों से तुम्हें यह ज्ञात हो गया होगा कि जमींदार किसानों को कितना परेशान करते हैं। इसलिए ग्राम-सेवक के मन में जमींदारों के प्रति कटु भावना का होना स्वाभाविक है। जब कोई किसान किसी जमींदार के

किसानों द्वारा असत्य आरोप

विरुद्ध कोई शिकायत लेकर आता है, तो हमारा दिमाग तुरन्त किसान के पक्ष और जमींदार के विपक्ष में हो जाता है, किन्तु मैंने यह महसूस किया है कि इन अभियोगों में से बहुत से असत्य भी होते हैं। हम यदि किसान की केवल मौखिक बातें सुनकर जमींदार के विरुद्ध अपनी भावना बना लेते हैं तो हम किसी पक्ष के प्रति न्याय नहीं कर सकते। मैंने अनुभव किया है कि ये अधिकतर ग्राम-सेवक यह भूल कर बैठते हैं। अपने सामने घटित हुए ऐसी एक घटना का उल्लेख कर रहा हूँ जिससे तुम्हें यह पता चल जायगा कि किसानों के इस प्रकार के असत्य मामले भी हमारे सामने आते थे।

एक दिन खाना खाने के बाद मैं चरखा चला रहा था। कोठी के पास का एक किसान दौड़ा हुआ आया और एक पैर पर खड़ा होकर रोने लगा। सान्त्वना देने पर वह कुछ शान्त होकर कहने लगा—"मइया, कोठी के सिपाही के मारे हम रहे नाहीं पाइत। वे हमका मारत हैं और कहत हैं कि तुम्हें हम माटी कर देब। जिनका वोट दिये हो, उनहीं के गाव जाकर जोतो और उनही की जमीन पर बसो।" उस समय आश्रम पर करुणाभाई या ब्रह्मचारी कोई भी नहीं थे। मैंने उसका और उसके गाँव का नाम लिख लिया और कह दिया कि आश्रम में किसीको भेजूँगा। वह मेरा पैर पकड़कर रोने लगा और कहने लगा—"अभी चलो हमारे घर भर का निकाल दीहिन है और हमार रहै के कौनों ठेकान नाहीं बाय और बिना तुहरे गए केहू दूसरे के मान के नाहीं बाय।" उसकी करुण कहानी सुनकर मैंने उससे कहा कि तुम चलो, हम अभी आते हैं। उसके जाने के लगभग आध घण्टे पश्चात् मैं साइकिल से उसके घर पहुँचा। तब तक वह अपने घर नहीं पहुँचा था। रास्ते में मैंने उसे कहीं नहीं देखा था किन्तु उसके घर की स्थिति देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। घर पर बिल्कुल शान्ति विराज रही थी। ऐसा नहीं लगता था कि उन लोगों पर किसी प्रकार की आपत्ति आयी हुई है। एक स्त्री शान्तिपूर्वक बैठकर चरखा कात रही थी। बच्चे इधर उधर खेल रहे थे। मैंने उसी स्त्री से उस मनुष्य के सम्बन्ध में पूछा। उसने उत्तर दिया कि वह तो आश्रम की ही ओर गये हुए हैं और अब तक घर वापस नहीं आये। मैं वहीं पर बैठ गया और उस स्त्री से बातचीत करने लगा। जब मैंने उससे पूछा कि आश्रम जाने की क्या आवश्यकता आ पड़ी तो उसने कहा कि "सिरदिया हम लोगन संग करत है यही का शिकायत करे गये हैं।" फिर मैंने धीरे धीरे उसी स्त्री से सारी बातें पूछ लीं। मालूम हुआ कि यह झगड़ा बहुत पुराना है और दोनों में बहुत दिनों से चलता रहता है। पूछताछ करने पर यह भी मालूम हुआ कि उस किसान के परिवार के किसी भी व्यक्ति का नाम वोटर लिस्ट में नहीं था। इस बातों की

विशेष व्याख्या करना व्यर्थ सा ही है। निष्कर्ष यही है कि इस झगड़े में वे दोनों ही अपराधी थे। हाँ, वह सिपाही जमींदार का कारिन्दा भी था इसलिए वह अधिक ज्यादती कर सकता था, किन्तु मुझसे जिस घटना का उल्लेख किया गया था, वह आदि से अन्त तक झूठी थी।

इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ों मामले आया करते थे, जो जाँच करने पर असत्य सिद्ध होते थे। एक स्थान पर तो किसान ने जमींदार के विरुद्ध प्रचार करने के लिए अपना झोंपड़ा स्वयं अपने हाथों से तोड़ डाला और हल्ला मचाना शुरू किया कि जमींदार ने मेरा झोंपड़ा तुड़वा दिया है। उसके इस प्रचार से देहात में काफी हल्ला मचा। अन्त में जब कश्यप भाई ने घटनास्थल पर जाकर पता लगाया तो कुछ दूसरा ही विवरण मिला।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि एक ही गाँव के दो जमींदार आपसी शत्रुता के कारण एक-दूसरे की रिआया को अकारण ही उभार दिया

जमींदारों के झगड़े

करते हैं। अन्त में जब स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जाती है, तो मामला हमारे पास पहुँचता है। ऐसे अभियोगों में एक जमींदार दूसरे की रिआया के प्रति स्वभावतः कुछ अधिक हमदर्दी प्रकट करने लगता है। ऐसे मामलों का सुलझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि हमने यदि किसी तरह से मामला सुलझा भी दिया तथा किसान और जमींदार में किसी तरह समझौता भी करा दिया तो हमारे चले जाने पर वह समझौता स्थिर नहीं रह पाता।

इन दृष्टान्तों से तुम्हें यह भलीभाँति ज्ञात हो गया होगा कि ग्राम सेवक को किसान और जमींदार के झगड़े सुलझाने में बहुत शान्ति और धैर्य से काम लेना चाहिए। मौखिक शिकायतें सुनकर तदनुसार अपनी धारणा बना लेना बहुत गलत है।

हम लोगों को जब कभी इस प्रकार की रिपोर्ट मिलती थी तो पहले हम उसे लिख लेते थे। फिर हममें से कोई व्यक्ति घटना-स्थल पर पहुँच जाता था और जमींदार से भेंट कर तथा उनका भी बयान लेकर दोनों पक्षों में समझौता कराने का प्रयत्न करता था। अपनी शक्तिभर हम लोग

यही प्रयत्न करते थे कि जमींदार यदि थोड़ी भी सुविधा प्रदान
हमारी जाँच का करने की स्वीकृति दें तो दोनों पक्षों में समझौता
तरीका प्रयत्न हो जाय। हम लोगों ने कोई ऐसी मर्यादा
नहीं निश्चित की थी कि जमींदार के किस सीमा तक झुकने पर
समझौता किया जाय। परिस्थिति के अनुसार झगड़े की गम्भीरता और
स्थानीय किसानों की संगठन शक्ति के आधार पर मर्यादा बना ली जाती
थी। कभी-कभी तो हमें यही उचित लगता था कि जमींदारी के अत्याचार
को हम चुपचाप सहन कर लें क्योंकि स्थानीय किसान आन्दोलन में बड़ा
कष्टपूर्ण व्यवहार रखने के बाद बड़े मुश्किल में। हमें आशंका होती थी
कि यदि किसी भी प्रकार का झगड़ा उठाया गया तो वे लोग फौरन पिस
जायेंगे और इनका किया धरा कुछ हो नहीं सकेगा। कभी-कभी हमें कुछ
किसानों के झगड़े लेकर कचहरी तक भी पहुँचना पड़ता था और उनके
लिए पैरवी की कुछ सुविधा की भी व्यवस्था करनी पड़ती थी। अवसर
आने पर हाकिमों और पुलिस अफसरों से मिलकर भी हम उनके मामले
तय कराने की कोशिश करते थे। कचहरी में मुकदमे ले जाने पर प्रायः
हमें बड़ा कटु अनुभव हुआ।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि अवध के किसान नितान्त
साधनहीन स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं। इसलिए वे कचहरी में जाकर न
तो अच्छे वकील कर सकते हैं और न तो गवाहों के ही लिए कुछ व्यय
कर सकते हैं। इसके विरुद्ध जमींदारों के पक्ष प्रबल धन होता है प्रजा
को दबाने की शक्ति होती है तथा पुलिस और अन्य अधिकारी सर्वदा
उनका साथ देते हैं। इसलिए किसी मुकदमे को शुरू करते समय और
के किसानों में काफी संगठन रहता है पर जैसे जैसे समय बीतता
है उनमें शिथिलता आती है वैसे-वैसे जमींदार के कारिन्दे हर तरह
धन का लालच देकर पुलिस द्वारा डरा धमकाकर किसानों के गवाहों
को फोड़ लेते हैं और इस प्रकार किसान अपने सच्चे मुकदमे को भी
कचहरी में हार जाता है या अन्ततोगत्वा में उसे मेल कर लेने पर बाध्य होते हैं।

ऐसे कई अनुभवों के बाद हम लोग किसानों के मामले कचहरी में ले जाते समय डरते रहते थे और जहाँ तक सम्भव होता था, ऐसी परिस्थिति से बचने का प्रयत्न करते थे। जहाँ के किसान कुछ संघटित प्रतीत होते थे, वहाँ यदि जमींदार से समझौता नहीं हो पाता था तो उनके द्वारा छोटा-मोटा क्षणिक सत्याग्रह करा देना ही अधिक लाभप्रद होता था। किन्तु जिस स्थान पर किसानों में अच्छा संघटन नहीं देखते थे वहाँ जमींदार समझाने-बुझाने से जितनी सुविधाएँ दे सकता था, उतने ही पर किसानों को सन्तोष कर लेने की सलाह देते थे। इसके अलावा हम किसानों में मेल और संघटन पैदा करने का प्रयत्न भी करते थे। उसके लिए हम कभी-कभी किसानों को अड़ जाने की सलाह भी देते थे और किसी मामले में विजय प्राप्त कर लेने पर भी दूसरे मामले में दब जाने की भी सलाह देते थे।

परिस्थिति के अनुसार कार्य

हम किसानों के झगड़ों को इस तरह सुलझाने की कोशिश करते थे जिससे किसानों की न्यूनातिन्यून शक्ति के प्रयोग से काम चल जाय। जहाँ तक सम्भव होता था, शान्ति से ही काम लेते थे।

इन कामों में हम लोग लगे ही रहते थे किन्तु कभी रह-रहकर हमारे मस्तिष्क में यह भावना उठा करती थी कि इस जमींदारी-प्रथा की समाज में क्या आवश्यकता है ? सम्भव है किसी युग-विशेष में इससे कोई सहूलियत की व्यवस्था होती रही हो अथवा यह शासन-व्यवस्था में एक मध्यस्थ एजेण्ट की तरह सहायक का काम देती रही हो किंवा समाज संघटन का सफल नेतृत्व करती रही हो किन्तु उस समय यह भी रहा होगा कि इन जमींदारों के प्रति भी सामाजिक बन्धन बरवस्त रहे और कठोर रहे होंगे और उनके लिए समाज द्वारा निर्दिष्ट किये गये कार्यों की अवहेलना करना अत्यन्त कठिन रहा होगा। किन्तु आज की व्यवस्था

आज प्रथा बेकार क्यों है ?

में जमींदारी का कोई स्थान नहीं रह गया है। जमींदारों की उत्पत्ति विदेशी राज्य में सहायक के रूप में हुई थी, इसलिए जब तक इनके भीतर प्राचीन संस्कृति का अवशेष रहा तब तक इनकी प्रवृत्ति कुछ अच्छी रही। किन्तु धीरे-धीरे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट की शिक्षा ने उन्हें सर्वथा जालिम बना दिया और अन्त में उनका अत्याचार साम्राज्यवादी अत्याचार से भी आगे बढ़ गया। आज का जमींदार देहात की गरीब और मजदूर जनता के लिए शोषण और अत्याचार की मशीन बन गया है।

आखिर जमींदार हैं ही कितने! युक्तप्रान्त में कुल साढ़े बारह लाख जमींदार हैं। इनमें लगभग दस लाख तो ऐसे जमींदार हैं जो केवल सौ रुपये वार्षिक तक मालगुजारी देते हैं। ये इतने गरीब हैं कि इनकी अवस्था किसानों से भी खराब है। उन्हें एक प्रकार का रैयतवारी किसान ही कहना अधिक संगत है। किन्तु चूँकि इनका नाम जमींदार है इसलिए चाहे इनके घरों में दोनों समय चूल्हा भले ही न जले किन्तु इनकी ऐंठ जमींदारी जैसी ही होती है। जिस समय हम लोग 'जमींदारी का नाश हो' का नारा लगाते हैं, उस समय हमारा तात्पर्य ५   ) या अधिक वार्षिक मालगुजारी देनेवाले केवल २२   जमींदारों से ही होता है। ये जमींदार नामधारी किसान हमारे उक्त नारे से घबरा कर पागल हो उठते हैं और हमारे आन्दोलन के प्रवाह में गड़बड़ी पैदा कर देने के कारण बन जाते हैं। यही एक सम्प्रदाय है जो अत्यन्त गरीब हो जाने पर भी अपने प्राचीन संस्कार के कारण ग्रामीण जनता का मुखिया है। अतः ग्राम-सेवक को सावधानी से कदम बढ़ाना चाहिए। यदि हम लोग ग्राम-उद्योग के द्वारा बेकार ग्रामीण जनता की आर्थिक समस्या हल करते रहेंगे और उसीके साथ-साथ जमींदारी-प्रथा की अनुपयोगिता बताते रहेंगे तो इस कुप्रथा को समाप्त करना सरल हो जायगा।

आशा है यहाँ के सभी लोग सन्तुष्ट होंगे। नमस्कार। • • •

आपसी झगड़ों की समस्या ३७

१२-१०-'४१

आज भ्रातृद्वितीया है। स्वभावतः तुम लोगों की याद आती है। आज के दिन संसार की सब बहनों की शुभ कामनाओं को लेकर हम लोग जीवन-संग्राम में आगे बढ़ते हैं। आज इसी पत्र की मार्फत सब बहनों को शुभ कामना भेज रहा हूँ।

आज मैं तुम्हें देहात के झगड़ों की बात बताऊँगा। ज्यादातर जायदाद के बटवारे पर झगड़ा होता है। लोग कहते हैं कि इन झगड़ों की जड़ स्त्री-जाति की माया है। मुझे तो पता नहीं। स्त्री होने के नाते तुम्हीं ठीक अन्दाज कर सकती हो। ये झगड़े कभी-कभी भयानक रूप ले लेते हैं। भाई भाई में जब दुश्मनी हो जाती है तो आजीवन किसी-न-किसी बहाने झगड़ा होता ही रहता है। बँटवारे का झगड़ा यदि कचहरी चला जाता है, तो सारे परिवार का एक बारगी नाश हो जाता है। इस नाश में गाँवभर के लोग शामिल रहते हैं। खास तौर से जो लोग पैसा उधार लेते हैं, वे तो किसी-न-किसी पक्ष के हित बन ही जाते हैं और उसका पूरा नाश कराके अपना काम बना लेते हैं। ऐसे कुछ लोग भी इस झगड़े को बढ़ाने में काफी दिलचस्पी लेते हैं, जो हमेशा उस परिवार की हैसियत से ईर्ष्या करते रहते हैं। या तो उस परिवार के पूर्वजों के पट्टीदार के वंश के हैं या जो गाँव के अपने जीवन से ऊबे हुए रहते हैं और हमेशा कुछ-न-कुछ समस्या ढूँढते रहते हैं। स्त्रियों का ऐसे झगड़ों में मन रम जाता है। संयोग से दो भाई आपस में सुलह से बँटवारा करने लगते हैं, तो सारे गाँव की ऐसी हालत होती है, मानो गाँव में कुछ अन्धेर हो रहा है।

जमीन-जायदाद के बँटवारे के झगड़े

आश्रम के पास ही एक गाँव के एक जमींदार परिवार में तीन भाई मिलकर एक कुल से रहते थे। इनमें से दो सगे भाई थे और एक चचेरा

बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह से यदि दो पट्टीदारों का एक ही मजदूरों को लेकर असामी हुआ तो लगान के अलावा उसकी जोत होनेवाले झगड़े से अन्य पचासों तरह के नाजायज फायदे उठाने के लिए झगड़ा चलता रहता है।

एक बार तो हमको बहुत ही मजेदार अनुभव हुआ। जब मैं ग्राम-सुधार का चेयरमैन था तो अपने दौरे के सिलसिले में एक गाँव में पहुँचा। उस गाँव में एक परिवार के दो टुकड़े हो गये थे। उस दिन दोनों का पारिवारिक अनुष्ठान था। उस अनुष्ठान में पण्डित से घर घर कथा सुनी जाती है और उन्हें सीधा और दक्षिणा दी जाती है। संयोग से दोनों ने उस दिन अपने यहाँ पाठ करने के लिए पण्डित को निमंत्रण दिया था। तमाशा यह कि कथा का शुभ मुहूर्त भी एक ही समय पड़ता था। मैंने देखा कि इस बात को लेकर गाँवभर में एक तूफान-सा मचा हुआ है कि पण्डित किसके यहाँ कथा बाँचे।

छोटे-मोटे कारण

इसी तरह नाबदान किधर से जायगा छप्पर का पानी कहाँ गिरेगा लोग रास्ता कहाँ पायेंगे आदि छोटी-छोटी बातों से बड़े-बड़े झगड़े हो जाते हैं।

प्रायः ऐसा भी होता है कि बँटवारा भाई-भाई में हो जाने पर भी जमींदार के कागजों में उनकी जमीन अलग-अलग नहीं दर्ज होती। जमींदार जान-बूझकर अपने कागजों में इस तरह की धाँधली बनाये रखता है, जिससे वह किसानों की लड़ाई में अधिक-से-अधिक फायदा उठा सके।

छोटी स्त्रियों में कोई भी विधवा होकर नैहर चली जाय तो उसका हिस्सा कहाँ रहेगा इस पर भी झगड़े खड़े हो जाते हैं।

उन झगड़ों के सिलसिले में हमें एक खास बात देखने में आयी कि ज्यादातर झगड़े ब्राह्मण-क्षत्रियों में होते हैं। क्योंकि ये लोग चाहे कितने गरीब हो जायँ खेती का काम अपने हाथ से नहीं करते और बेकार बैठे रहते

ऊँची जातियों में अधिक झगड़े

हैं। बेकार दिमाग शैतान का घर होता है। इसलिए हम इनके वास्ते सिर्फ झगड़ा का फैसला वा करते थे पर इस बात को बराबर सोचते रहते थे कि जब तक हम उच्च श्रेणी की बेकारी की समस्या हल नहीं कर सकेंगे तब तक गाँव में व्यवस्थित समाज कायम नहीं हो सकेगा।

एक दफा मैं एक खद्दर-केन्द्र में गया हुआ था। इस गाँव में सब क्षत्रिय रहते थे। आश्रम के असर से सब गाँव में चरखा चलने लगा था और उनके घरों का पर्दा भी टूट गया था। उस दिन गाँव की बहनों से मैंने कहा— 'बहनो, इस बार मैं यह देखना चाहता हूँ कि तुम लोग अपने घर और अपने बच्चों को कितना साफ रखती हो।' दूसरे दिन मैं खूब सुबह उठकर उन लोगों का घर देखने गया। प्रत्येक घर के प्रत्येक हिस्से को देखने में पूरे दो दिन लग गये। सफाई तो उनके घरों की अच्छी थी लेकिन एक बात से मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने देखा कि ये लोग चाहे कितने गरीब हों आटा के लिए स्त्रियाँ चक्की नहीं चलातीं। पूछने पर मालूम हुआ कि इनके परिवार में चक्की की शपथ है।

इस तरह के बहुत से ऐसे काम हैं जिनके लिए इनकी बिरादरी या परिवार में शपथ है। इनके घर के लोग कलकत्ता और बम्बई जाकर चमड़ा गोदाम के दरबान का काम करेंगे लेकिन घर पर हल चक्की तथा चरखा चलाने से इनकी इज्जत और धर्म का नाश हो जाता है। इन सब कारणों से गाँव के उच्च वर्गों के लोग बेकार बैठे-बैठे दिन-रात षड्यन्त्र की बातें सोचा करते हैं। ग्रामीण समस्याओं में ब्राह्मण क्षत्रिय तथा अन्य उच्च वर्गों में बेकारी की समस्या एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण किये बैठी है और इसे हल किये बिना ग्रामोत्थान की गाड़ी का आगे बढ़ना मुश्किल है।

गुटबन्दी की जड़ बेकारी

• • •

२५ । '४१

अगस्त सन् १६३७ में कांग्रेस ने मन्त्रिपद स्वीकार किया। इससे शुरू शुरू में पुलिस और जमींदारों के आदमी कुछ घबरा उठे। अतः जमींदारों की ओर से किसानों पर अत्याचार कुछ कम हो गया। हमारा काम भी कुछ हल्का-सा हो गया। लेकिन दूसरी ओर से काम बढ़ गया। गाँव के आपसी झगड़े अब अधिक संख्या में हमारे पास आने लगे क्योंकि ग्रामीण जनता अब कांग्रेसी लोगों को विशेष अपनेपन की दृष्टि से देखने लगी। उस दिशा में काम इतना अधिक बढ़ गया कि उसे ठीक ढङ्ग से व्यवस्थित करने की आवश्यकता पड़ गयी।

शुरू में हमने अपना कार्यक्षेत्र करीब दो सौ गाँवों में परिमित कर दिया। फिर देहातों में स्थानीय पचायतों का संघटन करना शुरू किया।

पचायतों की स्थापना

पहले-पहल हमने उन गाँवों में पंचायत कायम की, जिनमें आपस के झगड़े नहीं थे। ये पंचायतें लोगों की राय से कायम हुईं। फिर धीरे-धीरे सभी गाँवों में किसी-न-किसी रूप में पंचायत बन गयी। पंचायतों के बनने से हमारे काम में थोड़ी आसानी जरूर हुई क्योंकि अब किसी किस्म का मामला आने पर हम उसे सरपंच के पास भेज देते थे और जहाँ तक सम्भव होता था स्थानीय पंचायतों में ही मामला तय करने की कोशिश करते थे। पचायत को खुद अपने आप पर भरोसा नहीं था। यह स्वाभाविक भी था। सदियों से गाँवों में पचायतों का रिवाज टूट गया इसलिए व्यवस्था करने की आदत और योग्यता लोगों में नहीं रह गयी और न जनता में ही बिना कानून और पुलिस के दबाव के किसीको मानने की आदत रह गयी। गाँवों में पंचायत का संस्कार नहीं रहा। सरकारी पंचायतों का विवरण तो मैं पहले लिख ही चुका हूँ। उनकी मार्फत ग्रामीण समाज का कुछ भला करने की चेष्टा का मतलब मजाक द्वारा रक्षा का प्रबन्ध करना था। देहात में यदि वस्तुतः पंचायती व्यवस्था लानी है तो स्थना-

एक कार्यक्रम की मार्फत कुछ ऐसे लोगों को पैदा करना पड़ेगा, जिन्हें लोग श्रद्धापूर्वक मानें। आज सही पंचायत का संगठन करना कठिन है। प्रत्येक गाँव में एक-दो आदमी ऐसे रहते हैं जो पुलिस और जमींदार के आदमी हैं। अधिकारी और पैसा साथ होने के कारण वे गाँववालों को सताते और लूटते हैं। साम्राज्यशाही के शोषण और अत्याचार की असली जड़ यही लोग हैं। गाँव के सब लोग इनके खिलाफ रहते हैं और इनसे डरते हैं। फिर भी यदि किसी गाँव में चुनने के लिए जाओ, तो लोगों का इनके अलावा दूसरा को चुनने की हिम्मत नहीं पड़ती है। गाँववालों के खिलाफ होते हुए भी यही लोग पंच बन बैठते हैं। इसलिए हमें बड़ी मेहनत और सावधानी से पंचायत बनानी पड़ी। कहीं-कहीं तो परिस्थिति के कारण ऐसे ही नुकसानदेह लोगों को सरपंच रखना पड़ा क्योंकि उन्हें यदि हम बाहर रखते तो वे और अधिक नुकसान पहुँचाते। इस तरह की पंचायतों के लिए यह जरूरी हो जाता था कि हम उन पर कड़ी निगाह रखते। प्रत्येक ग्राम-सेवक को पंचायत बनाते समय इस खास पहलू को सामने रखना जरूरी है। कोशिश हमेशा यही करनी चाहिए कि साधारण लोगों में से ही पंच बनें और उनकी संगठित ताकत गाँव के पुराने अत्याचारी लोगों को दबा सके और धीरे-धीरे इनका दबदबा कम हो जाय।

पंचायतों का संगठन करते समय देहात की परिस्थिति का एक महत्त्वपूर्ण पहलू देखने को मिला। प्रत्येक देश में प्रत्येक काम में कुछ ही

सही नेतृत्व की कमी

लोग होते हैं जो विशेष बुद्धिमान और मानसिक तथा रचनात्मक योग्यता के होते हैं। ऐसे लोग स्थानीय आबादी के स्वाभाविक नेता होते हैं और बाकी इनके पीछे चलते हैं। आज हमारे देहात की हालत ऐसी बदतर हो गयी है कि इस किस्म का नेतृत्व करने लायक व्यक्तियों के लिए बुद्धि और क्षमता बढ़ाने का साधन नहीं रह गया है। दुर्भाग्य से खेती करने के भिन्न प्रकार उद्योग जिसमें मस्तिष्क लगाने की जरूरत पड़ती है, गाँव में नहीं रह गया। इसलिए गाँव की यह आबादी ही समय में कुछ कर

सकती है, गाँव से बाहर कलकत्ता, बम्बई आदि औद्योगिक केन्द्रों में चली जाती है, क्योंकि उन्हीं स्थानों में उनकी बुद्धि और योग्यता के ग्राहक मिलते हैं। नतीजा यह होता है कि गाँव में किसी प्रकार की व्यवस्था या आन्दोलन करना चाहें, तो सही नेतृत्व के अभाव से असफल होता रहता है। बाहर के साधन से यह काम चल नहीं सकता है। इसलिए ग्राम-सेवक के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसा कार्यक्रम ढूँढ़ निकाले, जिसमें गाँव के कुशल बुद्धिमान् और योग्य व्यक्तियों को अपनी योग्यता तथा बुद्धि के विकास की सुविधा हो और वे गाँव में ही रुक जायें।

गाँव में ही धंधा पैदा करने होंगे

मैं जब गाँव की आर्थिक कठिनाई के साथ-साथ बौद्धिक हीनता को देखता था तो कभी-कभी निराश सा हो जाता था लेकिन निराश होने से काम कहाँ चलता है। इसलिए हम लोग अपने कार्यक्रम में लगे रहते हुए भी इस समस्या के समाधान की खोज में रहे। पंचायत की स्थापना, उसके द्वारा गाँव के झगड़ों का निपटारा करवाना और कुछ रचनात्मक का. में दिलचस्पी पैदा करना इस ओर एक कदम था। इससे ग्रामवासियों की बुद्धि का विकास कुछ जरूर होता है। लेकिन खास सिफारिश रखनेवाले ग्राम के लोगों को गाँव में तभी रोक सकेंगे जब उनकी बुद्धि के अनुपात से आर्थिक आमदनी का कोई उपाय ढूँढ़ निकालेंगे। साथ-साथ गाँवों में ऐसे कार्य की स्थापना हो सकेगी जिसे करने में ग्रामवासियों के अनुभव में विविधता होगी और उनकी मौलिक चिन्तना को अवसर मिलेगा।

बुनियादी तालीम की व्याख्या में पूना में तुमने इस बात का जिक्र किया था कि चर्खा में नेतृत्व की योग्यता पैदा करनी है। यह ठीक है, लेकिन सामूहिक रूप में चर्खा का आन्दोलन चलानेवाला भी तो गाँव में होना चाहिए। मेरा तो अनुभव यह है कि वे गाँव में होते हैं। हमारा काम उन्हें खोज निकालना है और उन्हें अपने स्थान पर कायम रखना है।

● ● ●

स्वाभाविक नेतृत्व के विकास की चेष्टा ३९

५.११.४१

कई दिन हुए, मैं पत्र न लिख सका। इधर मौसम बदलने के कारण कई रोज से खाँसी, जुकाम, बुखार हो गया था। अब ठीक है।

आजकल जेल में खूब हलचल मची हुई है। छूटने की खबर जब से आने लगी है, तब से लोगों के दिमाग में खलबली पड़ गयी है। आज तो और भी तूफान है। क्योंकि आज छह-सात व्यक्ति बिना शर्त छोड़ दिये गये। लोग यह उम्मीद लगाये बैठे हैं कि १२ तारीख को केन्द्रीय असेम्बली में राजबन्दियों की मुक्ति का प्रस्ताव पेश होते ही सरकार सबको छोड़ देगी।

कांग्रेस के मन्त्रिपद ग्रहण करने से सरकार का रुख ग्राम-संगठन की ओर अधिक होना स्वाभाविक ही था। मैंने भी सोचा कि यह अवसर है, जिस समय मैं आठ-नौ साल से सोची हुई योजनाओं का प्रत्यक्ष प्रयोग कर सकूँगा।

स्वाभाविक नेतृत्व का अभाव

पंचायत के संगठन के सिलसिले में हमने देखा था कि गाँव के जितने कुशल, योग्य और बुद्धिमान् व्यक्ति होते हैं, वे सब गाँव में अपने लायक काम न होने की वजह से गाँव छोड़कर शहर चले जाते हैं। इसलिए हमारे सारे देहात में स्वाभाविक नेतृत्व का अभाव पड़ गया है। और यह तो सब विदित है कि इस नेतृत्व के अभाव में गाँव का कोई भी ग्राम-संगठन ग्रामवासियों द्वारा स्वयं चलाना असम्भव हो जाता है। तुम तो अच्छी तरह समझती हो कि लोग बाहर-बाहर से आकर प्रचार करके ग्राम-आन्दोलन नहीं चला सकते। इसलिए हमारे सामने दो समस्याएँ बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। एक है मध्यम-वर्ग की बेकारी, दूसरी है स्वाभाविक नेतृत्व का विकास। इन दोनों समस्याओं को हल करने के लिए एक ही उपाय

सूझता था। वह था ग्रामोद्योग का प्रसार। ग्रामोद्योग में कुशल और योग्य नौजवानों के लिए बुद्धि-विकास करने का बहुत बड़ा क्षेत्र है।

हमने सोचा कि यदि पढ़े-लिखे और अच्छी भावनावाले नौजवानों को अपने यहाँ किसी-न-किसी ग्रामोद्योग का काम सिखाकर उनके घर पर उद्योग-केन्द्र खुलवा दें तो गाँव की मध्यम श्रेणी की बेकारी की समस्या हल हो जायगी और इसके जरिये गाँव की बुद्धिजीवी श्रेणी को गाँव में ही रोककर ग्राम-आन्दोलन के लिए स्वाभाविक नेतृत्व का विकास किया जा सकेगा। उससे गाँव के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक संगठन का काम सहूलियत से हो सकेगा। यह सोचकर मैंने एक योजना बनाकर कांग्रेसी सरकार के सामने पेश की। योजना की रूपरेखा ऐसी थी कि गाँव के बीच आश्रम में एक ग्रामोद्योग-विद्यालय की स्थापना की जाय, जिसमें देहात के पढ़े-लिखे नौजवानों को नीचे लिखी दस्तकारियों की व्यावहारिक और व्यापारिक शिक्षा दी जाय। इसके साथ ही साथ उन्हें ग्राम-आन्दोलन का सैद्धान्तिक परिचय कराकर ग्राम-सेवा की भावना पैदा की जाय।

एक योजना

(१) कताई और बुनाई। (२) कागज बनाना। (३) गाँव के साधनों से साबुन बनाना। (४) लकड़ी और लोहे का काम। (५) चमड़ा पकाना, तरेस बनाना, मरे हुए जानवरों की हड्डी और माँस से खाद बनाना। (६) बाँस-बेंत आदि गाँव के साधनों से किस्म-किस्म के सामान बनाना। (७) चर्म-कला (चमड़े का सामान बनाना)।

मैंने यह माना कि यदि दो साल हम आश्रम-जीवन के साथ-साथ ऊपर लिखी हुई कलाओं की शिक्षा दे सकेंगे, तो हम उन्हें पूरा-पूरा ग्राम-सेवक बना सकेंगे। योजना में मैंने यह भी लिखा कि विद्यार्थियों को ठीक-ठीक व्यापारिक शिक्षा देने के लिए यह जरूरी है कि आश्रम में प्रत्येक उद्योग के लिए एक कारखाना रखा जाय, जिसमें ये चीजें बनें और बिकें।

जो विद्यार्थी विद्यालय में सीख लें, उन्हें घर पर काम शुरू करने के

उद्योग विद्यालय

देहातों में ग्रामोद्योग की स्थापना करके ग्राम-संगठन का गढ़ कायम करना। लेकिन शुरू में हम इस ओर कदम नहीं बढ़ा सके। प्रान्तीय सरकार को जल्दी से विभिन्न ज़िलों के देहात में उद्योग-धन्धा बढ़ाना था, इसलिए शुरू में उन्होंने अपने लिए कार्यकर्ता तैयार कर देने की माँग की और प्रान्तभर से नौजवानों को शिक्षा के लिए हमारे यहाँ भेजा। इस प्रकार पहले दो साल सरकारी महकमों के लिए कार्यकर्ता भेजने में हमारी शक्ति लग गयी। साथ ही साथ हमें आश्रम के लिए भी खादी-सेवक तैयार करके देने पड़े। इस तरह हमें दो साल तक 'वस्त्र-स्वावलम्बन' और 'ग्राम-संगठन' के काम को गौण रखते हुए विशेष रूप से उद्योग-विद्यालय का ही संगठन करना पड़ा। ग्राम-सेवा और ग्रामोत्थान की दिशा में स्थायी कार्यक्रम की ओर हमारा यह पहला कदम था। • • •

अधिक भयंकर है। आबादी का एक बहुत बड़ा भाग अपने को 'मलमनई' कहता है और खेत में मेहनत नहीं करता। उनके लिए तो साल में बारहों महीना बेकारी ही रहती है। इनके अलावा जिस श्रेणी के लोग काम करते भी हैं उनके लिए भी केवल खेती के मौसम के लिहाज से बेकारी का औसत लगाने से ठीक नहीं पड़ेगा।

तुम्हें मालूम है कि देहात की आबादी दिन-दिन बढ़ती जा रही है और खेत दिन-दिन छोटे-छोटे हिस्सों में बँटते चले जा रहे हैं। नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक परिवार के लिए इतना खेत नहीं रह गया है कि वे सबके सब उस खेत में काम पा सकें। इस प्रकार प्रत्येक परिवार में कुछ ऐसे लोग हैं, जिनका नाम १२ महीने की बेकारी की लिस्ट में दर्ज किया जा सकता है। खेत इतना ही है कि तीन ही आदमी के काम करने के लिए काफी है, तो भी पाँचों उसमें लगे ही रहते हैं। तुम उनमें से किसीको अपने यहाँ नौकरी दे दो तो देखोगी कि परिवार के बाकी लोग खेती का काम खूब आसानी से पूरा कर लेते हैं। वैसे यदि तुम इस परिवार में जाकर पूछोगी तो पाँचों आदमी कहेंगे कि उनके पास इतना काम है कि उन्हें बिलकुल फुरसत नहीं है। मैंने जहाँ तक देखा है, यदि इन दो किस्म के मनुष्यों की बेकारी जोड़ी जाय, तो देहात के बालिग पुरुष की आबादी का कम-से-कम ॥ हिस्सा सम्पूर्ण बेकारी में चला जायगा। बेकारी का जो अंक आम तौर पर कहा या लिखा जाता है, उसके साथ यदि इस बेकारी का अंक भी जोड़ दिया जाय तो परिस्थिति कल्पनातीत उग्र हो जाती है। हम लोग चरखा द्वारा बेकारी को हल करने की जो बात कहा करते हैं, उसे भी जरा नजदीक से देखें। हम जब बेकारी की बात करते हैं, तब हमारे सामने किसानों की ही बेकारी रहती है। लेकिन जब हम समस्या की बात करते हैं, तो वह केवल पुरुषों की ही समस्या होती है। जब हम चरखे से समाधान करने के लिए निकलते हैं, तो जिन बेकारों की हम बात करते हैं, उन्हें छूते तक नहीं और हमारे तीन लाख कातनेवालों में ऊपर बताये हुए बेकारों में

चरखे के समाधान पर विचार

एक भी घड़ी भी नहीं होते। चरखा तो केवल स्त्रियाँ चलाती हैं और व
धुम गहराई से देखें, तो वे उतनी बेकार नहीं रहती हैं। चरखे के द्वारा
देहाती जनता के लिए बहुत सी आर्थिक समस्या का हल जरूर करे
लेकिन गाँव के सहायक धन्धे के रूप में उनकी बेकारी दूर नहीं क
अतः यदि हम चरखे को सच्चे प्रकार का सहायक धन्धा बनाना चाहते
तो हमें पुरुषों से भी चरखा चलवाना होगा। इससे सिर्फ आर्थिक ल
होगा यह बात नहीं बल्कि गाँव के खाली आदमियों के धन्धे में
रहने के कारण गाँव की सारी गुण्डागर्दी खतम हो जायगी और समाज
एक शान्तिपूर्ण व्यवस्था कायम होगी।

हम लोग गाँव में जब चरखा-स्कूल चलाते थे तो इस बात की कोशि
करते थे कि गाँव के खाली नौजवान भी चरखा सीखें और उसे चला
हम इसमें ज्यादा सफल नहीं हो सके। ग्रामीण बेकारी को हल करने
लिए पुरुषों का चरखा चलाना नितान्त आवश्यक है इस बात पर
उतना जोर उस समय नहीं देते थे जितना आज देते हैं। इसलिए
गाँव के नौजवानों ने हमारे स्कूल में कातना सीखकर यह काम जारी
रखा तो उस पर हम लोगों ने विशेष रूप से जोर नहीं दिया और आ
लोग भी आज ही हम इस समस्या को हल करने का विचार करते

चरखे की उपयोगिता

आज जब हम इस समस्या पर अधिक गहराई से विचार करने लगे, तो ऐसा लगा कि हम चाहे जि ग्रामोद्योग चैलायें उनसे गाँव की वर्तमान परिरि

नहीं सुधरती। खाली वक्त के लिए चरखा ही उपयोगी हो सकता
लोग कहते हैं कि इसकी मजदूरी पुरुषों को आकर्षित करनेवाली नहीं
मैंने देखा है कि गाँव के पुरुष कभी-कभी खाली बैठे रहने से कमे
ज्यादा से काम करते हैं, जिसकी मजदूरी चरखे से ज्यादा नहीं पड़ती
इसलिए पुरुषों का चरखा न चलाने का कारण कम मजदूरी नहीं
बल्कि परम्परा से चरखा चलाना स्त्रियों का काम होने के कारण पुरुषों
यह संस्कार बैठ गया है कि यह स्त्रियों का ही काम है पुरुषों का

और तुम्हें मालूम है कि लोग संस्कार के विरुद्ध जल्दी कोई काम नहीं करना चाहते। इसलिए वे इस काम को उठाते नहीं। लेकिन मैं समझता हूँ कि कोशिश करने से पुरुष भी चरखे को अपना लेंगे। चरखा-विद्यालय खोलकर हमें दो लाभ हुए :

१ काफी देहाती परिवारों के साथ हमारा सम्बन्ध हो गया। और इससे साधारण ग्राम-संगठन कार्य में हमें बहुत मदद मिली।

२ चरखे की संख्या काफी बढ़ गयी और सूत भी काफी तरक्की कर गया।

गाँव के लोगों में सम्पर्क बढ़ने से और लोगों में उत्साह पैदा होने से हम लोगों ने जो गाँव की पंचायतें कायम की थीं वे भी जाग्रत होने लगीं।

मैं स्वस्थ हूँ। आशा है, तुम लोग भी स्वस्थ होगे • • •

रात्रि-पाठशालाओं का संघटन ४१.

१-११-'४१

तीन दिन कोई पत्र न लिख सका। मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि हम लोगों ने फिर से चरखे के प्रचार में ध्यान लगाना शुरू किया और धीरे-धीरे आश्रम के करीब सभी गाँवों में कुछ कुछ चरखे चलवा दिये। चरखा चलाने के सिलसिले में हमने देखा कि पंचायत द्वारा हमारे साथ उनका सम्बन्ध स्थापित हो जाने के कारण वे हमारे काम में ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं। इससे हमें ज्यादा उत्साह मिला और हम देहात में अन्य रचनात्मक कार्यक्रम चालू करने की बात सोचने लगे।

साथ-साथ उद्योग और शिक्षा की आवश्यकता

शुरू में जब हम रणीवाँ आये थे तब किस प्रकार रात्रि-पाठशाला द्वारा शिक्षा का कार्यक्रम शुरू किया यह मैं पहले ही लिख चुका हूँ। उस काम को हम लोगों ने गौण रूप से बराबर जारी रखा था। इधर जब किसानों से विस्तृत रूप में घनिष्ठता होने लगी तब से हम शिक्षा के अभाव में उनकी बेबसी की हालत का अधिक महसूस करने लगे। हमने देख लिया कि केवल ग्रामोद्योग से देहाती जीवन नहीं सुधर सकता। ग्राम-सुधार के लिए उद्योग और शिक्षा दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। उद्योग-विस्तार की स्थापना के साथ-साथ गाँव की शिक्षा के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट हुआ लेकिन प्रश्न यह था कि हम शुरू कैसे करें?

शिक्षा-प्रचार करने के लिए तो पर्याप्त धन की आवश्यकता है। बाहर से धन लाकर एकाध पाठशाला चलायी जा सकती है। लेकिन व्यापक रूप से काम कैसे चले? अतः हम लोगों ने यह काम पंचायतों के द्वारा ही

चलाने का निश्चय किया। इससे दो लाभ थे। एक तो यह कि स्कूल की व्यवस्था करने में उनके लिए स्थायी कार्यक्रम हो जाता है। इससे उनमें धीरे धीरे व्यवस्था-शक्ति बढ़ेगी और ग्रामीण समस्याओं के प्रति दिलचस्पी होगी। सम्मिलित रूप से कार्य करने का पुराना संस्कार जगेगा। दूसरा लाभ यह था कि यदि हम शिक्षा का काम स्थानीय साधन और व्यवस्था द्वारा चला सकें, तो गाँव में स्वावलम्बी व्यवस्था का सूत्रपात हो जायगा। गाँव-

गाँव के साधनों से शिक्षा

वालों के सामने जब हमने यह प्रस्ताव पेश किया, तो वे सहर्ष इस ओर कदम उठाने के लिए तैयार हो गये। लेकिन वे विद्यालय का पूरा खर्च सँभालने में असमर्थ थे। हम लोगों ने उनसे बीच का समझौता कर लिया।

गाँव के निवासी दिन में स्कूल में नहीं पढ़ सकते। दिन में सब लोग या तो मवेशी चराते हैं या घास छीलते हैं या खेती में काम करते हैं इसलिए गाँव में व्यापक रूप से रात्रि-पाठशाला ही चल सकती है। अतः हम लोगों ने गाँववालों के सामने यह प्रस्ताव रखा :

१ गाँव में जो लोग कुछ पढ़े-लिखे हैं और घर में दिन में गृहस्थी का काम करते हैं, वे रात में फुरसत के समय रात्रि-पाठशाला में पढ़ा दें।

२ विद्यार्थियों के पढ़ने का मकान बैठने का आसन और लालटेन तथा उसके तेल का प्रबन्ध पञ्चायत करे।

३ शिक्षक के कुछ पारितोषिक का प्रबन्ध आश्रम कर देगा। शुरू में हम लोगों ने शिक्षक का पारितोषिक २) मासिक रखा था फिर शिक्षा-विभाग से कुछ सहायता मिल जाने के कारण दो की जगह तीन रुपया कर दिया था। हमने यह सोचा था कि कुछ साल चलाने के बाद पंचायत का संगठन अधिक मजबूत होने पर विद्यालय की पूरी जिम्मेदारी भी गाँव के लोग अपने ऊपर ले सकेंगे और आश्रम अपना साधन दूसरे ग्राम में विद्यालयों की संख्या बढ़ाने में लगा सकेगा।

इस प्रकार हम आश्रम के चारों तरफ १५ रात्रि-पाठशालायें

खोल सके। पाठशालाओं की स्थापना से शिक्षा का प्रचार तो होता रहा,

पाठशालाओं का प्रभाव

साथ-साथ लड़कों में संध्या समय का तमाखू पीना, एक-दूसरे को गाली देना भी कम होने लगा। गाली देने की कुटेव सुधारना भी ग्राम-सेवक का एक विशेष काम है। हम लोग जब गाँव में जाते थे तो लड़कों से पूछा भी करते थे कि किसने कितनी गाली दी। शिक्षकों से भी पूछते थे। इस प्रकार विशेष ध्यान देने से कुछ फायदा ही रहा। ग्राम-सेवक यदि इस प्रकार गाली के खिलाफ प्रचार करते रहें तो इस दिशा में काफी सुधार हो सकता है। मैं जब रात को पाठशालाओं में जाता था तो प्रत्येक बच्चे से पूछता कि वह दिन में क्या काम करता है। मुझे मालूम हुआ कि उनमें ९० फी सदी मवेशी चराते हैं। किससे पूछूँ—"तू दिनभर क्या करते हो?" जवाब मिलता— 'गोरू चराइत है।' पूछता हूँ—"कय ठो गोरू?" तो जवाब मिलता है— "एक ठो या दुइ ठो।" एक ठो या दुइ ठो मवेशी चराने के लिए एक-एक बच्चा! इस प्रकार बच्चों का समय कितना चौपट होता है, इसका हिसाब कौन रखता है? एक या दो आदमी गाँवभर के मवेशी चराने का काम कर लें तो गाँव के सब बच्चे शिक्षा के लिए खाली हो जायें। लेकिन इन बातों की व्यवस्था ही टूट गयी है। सुनने में यह समस्या छोटी है, लेकिन राष्ट्र को शुद्ध करना है तो इस समस्या को महत्त्व देना ही है। ग्राम-सेवक को पंचायत की मारफत इसे भी हल करना चाहिए।

● ● ●

प्रौढ़ शिक्षा का प्रयोग

४२

१२.११.'४१

गाँव में पाठ्शाला खुल जाने से ग्रामीण जीवन में एक नयी जागृति पैदा होने लगी। स्कूल के विद्यार्थी रात्रि को पढ़ते थे राष्ट्रीय गान सीखते थे और कभी-कभी राष्ट्रीय आन्दोलन की बातें भी करते थे। इससे गाँव में शान्ति और चहल-पहल बनी रहती थी। जो लोग स्कूल में पढ़ते थे, उनमें प्रतिदिन एक साथ उठने-बैठने के कारण मित्रता और सद्भावना पैदा होती दिखाई देती थी। इन लोगों ने दिन में भी फुरसत पाने पर तरह-तरह के खेल-कूद शुरू कर दिये। इस प्रकार रात्रि-पाठशाला खोलने से अक्षर-ज्ञान के अलावा गाँव में कई प्रकार का जीवन बनने लगा।

हमारी रात्रि-पाठशालाओं में दो प्रकार के विभाग थे। एक बच्चों का दूसरा प्रौढ़-विभाग। बच्चों को तो हम सीधे तरीके का अक्षर-ज्ञान कराके आगे बढ़ते थे। लेकिन हम लोगों ने देखा कि बच्चों के साथ यदि बड़ी उम्र के लोगों को भी पढ़ाते हैं, तो एक तो उसमें बहुत देरी होती है और फिर प्रौढ़ लोग बच्चों के साथ-साथ चलने में ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते हैं। इससे हमारे सामने एक नयी समस्या खड़ी हो गयी कि हम प्रौढ़ों को

प्रौढ़-शिक्षा का आरम्भ

किस पद्धति से शिक्षा दें। उन्हीं दिनों कांग्रेसी सरकार ने शिक्षा-प्रसार विभाग खोलकर प्रौढ़-शिक्षा के क्षेत्र में जोरों से काम आरम्भ कर दिया। सरकार ने शिक्षा-विशारदों के परामर्श से कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करायीं जिनसे बड़ी उम्र के लोगों को जल्दी पढ़ाया जा सके। मैंने जैसे ही सुना वैसे ही मैं लखनऊ जाकर शिक्षा-प्रसार अफसर से मिला और इस योजना की चर्चा की। मैंने विभाग से खर्चे का भी कुछ प्रबन्ध कर लिया। शिक्षा-प्रसार अफसर ने अपने विभाग की ओर से विद्यार्थियों के पढ़ने के लिए पुस्तकें भी मुफ्त में दे दीं। बाद में 'शान्तिपुर प्रौढ़ शिक्षा-योजना'

का कार्य और साहित्य मैंने देखा। इस योजना के निर्माता भी मोडे साहब गत बीस वर्षों से प्रौढ़-शिक्षा-पद्धति का प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने यूरोप और अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों में घूमकर प्रौढ़-शिक्षा के सम्बन्ध में अध्ययन भी किया था। कांग्रेस के पद-ग्रहण करने से उन्हें हर तरह की सहूलियत मिली और उन्होंने गोरखपुर में प्रौढ़-शिक्षा के शिक्षकों के लिए विद्यालय खोल दिया। जब मुझे विद्यालय खुलने का समाचार मालूम हुआ तो मैंने आश्रम के भाई धनराजपुरी (जो कि देहात में रात्रि-पाठशालाओं का संघटन कर रहे थे) को गोरखपुर मोडे साहब के विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए भेज दिया। वे तीन माह में वहाँ की सब पद्धतियों की जानकारी लेकर लौट आये।

भाई धनराज ने प्रौढ़-शिक्षण के साथ स्काउटिंग की शिक्षा भी ले ली। उनके स्काउटिंग के ज्ञान का हम लोगों ने लाभ उठाने की कोशिश की। सबसे पहले हम रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों को ही शिक्षा देने में लग गये। वे रात्रि का पाठशाला में पढ़ाते थे और दिन को १ बजे से ४ बजे तक आश्रम में आकर प्रौढ़ शिक्षण और स्काउटिंग की शिक्षा लेने लगे। उन्हें हम मोडे साहब की पद्धति के अलावा गाँव की समस्याओं के विषय पर भी शिक्षा देते रहे। स्काउटिंग और देहाती गाना भी सिखाते थे। हमने उन्हें कातने-धुनने की भी शिक्षा दे दी थी और स्वावलम्बी बनने के लिए सप्ताह में २ गज सूत कातना भी अनिवार्य कर दिया था।

स्काउटिंग का आरम्भ

इस प्रकार रात्रि-पाठशालाओं को हम धीरे-धीरे अधिक संगठित और व्यवस्थित करने लगे और इस केन्द्र की मारफत गाँव की दूसरी समस्याओं को हल करने की योजनाएँ बनाने लगे। इस दिशा में हमें कुछ सफलता भी प्राप्त होने लगी।

रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों ने जब प्रौढ़-शिक्षा के तरीके समझ लिये, तब विविध प्रकार की ग्राम-समस्याओं के अध्ययन से उनका दृष्टिकोण

व्यापक बना तथा उनका बौद्धिक विकास भी हुआ। तब वे पाठशालाओं को अधिक योग्यता और उत्साह के साथ चलाने लगे। फिर भी हमारी दृष्टि में उनमें बहुत कुछ कमी रह गयी थी। वासकर व्यवस्थित जीवन पालन करने के प्रति उनको हमने बाद में भी उदासीन ही पाया। जब तक शिक्षक स्वयं इन बातों का पालन नहीं करेगा तब तक वह पाठशाला के विद्यार्थियों को क्या बतायेगा? हम लोग भी तीन महीने की ट्रेनिंग में इस दिशा में विशेष संस्कार डालने में असमर्थ रहे। अतः मैंने यह जरूरी समझा कि शिक्षकों को २४ घण्टे अपने शिविर में रखकर कुछ दिन शिक्षा दी जाय।

खेती के काम की भीड़ समाप्त हो जाने के बाद हम लोगों ने शिक्षक शिविर खोलने का अच्छा मौका समझा। ग्रामवासियों को स्वावलम्बी

स्वावलम्बी समाज-रचना का प्रयत्न

समाज-रचना की ओर ले जाने का दृष्टिकोण सामने रखकर मैंने शिक्षा-शिविर आश्रम में ही खोला और शिविर का प्रबन्ध दो-तीन गाँव की पंचायतों के जिम्मे रखा। यह लिखने में मुझे खुशी है कि ग्राम-पंचायतों ने इस जिम्मेदारी को खूबी से निभाया। गाँव के पास एक विस्तृत मैदान में जब मैं शिक्षण-शिविर देखता था, तो चित्त प्रसन्न हो जाता था। दूर से देखा लगता था मानो विद्यार्थियों की छावनी पड़ी है। शिविर बनाने का सारा सामान भी ग्रामवासियों ने ही इकट्ठा किया था। शिविर को रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों ने अपने हाथ से अपनी कल्पनानुसार ही बनाया था। इसकी योजना और बनावट इतनी सुन्दर थी कि संयुक्त प्रान्त के स्काउट आर्गनाइजर श्रीमन्त श्री एस० आनन्दराव जब हमारे यहाँ आये तो उन्होंने कहा कि मैं स्वयं भी इस शिविर को बनाता तो इससे बेहतर नहीं बना सकता था। कला की दृष्टि से भी शिविर बहुत सुन्दर था। गाँव के किसान नौजवानों के दृष्टिकोण का केवल तीन महीने की ही ट्रेनिंग से कितना विकास हो सकता है, यह तुम देखतीं तो इसका अन्दाज कर सकतीं कि शिक्षा द्वारा गाँव के लोगों को कितनी जल्दी बदला जा

सकता है। गाँव के लोग अपने को बदलना ही नहीं चाहते हैं, वे अपने गन्दे और रूढ़िपूर्ण जीवन में पड़े रहना चाहते हैं, ऐसी बात करना कुछ लोगों का फैशन-सा हो गया है। लेकिन मेरा अनुभव दूसरा ही है। गाँव के लोग जितनी जल्दी अपने विचार और ढंग बदल सकते हैं, उतना शहर के पढ़े-लिखे लोग नहीं।

सेवक शिक्षण-शिविर चार महीने चला। उसमें स्काउटिंग परेड, भाषण, मन्त्र आदि सुनने, अनुशासन, सफाई और सहयोग से रहने आदि की शिक्षा दी गयी। जो आदत शिविर में डाली गयी, उसे कायम रखने के लिए हम लोग उनके घरों में पहुँचा करते थे, क्योंकि यदि शिक्षक के जीवन तथा रहन-सहन में स्थायी परिवर्तन हो सका तो रात्रि-पाठशाला के विद्यार्थियों के जीवन में भी उसका असर पड़े बिना नहीं रह सकता।

इस प्रकार रात्रि-पाठशाला और स्काउटिंग की मारफत हम ग्राम-सेवा और संगठन की दिशा में एक कदम और बढ़ गये। फिर बाद हम लोगों ने रात्रि-पाठशाला के शिक्षकों का सम्मेलन भी किसी-न-किसी सरकारी में शिक्षा लेने के लिए प्रोत्साहित किया और उनमें आधे से अधिक नौजवान किसी-न-किसी विद्यालय में जाकर शिक्षा लेने लगे। उस दिशा में हमने क्या-क्या प्रयोग किये इस पर फिर कभी लिखूँगा। नमस्कार।

● ● ●

सरकार की सहायता का असर

११-११-'४१

इधर कई दिनों से पत्र नहीं लिख सका। इसका कारण है—छूटने की हलचल। पर मैक्सवेल साहब का बयान सुनकर जल्दी छूटने से लोग एकदम निराश हो गये। मैं भी इस शान्ति का मौका पाकर पिछले दो वर्ष में केन्द्रीय आश्रम की किस प्रकार प्रगति हुई इस पर कुछ लिखना चाहता हूँ।

सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना

वैसे तो कताई-धुनाई-बुनाई और लकड़ी का काम सिखाने का कार्य-क्रम साल-डेढ़ साल से चल रहा था और धीरे-धीरे कागज का काम भी थोड़ा-बहुत शुरू हो गया था लेकिन कांग्रेस के पद ग्रहण करने पर ग्रामोद्योग विद्यालय की सम्पूर्ण योजना के लिए धन मिल गया। १८ नवम्बर सन् '३८ को हमने सम्पूर्ण ग्रामोद्योग विद्यालय स्थापित कर दिया। इससे हमारी योजना को अच्छी प्रगति मिली थी। जो काम हम पाँच-छह साल में कर सकते थे, वह एक ही साल में हो गया। सन् '३८ के नवम्बर से लेकर सन् '३९ के अन्त तक आश्रम में बड़ी चहल-पहल रही। हम एक जंगल में पड़े थे। हम सब जितने थे उन्हीं के रहने के लिए पर्याप्त स्थान न था। तिस पर एकाएक ७५ विद्यार्थी, शिक्षक और दूसरे कार्यकर्ता आ गये। आश्रम की आबादी सवा सौ के लगभग हो गयी। इतने लोगों का निवास-स्थान उद्योग के सब विभागों के लिए मकान औज़ार और कच्चे माल की व्यवस्था सब कुछ इसी वर्ष के भीतर करनी थी। शहर होता तो काम कुछ आसान हो जाता। लेकिन रणीवाँ तो अन्दर का गाँव ठहरा। इसलिए यह सारी व्यवस्था करने में हमारे सभी कार्यकर्ताओं को रात-दिन एक कर देना पड़ा। कार्यकर्ता-शिक्षण का काम भी जारी रखना था। आश्रम के खादी-विभाग से और सरकारी विभागों से कार्यकर्ताओं की माँग हमेशा बनी रहती थी।

परिस्थिति को देखते हुए ऐसा कामचलाऊ पाठ्यक्रम बनाकर हम

शिक्षा देते रहे। ऐसी दशा में आश्रम की व्यवस्था और आश्रम-जीवन में

कठिनाइयाँ और त्रुटियाँ

बहुत कुछ ढिलाई आ गयी। लेकिन ऐसी परिस्थिति में ऐसा होना अनिवार्य समझकर मैंने विद्यालय को सफल बनाने में ही सारी शक्ति लगा दी। क्योंकि मुझे विश्वास था कि हम यदि सरकारी सहायता का लाभ लेकर विद्यालय को अपने मनोनुकूल बना लें, तो फिर इन गड़बड़ियों को सहज कुछ महीने में ठीक कर लेंगे किन्तु परिस्थिति का लाभ नहीं उठायेंगे, तो अपनी कल्पित योजना का सूत्रपात करने में भी वर्षों लग जायेंगे। सरकारी साधन एक साथ मिल जाने से और जल्दी से बहुत ज्यादा काम कर लेने का बोझ पड़ जाने से एक नुकसान और हुआ। उसने हमें खर्चे के मामले में कम लापरवाह कर दिया। एक साथ इतने काम की व्यवस्था करने में ऐसी सावधानी सम्भव नहीं हो सकी। खर्चे के इस उदार तरीके ने हमारे काम में कुछ अन्य त्रुटियाँ भी पैदा कर दीं।

इतने बड़े पैमाने पर सरकारी मदद से आश्रम के ही संचालन को देखकर गरीब ग्रामवासियों का चकाचौंध होना स्वाभाविक था। स्वावलम्बन की दिशा में हम उनके भीतर अब तक जो भावना पैदा कर पाये थे, उसमें ढिलाई दिखाई देने लगी और अब वे हर बात में सहायता की अपेक्षा करने लगे। श्रद्धा तो वे अब भी करते थे लेकिन श्रद्धा में अब पहले जैसा सात्त्विक प्रेमभाव न था। इसका अधिकांश दोष पैसे की बहुलियत का है और खर्च करने में हमारी उदारता का है।

इस प्रकार एक ओर यदि हम अपनी कल्पित योजना की दिशा में आगे बढ़े तो इस भावना की दिशा में कुछ पीछे भी हटे, लेकिन मैंने देखा कि कुछ भीतर में हम आगे ही थे क्योंकि दूसरे वर्ष से हम परिस्थिति सुधारने में लगे जो कि धीरे-धीरे सुधरती ही गयी।

इस/ बात की बात फिर कभी लिखूँगा। ● ● ●

योजना की सही दिशा में

२ ११ ४१

मालूम नहीं कल का पत्र पढ़कर तुम पर क्या प्रभाव पड़ा, क्योंकि आम तौर से जो मित्र हमारे काम से सहानुभूति रखते हैं, वे इस प्रकार की परिस्थिति से घबराते हैं। कहते हैं, तुमने सरकारी मदद लेकर यह क्या मुसीबत मोल ली। इस क्रिप्स मिशन ने तुम्हारे असली उद्देश्य को ही समाप्त कर दिया। तुम अपनी चीज भी खो बैठे। शायद तुम भी ऐसा ही सोचो। लेकिन क्या ग्रामोद्योग विद्यालय की स्थापना करने से हम अपनी योजना या लक्ष्य से अलग हो गये या उसे किसी प्रकार का नुकसान पहुँचा? ऊपरी तौर से तो यह अवश्य लगता है कि हम पीछे हटे। तात्कालिक हानि अवश्य कुछ दिखाई पड़ती है, लेकिन हकीकत यह है कि जहाँ हम एक दिशा में एक कदम पीछे हटे, वहाँ दूसरी दिशा में कई कदम आगे बढ़े।

प्रश्न है कि क्या इस किस्म की तूफानी परिस्थिति से संस्था को कभी नुकसान नहीं होता? नुकसान जरूर पहुँचता है, पर ऐसी ही संस्था को जिसके सामने योजना और लक्ष्य स्थिर और साफ नहीं होता है। जिसके सामने अपना दृष्टिकोण साफ रहता है, वह चाहे कितनी सहायता सरकार से ले या दूसरी अनुकूल परिस्थितियों का लाभ उठाकर अपनी रफ्तार तेज कर दे, वह अपनी योजना के अनुसार ही आगे बढ़ेगा। एक दृष्टि से देखा जाय तो इस परिस्थिति से लाभ ही हुआ। एकाएक आर्थिक सहूलियत मिल जाने से खर्च करने का हमने जो ढंग रखा उसका आश्रम-जीवन पर और ग्रामीण जनता पर जो असर पड़ा, उसका ठीक-ठीक अध्ययन हमने कर लिया। उसे दूर करने की आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं। सेवकों के लिए विभिन्न परिस्थितियों में किस तरीके से चलना चाहिए, उसकी एक बहुत बड़ी शिक्षा हमें मिल गयी। भविष्य में ऐसी परिस्थिति में सावधानी से अपने को सँभालकर हम चल सकेंगे।

मेरा तो स्थिर मत है कि हमारा लक्ष्य और योजना निश्चित है, तो ऐसी परिस्थितियों से लाभ ही होता है। स्थायी हानि की तो मुझे कोई गुंजाइश ही नहीं दिखाई देती।

ऊपर लिखी परिस्थिति देखकर अपने तमाम मित्रों के घबड़ा जाने पर भी मैं घबड़ाया नहीं। हाँ, परिस्थिति फिर से अपने ढर्रे पर लायी जाय, इसकी चिन्ता मुझे हमेशा रही और दूसरे साल मैंने अपना ध्यान इसी ओर लगाना शुरू किया। इस काम के लिए मुझे एक सहूलियत भी थी। यद्यपि मैं अपनी निजी धारणा और अनुभव के अनुसार ही अपनी योजना बनाकर उसका प्रयोग करता था फिर भी वह गांधी-आश्रम का ही एक अंग था। बिगाड़ने के लिए भले ही मैं अकेला था, लेकिन सुधारने के लिए तो हम कई साथी थे। इस दिशा में हमें सम्पूर्ण रूप से मदद मिलती रही।

इस प्रकार हमने सन् ४ के सालभर में विद्यालय का निश्चित पाठ्यक्रम ठीक कर लिया शिक्षण-विधान का तरीका भी सँभाल लिया और साधारण व्यवस्था भी ढर्रे पर आ गयी। आश्रम-जीवन सम्पूर्ण रूप से सन्तोषजनक तो नहीं हो सका लेकिन सन् १९ की परिस्थिति हमने सँभाल ही ली। गाँव के लोगों के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होने लगा।

सन् ४ में हमने अपनी ग्राम-संगठन की योजना के लिए एक दूसरा कदम भी उठा लिया। आश्रम के चारों ओर के देहातों में से

एक कदम और

न्यूनतम ४ तथा मिडिल पास नौजवानों को कागज बनाना सिखाकर अपने-अपने गाँव में उद्योग-केन्द्र की स्थापना के उद्देश्य से हमने आश्रम व विद्यालय में उन्हें भरती कर लिया। जनवरी '४१ में हमने उन नौजवानों से उनके ग्रामों में उद्योग-केन्द्र खुलवा दिये। इस प्रकार भीड़ के कारण जो गड़बड़ी पैदा हो गयी थी उसे हमने बहुत कुछ सँभाल लिया। साथ ही अपनी अन्तिम योजना के अनुसार देहातों में उद्योग-केन्द्र-स्थापना की दिशा में हम एक कदम आगे बढ़ सके। अब हमारे सामने अगले साल के लिए इन समस्याओं का हल करना बाकी रह गया :

१ विद्यालय को स्वावलम्बी कैसे बनाया जाय, जिससे बिना बाहरी सहायता के भी काम चलता रहे।

२ ग्रामोत्थान के काम में पंचायतों को स्वावलम्बी बनाना और जिन नौजवानों से हम उद्योग-केन्द्र चलवा रहे थे उन्हें ग्रामोत्थान-काम में दिलचस्पी दिलाकर पंचायतों की सहायता पहुँचाना।

३ आश्रम-आदर्श और जीवन में सुधार करना।

इन दिनों मैंने ऊपर लिखी हुई तीन समस्याओं को हल करने में अपना ध्यान लगा दिया। लेकिन बीच में ही मैं नजरबन्द होकर यहाँ चला आया और यह काम करने का मौका नहीं मिला। फिर भी एक संस्था का अंग होने से यह काम तो चलता ही रहा। अब आश्रम की ओर से चित्रिभाई रचीवों का काम चला रहे हैं।

इस साल हमें एक सुविधा और मिल गयी। सरकार ने मदद देने से इनकार कर दिया। आश्रमवासी जो काम बहुत देर में कर पाते थे वह काम अब तुरत होने लगा। गाँव के लोग भी अब ज्यादा मुस्तैदी से आत्म-निर्भरता की ओर जा रहे हैं। इसकी खबर मुझे जेल में मिल रही है। जिस समय हम ग्रामोद्योग की ओर बढ़ रहे थे, उस समय सरकारी सहायता ने हमारी गति तेज कर दी थी और आज जब हमने अपने आदर्श को ढंग पर लाना शुरू किया तो सहायता बंद करके सरकार ने हमारे काम को फिर से तेज कर दिया। अब देखना है कि अगले दो साल में हमारी योजना अपने स्थान पर पहुँचती है या नहीं।

आश्रम के इस उतार-चढ़ाव से यह साफ है कि ग्राम-सेवा की तात्कालिक कठिनाई से घबड़ाना नहीं चाहिए। केवल यह देखना चाहिए कि अपने लक्ष्य की ओर अपना रुख स्थिर है या नहीं। सब परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहिए और अपने उद्देश्य और आदर्श को कायम रखते हुए जिस प्रकार भी मिल सके, सहायता और सहयोग लेना चाहिए।

अब पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। नमस्कार। ● ● ●

२५-११-'४१

सन् १९२१ में जब मैं गोंडा के देहात में घूमता था, उन दिनों चमारों और कुर्मियों की स्त्रियों की बाबत में जो कुछ अध्ययन कर सका था वह तुम्हें लिख चुका हूँ। जब हम रणीवाँ आये, तो हम लोगों का सम्बन्ध मध्यम श्रेणी के परिवारों से हुआ। रणीवाँ गाँव के लोगों का सम्बन्ध तो घर के जैसा हो गया था। धीरे-धीरे दूसरे गाँवों के लोगों से सम्बन्ध बढ़ता ही गया। मेरे होमियोपैथिक इलाज की काफी दूर तक शोहरत हो गयी थी। इलाज के लिए लोग आश्रम में भीड़ लगाये रहते थे। प्रतिदिन रोगियों की संख्या ५० से ७५ तक हो जाती थी। जो लोग हमसे इलाज कराने आते थे, उनमें अधिकतर स्त्रियाँ और बालक होते थे। स्त्री-रोगियों के इलाज के वास्ते हर प्रकार के लोगों के घरों के भीतर जाना पड़ता था। इस प्रकार दवा के सिलसिले से और फिर बाद में चरखा-विद्यालय के जरिये स्त्रियों से हम लोगों का अधिक परिचय हो गया।

ऊँचे और नीचे वर्ग की स्त्रियाँ

गोंडा के इलाके के कुर्मियों की स्त्रियों की शारीरिक और नैतिक स्फूर्तियों को देखकर, उनकी घर-गृहस्थी के मामले में भीतरी और बाहरी दिलचस्पी तथा पुरुषों से प्रत्येक काम में सहयोग की वृत्तियों को देखकर देहाती स्त्रियों के प्रति मेरी जो भावना थी रणीवाँ के आसपास की उच्च श्रेणियों की स्त्रियों से मिलकर उसमें अन्तर जरूर पड़ गया। स्त्री-जाति इतनी काहिल होती है, इसका अन्दाज मुझे पहले नहीं था। इनमें न तो कुर्मियों जैसी शारीरिक शक्ति है और न नैतिक बल ही। इनके घरों में सफाई की कमी दिखाई देती है। किसी घर में एक ही स्त्री हो और वह भी प्रौढ़ा हो, तो उसके घर में सफाई भी देखने को मिलती है और परिश्रम की भावना भी दिखाई देती है। परन्तु ऐसे घर बहुत कम हैं।

जिस घर में स्त्रियाँ अधिक हैं और खास तौर पर वे कम उम्रवाली हैं, वो काहिली और गन्दगी का कुछ हिसाब नहीं। उनका मानसिक विकास भी कुछ नहीं के बराबर है। दौरा में कुर्मियों की स्त्रियाँ जब मुझसे बात करती थीं तो बहुत-सी बाहरी बातें पूछा करती थीं। गांधी बाबा कहाँ हैं और 'स्वराज्य कब होगा' इत्यादि प्रश्न करती थीं लेकिन ऊँची जातियों में जो लोग पढ़े-लिखे हैं, जो कांग्रेस में भी हैं, उनकी स्त्रियाँ भी इन बातों से बिलकुल शून्य हैं। मैंने देखा कि घरों में एक आँगन के घेरे में बन्द रहकर वे इतनी संकीर्ण हो गयी हैं कि यह भी पता नहीं चलता है कि वे समाज का एक अंग हैं, पुरुषों के काम-काज में वे बिलकुल सहायक नहीं होतीं और न पुरुष लोग ही अपने कार्यक्रम के बारे में उनको दिलचस्पी दिलाते हैं। नतीजा यह है कि वे सदा काहिली और शौकीनी में ही डूबी रहती हैं। उन्हें शृंगार और शौकीनी से इतना प्रेम हो गया है कि अपने बच्चों के प्रति भी विशेष ध्यान नहीं दे पातीं।

विलास और पतन की ओर

मैंने देखा है कि ऊँची श्रेणी के घरों की माताएँ सुबह उठकर छोटे बच्चों को बिना शौचादि कराये बड़े बच्चों के कन्धे पर लादकर बाहर कर देती हैं। फिर निश्चिन्त होकर अपने कमरे में शीशा, तेल आदि शृंगार के साधन निकालकर घण्टा-भर अपने को सजाने में लगती हैं। बच्चों के नाक और आँख के कीचड़ में भले ही मक्खियाँ भिन-भिन करती रहें लेकिन माता का साज-बाज पूरा होना जरूरी है। इस काहिली और विलास के कारण चारों ओर, घर-घर अनीति और दुर्नीति फैल गयी है। इस भीषण दुर्नीति का एक विशेष कारण है—भयंकर सामाजिक अनमेल विवाह। ब्राह्मण और क्षत्रियों में, खास तौर से ब्राह्मणों में १६ १७ और कभी २ २ साल की लड़कियों से १ १२ १४ साल के लड़कों का विवाह-सम्बन्ध कर दिया जाता है। ऐसी हालत में विवाह के बाद लड़कियों के लिए नीति की मर्यादा बनाये रखना कठिन हो जाता है और जब परम्परा से ऐसी प्रथा चलती है, तो समाज में इस भयंकर दुर्नीति को आम बात समझ-

यह भारत-रमणी का परिचय है। लेकिन जब आश्रम-जैसी युगावतार की क्रान्तिकारी प्रचार करनेवाली क्रान्तिकारी संस्था के लोगों की स्त्रियों को 'कठिन कठोर सहाव कहते' योग्य शिक्षा की बात करना हास्यास्पद होता है, तो तुम साधारण जनता से क्या उम्मीद कर सकती हो ! आश्रम में मैं हमेशा स्त्री-सुधार की बात करता था, आदर्शों का सवाल करके। लेकिन जब गाँव की मध्यम श्रेणी की हालत देखी, तो स्तम्भित हो गया। मेरी समझ में नहीं आया कि स्त्री-समाज यदि ऐसा ही रहा, तो ग्रामोत्थान होगा किधर से ! क्योंकि मैं इस बात का कायल था ही कि बिना स्त्रियों के उठे कोई सामाजिक जीवन बन नहीं सकता है। अतः मैं इस बात की चिन्ता में लगा रहा कि इनकी शिक्षा का किस प्रकार प्रबन्ध किया जाय लेकिन तत्काल कोई उपाय न देखकर इस दिशा में साधारण प्रचार से ही संतोष करना था।

बाद में जब मैंने ग्राम-सुधार-विभाग की जिम्मेदारी ली तो इस ओर कुछ व्यावहारिक प्रयोग करने की सुविधा मिल गयी और मैंने इस दिशा में व्यापक प्रयोग के लिए कदम उठा लिया। स्त्री-सुधार का काम करने में मित्रों के संस्कार की कठिनाई का सामना करना पड़ा, किन्तु ईश्वर की कृपा से कुछ व्यावहारिक प्रयोग इस दिशा में हो ही गया। इसकी कहानी फिर कभी सुनाऊँगा। ● ● ●

इस जिले की कस्तिनों में तो मैं सन् १९२१ से ही काम करता था, लेकिन इस दृष्टिकोण से कभी अध्ययन करने की कोशिश मैंने नहीं की। उन दिनों मुझमें न तो ऐसी योग्यता ही थी और न इस दिशा में सोचने लायक अनुभव ही था। इस बार मैंने ६-७ माह में उनसे घनिष्ठता के साथ जो परिचय किया तो देखा कि पढ़ी-लिखी न होने पर भी उनमें धारणा शक्ति बहुत है। वे बहुत जल्दी बातों को समझ सकती हैं। यहाँ स्त्रियों का बौद्धिक विकास बहुत आसानी से किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो गया। कत्तिनें ठेठ ग्रामीण किसान के घर की होती हैं। उनमें यदि इतनी सम्भावनाएँ हैं, तो देहात की किसी भी श्रेणी की स्त्रियों को शिक्षा दी जा सकती है।

स्त्रियों में असीम सम्भावनाएँ

मैंने संभावनाओं को तो देख लिया। कत्तिन विद्यालय एक या डेढ़ माह तक ही चलता था। यह कोई स्थायी व्यवस्था नहीं थी। इन स्कूलों की मार्फत कुछ स्थायी नतीजा निकलने की गुंजाइश नहीं दिखाई देती थी। अतः मैं स्त्री-सुधार-आन्दोलन को व्यावहारिक रूप में लाने के विचार में लगा रहा। तीन आने मजदूरी होने से और कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बन जाने से चरखे का प्रचार और संख्या भी खूब बढ़ने लगी। जिन क्षेत्रों में चरखा नहीं चलता था उन क्षेत्रों में चरखा-केन्द्र खोलने लगे। अकबरपुर से पूर्व बिड़हर इलाके में मुबारकपुर हमारा सूत-केन्द्र था। उन दिनों मैं नये गाँवों में चरखा-प्रचार के लिए दौरा किया करता था। वस्त्र-स्वावलम्बन के विषय में सब जगह चर्चा करता था। साथ ही सूत न बेचकर खादी लेने के लिए खूब जोर देता था।

एक दिन मैंने यहाँ के लोगों से कहा कि आपके यहाँ के इतने नौजवान बेकार पड़े हैं। आप क्यों न इनको बुनाई सिखा दें और उनसे अपना सूत बुनवायें। इस बात से वे सब उत्साहित हुए और कहने लगे कि आप यहाँ बुनाई विद्यालय खोल दीजिये तो हम अपने लड़कों को बुनाई सिखा लेंगे। मैंने उनसे कहा कि विद्यालय का प्रबन्ध भी तो आप ही को करना

है। आप एक विद्यालय के प्रबन्ध से घबराते हैं, तो सारे देश का प्रबन्ध कैसे करेंगे? तब मैंने उन्हें बापू की स्वावलम्बिनी समाज-रचना का आदर्श समझाया। इससे वे कुछ करने के लिए तैयार हो गये। उसी गाँव के एक नौजवान साधु होकर गाँव के बाहर कुटीर बनाकर रहते थे। उन्होंने जिम्मेदारी भी ले ली। बहुत विचार-विनिमय के बाद तय हुआ कि वे विद्यालय के मकान आदि बनवायें। तात्पर्य यह कि सारी व्यवस्था वे ही करें। यदि १६ विद्यार्थी हो जायें, तो हम आश्रम से करघा और शिक्षक दे देंगे। इन लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। एक बहुत बड़ा मकान बनवाया—७ फुट लम्बी कोठी, दोनों ओर दो कोठरी और सामने उसारा। लोगों ने विद्यालय के लिए जमीन भी काफी छोड़ दी। लोग गरीब थे लेकिन उन्होंने मेहनत करके सौ-डेढ़ सौ गाँव से सामान और अनाज माँग-कर इस इमारत को बना डाला। बाद को वह व्यवस्था नहीं चल सकी। वे समझते थे कि बुनाई जल्दी आ जायगी। लेकिन उसमें तो सालभर लगता है। इसलिए सालभर के बाद विद्यालय चल नहीं सका। मैं गया तो शिक्षक वापस लेने के लिए वे इनकार भी कर नहीं सकते थे। लेकिन वहाँ के लोग कहने लगे— "हम लोगों ने इसे स्थापित करने में बहुत प्रयत्न किया है। आप कोई ऐसा काम बताइये जिसे हम लोग चला सकें और यह स्थान भी बना रहे।"

उन दिनों मेरे दिमाग में स्त्री-सुधार-आन्दोलन कैसे शुरू किया जाय इसीका विचार चलता था। मैंने एकाएक कह दिया कि "आप यहाँ यदि स्त्री-सुधार-केन्द्र बना दें, तो मैं अपना समय आपको दे सकूँगा। फिर मैंने उन्हें देहात की स्त्रियों की वर्तमान और भूतकालिक स्थिति बताकर कहा कि बिना इनके सुधरे और बिना इनके उठे देश उठ नहीं सकता। स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन नहीं बन सकता और सामाजिक जीवन से ही राष्ट्रीय जीवन बनता है। उस गाँव तथा उसके आसपास गाँवों के खाते-पीते कुछ लोग थे, जिनके लिए पर्दा खतम करना एक महापाप था। उनके गले यह बात उतरनी मुश्किल थी

लेकिन धीरे-धीरे वे इसके सिद्धान्त को मानने लगे। अब आया निश्चित योजना का सवाल। मैंने दूसरे दिन सवेरे खास-खास लोगों से सभा करने को कहा। क्योंकि मैं समझता था कि स्त्रियों के कार्यक्रम की सफलता के लिए अधिक लोगों की सम्मति की आवश्यकता है। उस दिन मैं उसी गाँव में टिक गया। रात्रि को इसी चिन्ता में रहा कि यह काम कैसे हो सकता है ? स्त्रियाँ तो पहले आयेंगी नहीं। अतः पहले लड़कियों को लेकर ही काम शुरू करना है। मेरे विचार में यह बात आयी कि यदि गाँव की बहुओं में से ऐसी कोई मिल जाय जो दर्जा ४-५ तक पढ़ी हो, तो उसीको शिक्षा देकर उसी ग्राम में स्त्री-सुधार-केन्द्र खोला जाय तभी यह योजना चल सकती है। गाँव की बहू घर पर रहने से ५-७ रुपया मासिक पारितोषिक से संतोष भी करेगी और घर ही पर रहने के कारण उस स्त्री के संरक्षण की चिन्ता हमें नहीं रहेगी। फिर क्रमशः उसी स्त्री का बौद्धिक विकास करके उस ग्राम के स्त्री-सुधार-आन्दोलन की संचालिका उसे बनाया जा सकेगा।

स्त्रियों के बिना सामाजिक जीवन संभव नहीं

सुबह उठकर मैंने स्वामी यमुनानन्द से अपना विचार प्रकट किया और उनसे पूछा कि ऐसी कोई बहू यहाँ है या नहीं। स्वामीजी ने सोचकर बताने के लिए कहा। जब सब लोग इकट्ठे हुए, तो मैंने उनके सामने अपना प्रस्ताव रखा। इससे सब निराश हो गये और कहने लगे—"अध्यापिका का प्रबन्ध आप करें।" मैंने उनसे अपना सारा विचार बताया। स्थानीय स्त्रियों की मार्फत ही यह काम हो सकता है, इस बात पर जोर दिया। गाँव की बहुओं के बाहर आने की सम्भावना की बात वे सोच भी नहीं सकते थे। उधर अधिकतर उच्च वर्ग के लोग ही रहते हैं। पर्दे का संस्कार उनमें इतना घुस गया था कि उनके लिए इस प्रकार का विचार करना भी सम्भव नहीं था फिर भी इस पर विचार करने का उन्होंने वादा किया। मैंने यमुनानन्दजी से ऐसी बहू खोजने

को कहा और यह भी कहा कि यदि वो मिल जाय और इस काम को करे तो मैं आश्रम से ५) मासिक पुरस्कार मंजूर कर दूँगा।

दस-पन्द्रह दिन में स्वामीजी का पत्र आया कि उस गाँव की एक बहू वहाँ ४ पास है, जो उस काम के लिए तैयार है। उसमें ५) के बजाय ७) पुरस्कार मंजूर करने की भी प्रार्थना थी। मैंने ७) मंजूर करके उस गाँव में लड़कियों का विद्यालय खोलकर गाव की स्त्री-सुधार योजना के प्रयोग का श्रीगणेश कर दिया।

स्त्रियों की समस्या का एक समाधान और उसके प्रयोग का एक मौका मिल जाने से मैं इस प्रश्न पर जोरों से विचार करने लगा। मैंने सोचा कि इस तरह लड़कियों से शुरू करके स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। गाँव के पर्दे की यह हालत थी कि जिस बहन को हमने काम में लगा दिया था वह अपने को पर्दे में ढँककर विद्यालय में हाजिर हो जाती थी। मैं जब कभी स्कूल जाता था तो वह घूँघट काढ़कर एक कोने की ओर मुँह करके बैठ जाती थी। मैं लड़कियों से बात करके ही पाठशाला के काम की प्रगति देखकर लौट आता था। धीरे-धीरे वहाँ की अध्यापिका श्रीमती धनरानी बहन विद्यालय की बाबत मुझसे बातें भी करने लगीं। बाद को उस गाँव की स्त्रियों में कुछ दिलचस्पी आने लगी। एक बार जब मैंने उस गाँव में स्त्रियों की सभा की, तो बहुत-सी स्त्रियाँ आ गयीं। इस तरह मैंने इस बात को देख लिया कि यदि हम लड़कियों के स्कूल से अपना कार्यक्रम शुरू करें तो धीरे-धीरे पर्देवाली स्त्रियों तक पहुँच सकेंगे। इसमें समय जरूर लगेगा परन्तु उपाय यही है। ● ● ●

ग्राम-सेविका-शिक्षा-योजना

२७-११-'४१

स्त्री-शिक्षा की अपनी योजना के व्यावहारिक प्रयोग के साथ-साथ मैं इस बात पर विचार करता रहा कि ग्राम-सुधार-विभाग का लाभ उठाकर हम देहात में किस प्रकार स्त्री-सुधार-आन्दोलन चला सकेंगे। कैसे और कहाँ से शुरू करें, किस प्रणाली से आगे बढ़ें, गाँव की बहुओं को हम इकट्ठा कर सकेंगे या नहीं, उनकी शिक्षा का कैसे प्रबन्ध करेंगे, संगठन का क्या रूप होगा आदि प्रश्नों पर दिन-रात विचार करता रहा। आखिर अपने मन में मैंने एक ऐसी कामचलाऊ योजना बना डाली :

१ जिस तरह हमने ज्ञान धर्मराजी देवी को खोज निकाला, उसी तरह भिन्न-भिन्न थानों के देहातों से एक ३-४ पास प्रतिष्ठित घर की बहुओं को खोज निकालें और उन्हें काम करने को राजी करें।

२ स्त्रियों को ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से तीन साल की शिक्षा इस प्रकार दें :

क पहले-पहल एक केन्द्रीय शिक्षण-शिविर खोलकर तीन महीने प्रारम्भिक शिक्षा दी जाय। इन तीन महीनों में उनकी पर्दे में रहने की शर्म टूट जायगी। बाहरी दुनिया की बाबत कुछ जानकारी हो जाने से उनमें हिम्मत और आत्म-विश्वास पैदा होगा। बहुत वर्षों से पढ़ना-लिखना छूट जाने के कारण जो बातें भूल गयी हैं उन्हें दोहरा लेंगी। कताई धुनाई का भी साधारण ज्ञान हो जायगा। यानी तीन महीने में हम उनमें ग्राम-सेविका की मनोवृत्ति बना लेंगे।

उसके बाद नौ महीने गाँव के कार्यक्षेत्र में शिक्षा दी जाय। इस बीच एक पाठशाला चलायें, जिसमें गाँव की लड़कियाँ तो पढ़ें ही साथ ही बहुएँ

एक सम्भव हो गाँव की बहुओं को भी शिक्षा दी जाय और ग्राम-सेविका को आगे पढ़ाने के लिए एक अध्यापक निश्चित कर दिया जाय, जिससे जो दर्जा ४ पास नहीं हैं, वे दर्जा ४ पास करके लोअर मिडिल की तैयारी कर सकें और जो दर्जा ४ पास हैं, वे सीधे तैयारी करें। ग्राम-सेविका के लिए विद्यालय के साथ एक छोटा-सा पुस्तकालय तथा एक साप्ताहिक पत्र का प्रबन्ध करके देश और दुनिया के विषय में साधारण दृष्टिकोण का विकास किया जाय।

ख. नौ महीने के बाद फिर तीन महीने के लिए उन्हें केन्द्रीय शिक्षा-शिविर में बुला लिया जाय, जिसमें देश और समाज का साधारण ज्ञान देहात की स्त्रियों में क्या-क्या सुधार करना है, बच्चों को कैसे रखा जाय आदि विषयों की जानकारी करायी जाय। साथ ही चरखा और दूसरी उपयोगी दस्तकारी के साथ देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों का बोध कराया जाय, जिससे उनकी मनोभावना स्वभावतः समाज-सेवा की ओर झुक सके।

ग पिछले साल की भाँति इस साल भी ६ माह घर पर रहकर उसी ग्राम का केन्द्र चलाया जाय। इस साल लड़कियों के साथ-साथ अधिक संख्या में बहुओं को लाने की कोशिश की जाय। गाँव के घरों की सफाई व चरखा का कार्यक्रम रहे। साथ-साथ उनमें जो लोअर मिडिल पास कर लें उन्हें मिडिल की तैयारी करायें और बाकी को लोअर मिडिल की तैयारी करायें।

घ तीसरे साल भी ३ माह शिविर की शिक्षा और ६ माह कार्यक्षेत्र की शिक्षा।

इस प्रकार उनमें इतनी योग्यता ला देने का मुझे विश्वास था:

१ मिडिल तक की योग्यता। २. चरखा और पाँच आवश्यक धन्धे जैसे सिलाई, बुनाई, काढ़ना। ३ देश और दुनिया का साधारण ज्ञान। ४ ग्रामीण समस्याओं का ज्ञान। ५. बच्चों के पालन और प्रसूति-विज्ञान की जानकारी।

तीन वर्ष में उनके अपने जीवन और दृष्टिकोण में इतना परिवर्तन करना सम्भव है कि हमारी कल्पना के अनुसार उनकी मार्फत स्त्री-सुधार की सेविका जिम्मेदारी उठा सके, ऐसा मैं मानता था। इस तीन साल के प्रचार और व्यावहारिक सेवा से उस क्षेत्र में ऐसा वातावरण पैदा करना कठिन नहीं था जिससे प्रायः सभी स्त्रियाँ हमारे कार्यक्रम में भाग ले सकें।

इस प्रकार मन में अपनी योजना की साफ-साफ रूप-रेखा बनाकर खर्चे के लिए ग्राम-सुधार दफ्तर से मैंने बातें कीं। मैंने सोचा था कि ऊपर से यदि कुछ प्रोत्साहन मिले तो मैं अपने विभाग के मन्त्री श्री टी० एन० कौल, आई० सी० एस० की सलाह से योजना को एक निर्दिष्ट रूप देकर सरकार के पास भेज दूँगा। लेकिन विभाग से कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। वह स्त्रियों के काम की जिम्मेदारी नहीं लेना चाहता था। दूसरे स्थानों में स्त्रियों का काम कराने के प्रयत्न में विफल होने से इसकी सफलता पर भरोसा नहीं था। अतः प्रान्तीय दफ्तर ने कुछ सहायता मिलने की मुझे कोई आशा नहीं दी।

जिले में मैंने विभाग के मन्त्री और इन्स्पेक्टर को अपना विचार बताया। उन्हें यह योजना पसन्द आयी। श्री कौल तो अत्यधिक उत्साहित हुए। मैंने उनसे कहा कि प्रान्त से कोई सहायता नहीं मिलेगी लेकिन हमारे जिले की शिक्षा के लिए जो मदद है, उसमें स्त्री या पुरुष जोड़े ही लिखा है? इसलिए जिला-समिति तो इसे केवल स्त्री-शिक्षा में ही खर्च कर सकती है। फिर भी श्री कौल ने एक योजना बनाकर सरकार को भेज दी। मैं पहले ही कह ऐसा आया था; ऊपर से कोई आशाजनक उत्तर नहीं आया। फिर हमने ऐसा विचार किया कि हम लोग शिक्षा-कोष से मासिक वृत्ति देकर शिविर में स्त्रियों को लाकर पहले ३ माह की शिक्षा दे ही सकते हैं। शिविर-खर्च के लिए बाहर से कुछ चन्दा लेने का भी विचार किया और उसके लिए समिति बना ली। समिति बनने से और चन्दे का काम शुरू होने से जिलेभर में योजना की बात सब लोग जान गये। इस शिविर में

शरीक होने के लिए देहाती भाइयों के नाम एक अपील छपवाकर बँटवा दी गयी।

उन दिनों मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। शहर में मित्रों को समझाना, उनकी आलोचनाओं का उत्तर देना, देहात में लोगों को समझा कर शिविर में उनकी बहू-बेटियों को भेजने के लिए राजी करना आदि सभी काम करना पड़ता था। श्री कौल और इन्स्पेक्टर भी इसके लिए कल्पनातीत परिश्रम करने लगे।

आज हमारे बैरक से भी दो साथी छूटे। बैरक के बुजुर्ग कानपुर के पुराने नेता श्री नारायण अरोड़ा आज छूट रहे हैं। वे रात को गांधीवाद और गांधी-सिद्धान्त की पुस्तकें पढ़कर व्याख्या करते थे। कल से यह काम मुझे ही करना होगा। इस बार जेल आने पर मेरा भी मैथिलीशरण गुप्त और अरोड़ाजी से घनिष्ठ परिचय हुआ इसलिए अरोड़ाजी के छूटने से खुशी भी है, दुःख भी। खैर, यह सब तो होता ही रहेगा। ● ● ●

खतरे की शंका ४८

२८।११।'४१

मैंने जब ५ स्त्री-सुधार-केन्द्र खोलने का विचार किया तो मेरे मित्र-समुदाय में बहुत बड़ी हलचल मच गयी। अधिकांश लोग सिद्धांततः तो मेरी योजना ठीक मानते थे, लेकिन उन्हें इसमें खतरा दीखता था। उनका कहना था कि गाँव के लोग भला अपने घर की स्त्रियों को क्यों भेजने लगे? फिर आप लड़कियों को नहीं बहुओं को बुलाना चाहते हैं, यह तो और भी कठिन है। स्त्रियों के शिविर खोलेंगे, उसमें बड़ी-बड़ी भ- भाभियाँ होंगी। गाँव के भले घर से तो कोई भेजेगा ही नहीं। जो लोग आयेंगी, उनसे आप क्या काम लेंगे? सबसे अधिक एतराज लोगों का यही था कि इससे व्यभिचार की वृद्धि होगी। गाँव से

आपत्तियाँ

पर्दा हट जायगा तो और भी अनर्थ हो जायगा। भला पिट्रोल और आग कहीं एक साथ रखना चाहिए? यह तो हमें मालूम ही है कि जब कभी स्त्रियों के संगठन के सम्बन्ध में बात की जाती है, तो लोग घबरा जाते हैं। यदि स्त्रियों को समाज में पुरुषों के साथ कार्य-क्षेत्र में भाग लेने का अवसर दिया जायगा तो उनके विचार में समाज में एक प्रकार का सार्वजनिक व्यभिचार फैल जायगा। साथ ही वे यूरोपीय समाज के साथ तुलना भी करने लग जाते हैं। मालूम नहीं, यूरोपीय समाज की नैतिक स्थिति कैसी है। उसका हमें ज्ञान है ही नहीं। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरे जितने मित्रों ने यूरोप में भ्रमण किया है और यूरोपीय समाज का अध्ययन किया है, वे कहते हैं कि यूरोपीय समाज के लोग अपने यहाँ के सामाजिक विधि-निषेधों की मर्यादाओं का उतना उल्लंघन नहीं करते हैं, जितना हमारे देश में आज के लोग करते हैं। लेकिन हमें यूरोप के समाज के बारे में झगड़ा करने से क्या फायदा?

और मजदूरों की है। उनमें पर्दा नहीं है, स्त्री-पुरुष हरएक काम में साथ-साथ काम करते हैं। ऐसे समाजों में, जहाँ स्त्रियाँ स्वतन्त्र हैं, वहाँ नैतिक स्थिति ऊँची है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि इनमें दुर्घटनाएँ नहीं होतीं। ऐसी दुर्घटनाएँ हर समाज और हर देश में थोड़ी-बहुत होती हैं और होती रहेंगी। लेकिन जब हम इनकी स्थिति की उस उच्च श्रेणी के समाज की स्थिति से तुलना करते हैं, जहाँ स्त्री-पुरुष अलग घेरों में हैं और जहाँ स्त्रियाँ बचपन से सख्त निषेधों की आड़ में रहती हैं, तो बन्द समाज से खुले समाज को कहीं ऊँचा पाते हैं। फिर यदि किसी भी समाज की नैतिक दुर्घटनाओं का गहराई से निरीक्षण किया जाय तो मालूम हो जायगा कि उनमें आधी से अधिक असहनीय गरीबी के कारण या उच्च श्रेणी के लोगों के सम्पर्क के कारण हैं। हम जब शहर के लोगों को यह परिस्थिति बताते हैं तो लोग स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि उनके सामने तो किसान और मजदूर का आदर्श शहर के घरों में काम करनेवाले कहार-कहारिन और मण्डियों में घूमनेवाले मजदूर-मजदूरिन ही होते हैं। लेकिन मैं तो ग्रामीण समाज की बात कर रहा था।

शुभारंभ

हाँ तो प्रायः एक-डेढ़ साल दौड़-धूप करके, मित्रों के एतराजों को समझाकर और देहात के लोगों को विश्वास दिलाकर मैंने ५ बहनों का एक शिक्षण-शिविर ४ नवम्बर सन् १९१९ को फैजाबाद में खोल दिया। मैंने कोशिश की थी कि सिर्फ गाँव की बहुओं को ही अपनी योजना में लिया जाय पर अविवाहित बहनों को भी बुला लिया। प्रथम प्रयत्न की दृष्टि से यह कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं थी। देहात के मसे पर के लोगों ने पुरानी रूढ़ि तोड़कर १६ से २१ वर्ष की आयु की बहनों को हमारे यहाँ विश्वास करके भेज दिया। यही एक बड़ी क्रान्ति थी। बहुत-से मित्र तो इस बात पर ही आश्चर्य करते थे कि लोगों ने भेज कैसे दिया।

इस प्रकार जिस भावना पर पिछले ९ साल से विचार हो रहा था, उसका सूत्रपात व्यवहार के रूप में हो गया।

● ● ●

की भी कल्पना रखना आवश्यक है। जो लोग बच्चों का झमेला उठाने से घबराते हैं, उन्हें स्त्री-संस्था के आयोजन का विचार ही छोड़ देना चाहिए। उन्हें कन्या-पाठशाला से ही सन्तोष करना चाहिए। लेकिन ऐसे सन्तोष से हमारे गाँव की समस्या हल नहीं होती। इसलिए लोगों की घबराहट होते हुए भी बच्चों का हमने स्वागत ही किया और शिक्षा-शिविर के साथ-साथ एक शिशु-पालन-शिविर भी खोल दिया, जहाँ दिनभर बच्चे रहते थे। उनकी देखभाल के लिए प्रतिदिन तीन स्त्रियों की पारी बाँध दी। मेरी भाभी एक सप्ताह आकर उन्हें दिनचर्या बता गयीं। शिशु-मंगल और प्रसूतिगृह के काम में लोग सहायता भी करते रहे। इससे माताओं को शिशु-पालन की व्यावहारिक शिक्षा मिलती रही। शुरू में तो बच्चों को एक घेरे में रखना ठीक था लेकिन जल्दी ही बच्चों में काफी अनुशासन आ गया। इस प्रबन्ध से शुरू में जो लोग परेशान थे, उन्हें भी खूब सन्तोष हुआ और वे इसमें दिलचस्पी लेने लगे।

बच्चों के बिना स्त्री-शिक्षण व्यर्थ

शिविर खोलने में मेरे सामने एक और कठिनाई थी। मेरे साथ काम करनेवाली कोई बहन नहीं थी। लेकिन स्त्री-शिविर बिना स्त्री के कैसे चले! यह सब सोचकर मैंने [illegible] की पत्नी सुशीला को ही यहाँ का इन्चार्ज बना लिया। बाद को प्रान्तीय स्काउट कमिश्नर मिस सुशीला भार्गव ने १ [illegible] माह का समय हमें दे दिया था। सुचेता और आचार्य युगलकिशोर की पत्नी श्री शान्ति बहन ने भी एक-एक माह का समय उसमें दिया था। इस तरह कमर बाँधकर यदि कोई अच्छा काम शुरू किया जाय तो ईश्वर सारा प्रबन्ध धीरे-धीरे कर ही देता है। सारी सुविधा जुटाकर ही काम शुरू करेंगे वाली प्रवृत्ति मेरी समझ में कभी नहीं आयी। इस तरह तो कोई भी नया क्रान्तिकारी कार्यक्रम चल ही नहीं सकता। फिर तो 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी।' सेवकों को अपनी भावना के औचित्य और व्यावहारिकता पर विश्वास होना चाहिए। अपने-आप

शुभ काम को ईश्वर बढ़ाता है

पर विश्वास होना चाहिए। फिर तो शुभ कार्य प्रारम्भ ही कर देना चाहिए, शेष सामग्री और साधन धीरे-धीरे मिलते जाते हैं। इस सिद्धान्त पर मेरा दृढ़ विश्वास था। हुआ भी वही। बिना किसी स्त्री के भी शिविर खोलने का खतरा मैंने उठा लिया; फिर स्त्रियाँ मिलती गयीं।

चार माह शिविर में निम्नलिखित विषयों की शिक्षा दी गयी :

१ हिन्दी हिसाब इतिहास, भूगोल। २ चरखा का व्यावहारिक और औद्योगिक ज्ञान। ३ शिशु-पालन और प्रसूति-विज्ञान। ४ देश दुनिया का साधारण ज्ञान। ५. स्काउटिंग। ६ राष्ट्रीय गीत। ७ गाँव की सामान्य समस्याएँ।

चार माह के बाद इन स्त्रियों के जीवन में, दृष्टिकोण में, बुद्धि में इतना परिवर्तन हुआ कि हमें प्रभावित होना पड़ता था। परिवर्तन तो कल्पनातीत था। यह उनके लिए एक जवाब था, जो कहते हैं कि गाँववाले बदलना नहीं चाहते हैं। पर्दे की झेंप तो तीन दिन में ही समाप्त हो गयी थी। जो लोग पहले दिन उन्हें देख गये थे वे एक-डेढ़ माह बाद देखकर विश्वास नहीं करते थे कि ये वही स्त्रियाँ हैं। डेढ़ माह बाद दादा (आचार्य कृपालानी) शिविर में आये थे। उन्होंने लड़कियों को देखा उनसे बातें कीं उनसे प्रश्न पूछकर उत्तर देने को बताया भी लिया। मैंने दादा से पूछा कि आपने कैसा स्टैंडर्ड पाया? दादा ने कहा— "बहुत ठीक। There are as many intelligent and dull girls as you will find in such a group in towns

("यहाँ भी उतनी ही चतुर और उतनी ही बोदी लड़कियाँ हैं, जितनी किसी भी नगर के ऐसे समूह में मिल सकती हैं।")

चार माह शिविर के शिक्षा-क्रम के साथ-साथ एक काम मैंने और किया। सुचेता और शान्ति बहन ने १ माह का समय मुझे दे दिया था। मैंने इनका नाम लगाकर देहातों में अपनी योजना के प्रचार की बात सोची। इसके लिए मैंने प्रतिदिन दिन को १ बजे से ४ बजे तक का गाँव का कार्यक्रम रखा। एक दिन सुचेता जाती थी और एक दिन शान्ति

बहन। जिन ग्रामों की स्त्रियां कैम्प में आती थीं और जहाँ सुधार-केन्द्र खोलना था, उन उन गाँवों में विराट् सभा का आयोजन करते थे। हम यह कोशिश करते थे कि स्त्री और पुरुष दोनों आवें और वे बड़ी संख्या में आते भी थे। सुशीला और शान्ति बहन सभाओं में स्त्री-सुधार के संबंध में भाषण करती थीं और फिर बाद को स्त्रियों से बातचीत करती थीं। इस कार्यक्रम से देहाती वायुमंडल हमारे पक्ष में होता गया। सुशीला तो उसी गाँव की जो बहू हमारे शिविर में थी उसे साथ ले जाकर उससे गाना गवाती थी। एक गाँव में उसके ससुर मुझसे कहने लगे—"भाईजी, मैंने तो आज ही अपनी बहू की सूरत देखी। तुम्हारे लिए यह बहुत बड़ी बात नहीं क्योंकि तुम महाराष्ट्र के वायुमंडल में काम करते हो, लेकिन अयोध्या के इलाके के लिए यह बहुत बड़ी क्रान्ति है।

अनुकूल वातावरण के लिए प्रचार

इस तरह ईश्वर की कृपा से चार मास में शिविर का काम समाप्त करके बहनों को घर भेज दिया। शिविर समाप्त हो जाने पर मेरे एक मित्र ने, जो स्कूलों के इंस्पेक्टर थे, कहा—"मि० मजूमदार, एक बात के लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। वह यह कि चार मास में किसी किस्म की समालोचना का मौका नहीं आया।

• • •

सेविकाओं की व्यावहारिक शिक्षा ५०

१-११-४१

बहनों को शिविर की शिक्षा के बाद फिर ६ माह के लिए कार्यक्रम की व्यावहारिक शिक्षा की योजना के अनुसार कार्यक्रम बनाने की समस्या सामने आ गयी। शुरू में हमें गाँव के लोगों में अपने कार्यक्रम के प्रति सहानुभूति पैदा करनी थी। विशेषकर गाँव की स्त्रियों की प्रवृत्ति में कुछ परिवर्तन लाना था। मैंने सुचेता से कहा और वह समय देने को राजी हो गयी। फिर स्त्री-सुधार-केन्द्रों का उद्घाटन समारोह के साथ करने लगे। सुचेता इसके लिए बड़ी मेहनत करती थी। उद्घाटन के बाद घर-घर जाकर स्त्रियों से बातें करती थी। घरों में सुचेता के घूमने से मुझे बड़ी मदद मिली और स्त्रियों में इसके विरुद्ध भावना दूर होती रही।

सुधार-केन्द्र का श्रीगणेश लड़कियों के विद्यालय से ही करना है, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। यहाँ पढ़ाई और तकली की व्यवस्था थी। ग्राम-सेविका के लिए पहले साल गाँव का और काम करने का कार्यक्रम नहीं रखा। तीन साल की योजना में प्रथम वर्ष इसकी कल्पना भी नहीं थी। इस बार हम केवल इस बात पर जोर देते थे कि वे नियमित जीवन व्यतीत करें। अपने घर साफ रखें और अपने बच्चों का व्यवहार ठीक रखें। वे गाँव की बहुओं को विद्यालय में लाने की कोशिश करें इसका ध्यान मैं हमेशा रखता था। ग्राम-सेविकाओं से विद्यालय की पढ़ाई और कताई का लेखा रखने और मासिक रिपोर्ट तैयार करने का भी अभ्यास कराता था। प्रत्येक केन्द्र में १०-१२ पुस्तकें, १ मासिक और १ साप्ताहिक पत्र का भी प्रबन्ध हो गया। सुधार-केन्द्र की सेविका विद्यालय चलाने का काम तो करती ही थी साथ ही अपनी परीक्षा के लिए तैयारी भी करती थी। हरएक के लिए एक अध्यापक का प्रबन्ध कर दिया गया था।

जिले में ५ शिक्षा केन्द्र खोलने से और उनके लिए प्रचार करने से

एक काम और हुआ। देहातों में आम तौर से लड़कियों को पढ़ाने के प्रति लोगों की रुचि होने लगी।

इस तरह ९ माह का भी कार्यक्रम पूरा होता गया। सब बहनों ने कक्षा ४ की परीक्षा दे दी और २७ बहनें लोअर मिडिल की परीक्षा की तैयारी करने लगीं।

यद्यपि सुधार-केन्द्र में प्रधानतः लड़कियाँ ही शिक्षा लेती थीं, फिर भी बहुत से केन्द्रों में २-४ बहुएँ भी पढ़ने लगीं। यह ठाकुरों का गाँव था। फिर भी उन्होंने पर्दा न रखने का निश्चय कर लिया। प्रथम वर्ष के ही परीक्षा-फल को देखकर मुझे विश्वास हो गया कि तीन साल में जब हम ग्राम-सेविकाओं की तैयारी पूरी कर लेंगे और सुधार-केन्द्र की सम्पूर्ण योजना का काम शुरू हो जायगा, तो गाँव की तमाम स्त्रियों में इतना मानसिक परिवर्तन हो सकेगा कि वे सब हमारी योजना में भाग लेने लगेंगी।

नौ माह का कार्यक्रम समाप्त करके दूसरे साल की शिविर-शिक्षा का प्रबन्ध कर ही रहा था कि कांग्रेस के आदेशानुसार हम लोग ग्राम-सुधार विभाग से पृथक् हो गये। इस साल तो मेरा काम आसान हो गया था। जिले की स्त्री-सुधार-योजना के प्रथम वर्ष के परिणाम को देखकर प्रान्तीय

अब सरकार भी बदली

सरकार ने इसे अपनी रचना स्वीकार कर लिया और तमाम खर्च के लिए मंजूरी दे दी। उसने केवल इतना ही नहीं किया बल्कि इस योजना को धीरे धीरे ४८ जिलों में फैलाने के लिए ग्राम-सेविका शिक्षा-शिविर को स्थायी भी बना दिया। यह अवश्य है कि मेरे पृथक् हो जाने से सरकार ने इस योजना का रूप बदल दिया। इस तरह ग्राम-सुधार-विभाग के मार्फत का काम उठाकर मैंने बहुत दिनों के अपने स्वप्न को कुछ साकार रूप देने की चेष्टा की। इससे आगे के लिए मुझे बड़ा अनुभव मिला। भविष्य में यदि कभी स्त्रियों का काम करना होगा, तो इस अनुभव से लाभ होगा।

● ● ●

स्त्री शिक्षा का आधार—चरखा . ५१

१-१२-'४१

ग्राम-सुधार-स्त्री-शिक्षा-शिविर का परिणाम देखकर मुझे ऐसा लगा कि हम यदि बहिनों को किसी तरह अधिक समय तक शिक्षा दे सकें, तो उनके जीवन में हम अमूल्य परिवर्तन ला सकते हैं। यह ठीक है कि शिविर में आनेवाली स्त्रियाँ अच्छे घर की थीं और दर्जा २, ३ ४ तक पढ़ी भी थीं, और बहिनें ठेठ किसान हैं। पर मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि अच्छे घर की स्त्रियाँ चाहे कुछ पढ़ी भी हों लेकिन पर्दे के कारण बाहरी साधारण ज्ञान उनमें कम होता है। बुद्धि उनमें अधिक होती है, लेकिन अनुभव कम। एक-एक माह के लिए जो ग्राम-सुधार विद्यालय खोला गया था उसके द्वारा उनकी समझ और धारणा-शक्ति का अन्दाजा मुझे मिल गया था। इसलिए स्त्री-सुधार-केन्द्र का सब अनुष्ठान समाप्त होते ही इसका प्रयोग करने का विचार हुआ।

इस काम के लिए गोसाईंगंज से आधे मील की दूरी पर एक ग्राम पसन्द किया गया। यह सिर्फ किसानों का ही ग्राम है। यहाँ हम लोगों ने पंचायत स्थापित की थी जो कि सफलता के साथ चल रही थी। यहाँ एक सेवक रख दिया।

आशातीत सफलता

गाँव की १० १५ स्त्रियाँ प्रतिदिन सात घण्टे के लिए स्कूल में आती थीं। प्रतिदिन १ घण्टा अक्षर-ज्ञान और हिसाब पढ़ाया जाता था; शेष समय बुनाई और कताई। प्रयोग के लिए मैंने तीन माह तक विद्यालय चलाया। सप्ताह में एक दिन मौखिक क्लास में साधारण विषयों की बातें बता दी जाती थीं। बीच-बीच में मैं भी वहाँ जाकर बहिनों को इधर उधर की बातें बतलाता था। कारण भाई भी प्रायः आते थे। केवल १ माह में ही उनके दृष्टिकोण में कल्पनातीत परिवर्तन दिखाई देने लगा। बाबा राघवदास को एक बार उस गाँव में ले गया था। स्त्रियों से बात करके वे पूछने लगे—"क्या ये सचमुच किसान हैं!" एक बार श्री कृष्णच

पालीवालजी उस गाँव में गये थे। उन स्त्रियों को देखकर वे भी आश्चर्य करने लगे।

इसी तरह हस्तप्रसगंज के पास एक गाँव में प्रयोग किया। दूर होने के कारण मैं वहाँ अधिक नहीं जा सका। वहाँ के कार्यकर्ता का स्तर भी ऊँचा नहीं था। फिर भी वहाँ का परिणाम अच्छा ही रहा। २४, गाँवों में तीन-तीन माह के प्रयोग से कत्तिनों के जीवन में परिवर्तन की सम्भावनाओं का पता लग गया और मैं जिस बात की कल्पना करता था, उस पर विश्वास हो गया। यह अप्रैल मई जून की बात थी। अगस्त में आश्रम की सालाना बैठक होती थी। उसमें ६-७ योग्य कार्यकर्ताओं को फिर से कताई-धुनाई की शास्त्रीय शिक्षा देकर विशेष रूप से कताई विद्यालय खोलने का निश्चय हुआ। तदनुसार १७ कार्यकर्ता रणीवाँ भेजे गये। उन्हें ३-४ माह पहले की व्यावहारिक यांत्रिक और सैद्धान्तिक शिक्षा देकर अकबरपुर के पास १२ गाँवों में कत्तिन विद्यालय खोल दिया। वहाँ अपनी योजना के अनुसार १ घंटा बौद्धिक क्लास भी रख दिया गया। दो माह में ही उनमें परिवर्तन देखने को मिला। लेकिन मैंने देखा कि कार्यकर्ताओं की तैयारी पूरी नहीं हुई और मार्च का महीना ही आने से ९ माह के लिए कत्तिनों को फसल काटने की छुट्टी भी देनी चाहिए थी, इसलिए कार्यकर्ताओं को फिर से शिक्षा देने के लिए रणीवाँ बुला लिया। वे रणीवाँ आये और मैं गिरफ्तार होकर जेल चला आया। जेल में ९ माह विचार करने से एक योजना की रूपरेखा साफ होने लगी। कानपुर खादी-भंडार के व्यवस्थापक श्री रामनाम टंडन मेरे साथ हैं। उनसे योजना पर विचार-विनिमय किया। फिर हम लोगों ने अपनी कल्पना लिख डाली। पूज्य बापूजी को भी एक पत्र में लिखा। बापूजी ने उस पत्र को नवम्बर के 'खादी जगत' में प्रकाशित करके सब प्रान्तों के खादी-कार्यकर्ताओं की राय माँगी है। चरखा-संघ यदि इस योजना को मान ले और व्यवहार में लाये तो ग्रामीण समाज में क्रान्ति हो जायगी। फिर स्त्री-सुधार के लिए कोई दूसरी योजना बनाने की जरूरत नहीं होगी। हम लोगों को काम के लिए अनन्त कार्यक्षेत्र मिल जायगा। ● ● ●

खादी-सेवकों की स्त्रियाँ   ५२

९-१२-'४१

पहले ही लिख चुका हूँ कि ग्राम-सुधार-शिक्षा-केन्द्र के पक्ष में वायुमंडल पैदा करने के लिए मैं देहातों में जाकर प्रचार करता था लेकिन इस प्रकार के प्रचार में मुझे एक बहुत भारी अड़चन पड़ी। फैजाबाद जिले के बहुत-से नौजवान हमारे आश्रम के कार्यकर्ता हैं। दुर्भाग्य से उनकी स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं। सुधार केन्द्र की स्त्रियाँ यहाँ तक कि कतिन स्कूल की स्त्रियों का दृष्टिकोण भी उनसे उन्नत था। कार्यकर्ताओं की स्त्रियाँ नियमित चरखा भी नहीं चलातीं और खादी नहीं पहनती हैं। ऐसी हालत में जब कभी मैं ऐसे गाँव में पहुँच जाता था जहाँ हमारे कार्यकर्ता का घर हो तो मैं बहुत धर्म-संकट में पड़ जाता था। मैं प्रचार करता था कि स्त्रियाँ पर्दा न रखें चरखा चलायें, खादी ही पहनें और हमारे अपने साथियों की स्त्रियाँ घूँघट काढ़कर घर में फँसी रहें चरखा न चलायें, खादी न पहनें! और हम इन्हीं कार्यकर्ताओं की मार्फत अपने सिद्धान्तों को साकार रूप देना चाहते हैं! किसी-किसी गाँव में यह विषम स्थिति! जब लोग इस विषय पर मुझसे सवाल भी करते थे तो मुझे झेंपना पड़ता था। इस स्थिति को देखकर मेरी आत्मा को बहुत कष्ट होता था। मैं सोचने लगा कि ऐसी हालत में हम क्या ग्राम-उत्थान का काम करेंगे। यदि हम अपने साथियों में ही कोई भावना पैदा नहीं कर सकते तो संसार को क्या बता सकते हैं। आश्रम के कार्यकर्ताओं की स्त्रियाँ अपने पतियों के साथ कार्यक्रम में भाग नहीं लेतीं इसकी ग्लानि तो मुझमें थी ही इस बार के दौरे ने तो मुझे परेशान कर दिया। मैंने महसूस किया कि ग्रामसेवकों की स्त्रियों की शिक्षा तो पहले होनी चाहिए। उसके बाद ही कोई कार्यक्रम गाँव में चलाया जा सकता है। लेकिन उस समय मेरे सामने कोई रास्ता नहीं था और न इसके लिए कोई साधन ही था न मौका था। इसलिए इस बात को मन-ही-मन छोड़ा और रणीवाँ-आश्रम में जो बहनें रहती थीं, उनकी व्यवस्था करके मैंने संचार

किया। अक्बरपुर में भी भिन्न-भिन्न कार्यकर्ताओं को राजी कर उनकी स्त्रियों को पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करने लगा। मेरे साथियों की राय इस मामले में मेरे साथ न होने से विशेष उत्साह तो नहीं था फिर भी इस ओर कुछ-न-कुछ प्रयत्न मैंने जारी ही रखा।

ग्राम-सुधार की मार्फत स्त्री-सुधार की जो योजना शुरू की थी, उसके *प्रथम वर्ष के शिविर के* समाप्त होते ही मैं सुमन से, सुचेता से और जिससे भी मुलाकात होती थी, किसी बहन को इस काम को उठाने के वास्ते कहता था। दूसरे साल के शिविर के लिए एक योग्य बहन की आवश्यकता थी। पहली बार तो प्रयोगमात्र था स्त्रियों को बुलाकर किसी तरह काम चालू कर दिया गया। मैं खुद भी वहाँ बैठ गया। ऐसा तो स्थायी रूप से हो नहीं सकता था। इसलिए मुझे स्थायी प्रबन्ध करना था। आखिर सरला बहन की मार्फत मिस हटीरा से बात करके तय किया। उन्होंने लिखा कि नवम्बर के प्रथम सप्ताह में आने की कोशिश करूँगी। अक्तूबर में प्रान्तीय सरकार ने शिविर को सीधे अपनी निरीक्षण में चलाने का निश्चय किया। वे मेरा असर उन स्त्रियों पर नहीं चाहती थीं क्योंकि हम लोग तो उनमें राष्ट्रीय भावना ही पैदा करेंगे। जब मैं शिविर की जिम्मेदारी से अलग हो गया, तो मिस हटीरा को लिख दिया कि अब न आयें। पर मुझसे भूल यह हुई कि मैंने तार नहीं पत्र भेजा। मिस हटीरा पहले ही वहाँ से चल दी थीं और ४ नवम्बर को आश्रम में आ गयीं।

मिस हटीरा को मैंने बहुत ही सादे जीवनवाली पाया और मन में सोचा कि आश्रम के कार्यकर्ताओं की पत्नियों के लिए शिक्षा-विभाग खोल दिया जाय। तदनुसार मैंने आश्रम में महिला-विभाग खोल दिया। मिस हटीरा ज्यादा दिन नहीं रह सकीं। तब मैं अपनी काकी (सुचेता की माँ) को बुलाकर काम चलाता रहा। बाद में मैं गिरफ्तार हो गया और ५-६ माह बाद उसे बन्द कर देना पड़ा।

योग्य व्यवस्थापिका का अभाव

● ● ●

सरकारी ग्राम-सुधार

१ १२ '४१

आज मैं सरकारी ग्राम-सुधार के अनुभव लिखने बैठा हूँ। सरकारी काम में एक कठिनाई यह है कि परिस्थिति के अनुसार अपनी कल्पना को पूरा करने का मौका नहीं होता। दूसरी बात यह है कि सरकारी कार्यक्रम किसी निश्चित आदेशानुसार ग्रामीण समाज को संगठित करने की दिशा में नहीं होता। गाँव के लोगों को कुछ सहायता पहुँचाने का ही लक्ष्य रहता है। मुझे साल भर के लिए बनाये हुए निश्चित कार्यक्रम को लेकर चलना पड़ता था। उसे मैं अपनी धारणा के अनुसार मोड़ने का प्रयत्न तो करता था, फिर भी बहुत हद तक कार्यक्रम अलग-अलग ही होता था।

सरकार की ओर से मुझे जब जिला ग्राम-सुधार-संघ के अध्यक्ष-पद की जिम्मेदारी मिली, तो मैंने सबसे पहले पुरानी सरकार की योजनाओं का अध्ययन किया। फैजाबाद में अयोध्या के राजा के कोर्ट ऑफ वार्ड्स की ओर से ग्राम-सुधार का कुछ काम होता था। सरकारी ग्राम-सुधार भी उसीके साथ शामिल कर दिया गया था। मैंने देखा कि यहाँ सुधार के नाम पर अधिकतर ग्राम-सुधार ही हुआ है। न तो 'ग्रामवासी-सुधार' की कोई चेष्टा की गयी थी और न 'ग्राम-समाज-सुधार' की। विभाग के सेवकों में ही जातिभेद मौजूद था। सुधार अफसर, इन्स्पेक्टर, आर्गनाइजर आदि व्यक्तियों अलग-अलग थीं और उसी हिसाब से आपस में व्यवहार था। शहर के लोग ग्राम-सुधार उसीको कहते हैं, जिससे गाँववालों को वे चीजें मिल जायें, जिनके बिना शहरवालों को तकलीफ होती है। यानी पक्की गलियाँ हो जायें, ओसारा पक्का हो जाय, सीमेंट का फर्श हो जाय, बड़े-बड़े खिड़कीदार कमरे हों। यदि हो सके तो बिजली की रोशनी और रेडियो हो जाय।

मैंने ऊपर कहा है कि सरकारी लोग ग्रामवासियों का सुधार नहीं करते।

मेरी ऐसी बातों से कुछ सुधार-अफसर नाराज हो जाते थे—"क्या आप समझते हैं कि हम यह भी नहीं जानते कि उनका अज्ञान ही सारे कष्टों का मूल है। हम उसका भी प्रबन्ध करते हैं।' उनका कहना सही है, वे यह भी करते हैं। वे मैजिक लैंटर्न से बताते हैं कि मक्खियाँ क्या-क्या बीमारी फैलाती हैं। हैजा से बचने के क्या-क्या उपाय हैं आदि। व रोगों का प्रतिकार ऐसा बताते हैं कि ग्रामवासी मामीरी साधन से पा नहीं सकते। वे सफाई की बात भी करते हैं, लेकिन अपने लेने की सफाई रखने में इतना व्यय कर डालते हैं कि देहाती लोग कह उठते हैं कि सफाई के लिए इतना तूल-कलाम करना है, तो मानना चाहिए कि परमात्मा ने हमें साफ रहने के लिए पैदा ही नहीं किया। यह भी अमीरों के अनेक विलासों में एक विलास ही है।

वे समाज-सुधार भी करते हैं। व्याख्यान और पर्चों द्वारा यह कहते हैं कि "तुम बड़े बेवकूफ हो। ठीक से रहना नहीं जानते। तुममें जात-पाँत का भेद है। तुम विवाह श्राद्ध आदि अनुष्ठानों में फिजूल खर्च करते हो तुम चमार-धोबियों का नाच कराते हो; होली खेलते हो; तुम बेकार जेवर बनाकर सोना-चाँदी घर में फँसाकर रखते हो। इस तरह तुम्हें महाजन के चंगुल में फँसकर कर्जे में डूबना पड़ता है। तुम्हारे बच्चे मूर्ख रहते और गोरू चराते हैं घास छीलते हैं, पढ़ने नहीं। इसलिए तुम बरबाद हो गये। अतः तुम्हें चाहिए कि घर पर किसी किस्म का बेकार आनन्दोत्सव न मनाकर मुँह लटकाकर साक्षात बैठे रहो। तुम्हारे पास सोने-चाँदी के जो जेवर हैं, व सब बेचकर रुपया को डाकखाने के सेविंग बैंक में रख दो। जरूरत पर महाजन के पास न जाकर सरकारी समिति से उधार लो। बच्चे गोरू न चरावें मवेशी खूँटे में बँधे रहें। घास बिना उनका काम चल जायगा। सरकार ने हर गाँव में जो निराधार स्कूल खोल रखा है उसमें बच्चों को भर्ती कर दो।" इस प्रकार के उपदेशों की भरमार से गाँववालों का दम घुटने लगता है।

उपदेशों की भरमार

ऐसे ग्राम-सुधार से गाँव में कुछ ऊपरी सजावट आती थी। इससे पैसा

को-ऑपरेटिव सोसाइटी

५४

४-१२-'४१

जब [illegible] गाँव में काम करता था तो देखता था कि गाँववालों को कर्ज की मद ही ज्यादा दुःख देनेवाली होती है। २४ आदमी कर्ज देकर सबको बाँधे हुए हैं। कोई किसान ऐसा नहीं, जो महाजन के हाथ में बँधा न हो। यह समस्या इतनी व्यापक है कि इस पर कुछ विस्तार से विचार करना ठीक होगा।

सबसे पहले हम यह देखें कि किसान पर जो कर्ज होता है, उसे वह चाहे तो रोक सकता है या उसकी परिस्थिति ही ऐसी है कि वह उससे बच नहीं सकता। आजकल अर्थशास्त्र के पंडितों का एक फैशन हो गया है कि वे किसानों की फिजूलखर्ची की बात कहकर कर्ज में उनके डूबने के खिलाफ आलोचना करते हैं। विवाह, जनेऊ, त्योहार आदि अनुष्ठानों में शक्ति से ज्यादा खर्च करने पर वे उन्हें कोसते हैं और उपदेश देते हैं। लेकिन वे चाहते क्या हैं? क्या गाँव के लोग गले में रस्सी बाँधकर फाँसी लगा लें? आखिर गाँववालों की जिन्दगी में है क्या? किसान का सारा जीवन नीरस और रूखा है। चाहे गर्मी हो, चाहे सर्दी वही एक ही तरह का सुबह उठना, हल-बैल लेकर खेत में जाना। १२ माह वही घर्षण वही मकुनी बाजरा की रोटी-दाल। कोई विभिन्नता नहीं, कोई तब्दीली नहीं। आँख मूँदकर घानी के बैल जैसा छोटे-से दायरे में जिन्दगीभर घूमना ही उनके लिए रह गया है। गाँव के किसान तो आजीवन कारावास भोग रहे हैं, सो भी 'सी' क्लास का। ऐसे दुःसह और नीरस जीवन में कभी एकआध बार कोई शुभ अवसर आता है तो कुछ खुशी मनाना कुछ प्रमोद करना स्वजन कुटुम्ब से मेल-मुलाकात करना उनके लिए स्वाभाविक और अपरिहार्य होता है। सालभर की नीरसता के बीच वही

आजीवन कारा-वास-सा नीरस जीवन

ग्रामीण उद्योग-धन्धों के खिलाफ आलोचना करनेवाले पश्चिमी अर्थ-शास्त्र के पंडित जब जमीन के वास्ते टूट पड़ने की किसान की बेवकूफी और लापरवाही बताते हैं, तो समझ में नहीं आता कि उनकी बुद्धि को हम क्या कहें। गाँव का पंचायत-समाज टूट जाने से लड़ाई-झगड़ा के कारण अदालत में मामला ले जाना पड़ता है, उसके लिए भी कर्ज बढ़ जाता है। सम्मिलित परिवार टूट जाने से छोटा-छोटा परिवार हो गया इस प्रकार उसके साधन कम हो जाते हैं, इसलिए भी वह कर्ज में फँसता है। अतः जब मैं देहातों में काम करता था और किसानों को कर्जों की असम्भव स्थिति में देखता था और उनके कारणों का अध्ययन करता था तो मालूम होता था कि कर्ज का कारण किसानों की बेबसी है और आज की स्थिति में वह अनिवार्य है। अपनी शक्तिभर आन्दोलनों में सही ढंग

विधायक तरीका

पर कर्ज करने के नवीन तरीके बताकर, खेती से अधिक पैदा करने का तरीका बताकर, गाँव में मेल और सद्भाव पैदा कर, मुकदमेबाजी कम कराकर और सहायक धन्धों से कुछ आमदनी का जरिया बताकर भविष्य के लिए किंचित् सहूलियत पैदा करके ही कर्ज का भार बढ़ने से रोका जा सकता है। लेकिन इस दिशा में प्रत्यक्ष रूप से कुछ संयोजित पेश करना ग्राम-सेवक के लिए बेकार ही है।

वैसे तो किसान के कर्जों का इतिहास अंग्रेजी राज्य के साथ ही शुरू हुआ है। लेकिन गौर करने पर मालूम होगा कि पिछली लड़ाई के बाद

कर्जों का पहाड़ कैसे बढ़ता गया ?

ही ज्यादा कर्ज बढ़ा है और महाजनों ने अधिक व्यापार किया है। पिछली लड़ाई के दिनों में जिनके पास पैसे थे उन्होंने खूब पैसा पैदा किया। लड़ाई समाप्त हो जाने से लड़ाई के सामान की माँग बन्द हो गयी तो बहुत सी पूँजी, जो लड़ाई के कारण दूनी-तिगुनी हो गयी थी खाली हो गयी। इन पूँजीपतियों ने जब रुपया लगाने का बाहर कोई जरिया नहीं देखा तो गाँव में उधार देना शुरू किया। इन दिनों अनाज महँगा हो गया था ही, इसलिए जमीन से आमदनी भी बहुत थी। जहाँ कहीं जमीन खाली हुई

रास्ता ही नहीं है। लेकिन मैंने सोचा कि शायद सहकारिता द्वारा कुछ हल निकल सके। अतएव मैं इस विभाग की कार्य-पद्धति और कार्यक्रम का अध्ययन करने लगा।

जब मैंने इसके कार्यक्रम और संगठन की रूपरेखा देखी, तो मेरी सारी आशाओं पर पानी फिर गया। सहकारी बैंक एक केन्द्रीय संगठन होता है, जो कहने के लिए प्रतिनिधिमूलक है। लेकिन सरकारी विभाग के कर्मचारी ही बैंकवालों पर हावी होते हैं। देहातों में सोसाइटियाँ खोली जाती हैं, उसकी पंचायतें बनती हैं। यूनियन का प्रधान सरकारी अफसर होता है और तीन सदस्य उसके असर से बाहर से लिये जाते हैं। पंच लोग भी उन्हीं के आदमी होते हैं। जिला बैंक सोसाइटी को कर्ज देता है, सोसाइटी मेम्बरों को देती है। बैंक सीधे भी कर्ज देता है। बैंक ६.७ सूद लेता है और सोसाइटी १५% तक लेती है। फिर इसकी जमानत रूप में फसल बंधक रखनी पड़ती है। फसल हो जाने पर पंचायत कब्जे में कर लेती है और बेचकर अपना पैसा ले लेती है। फसल जिसके हाथ बेची जाती है, वे भी इन्हीं पंच के मार्फत होते हैं। वे चाहे जिसको चाहे जिस भाव से बेच दें। जो लोग फसल बंधक नहीं रखते और दूसरी चीजों की जमानत पर कर्ज लेते हैं, उनसे इतने अमानुषिक तरीके से वसूल किया जाता है कि लोग त्राहि-त्राहि करते हैं। कर्ज देने का एक खास तरीका 'मिमिराबन्द' है। माना १ गाँव के १ आदमी कर्ज लेना चाहते हैं, तो हरएक के कर्जा अदा करने के लिए दसों आदमी सम्मिलित रूप से जिम्मेदार होते हैं। अर्थात अगर एक ने नहीं अदा किया और उसके पास लेने को कुछ बाकी नहीं रहा तो शेष सबसे या उनमें से किसी एक से वसूल कर लेंगे।

नामनाथ हुए तो लौपनाथ आप !

मैंने यहाँ तक देखा है कि जिन इलाके में सोसाइटी खुली हुई है, वहाँ लोगों पर पहले से ज्यादा कर्ज हो गया है। वसूली के तरीके और पंचों के स्वार्थ के कारण लोग बरबाद हो जाते हैं। फिर जिनके पास जमानत के

जमींदार, सरकारी पंचायत आदि साधन हैं, उसी तरह यह भी एक साधन बना है। यह तो और भी खिलाफ पैदा करनेवाली बात है, क्योंकि इसके जरिये किसानों की आर्थिक लगाम अपने हाथ में रखते हैं। जनता की राय के खिलाफ इन सोसाइटियों को चमकाकर लड़ाई का अच्छा इकट्ठा करते हुए मैंने अपनी आँखों देखा है।

कांग्रेसी सरकार को-आपरेटिव विभाग की मार्फत किसान का गल्ला आदि बेचने का प्रबन्ध करना चाहती थी। कुछ काम शुरू भी किया, लेकिन वह भी को-ऑपरेटिव बैंक के डाइरेक्टर बड़े-बड़े महाजनों द्वारा। इसमें भी उसी गुट की स्वार्थ-सिद्धि होती रही।

मानलीजिये जनता को यदि कोई भी सरकार सचमुच सही फायदा पहुँचाना चाहती है, तो मैंने पिछले पत्र में जिस क्रम से पंचायतों का संगठन करने की बात कही है, उसी प्रकार पंचायतें कायम करके उन्हें मजबूत बनाकर स्वावलम्बी व्यवस्था की ओर चलाना चाहिए। फिर सब काम पंचायतों की मार्फत हो सकेगा और ऐसी पंचायत ही सही को-ऑपरेटिव हो सकती है।

सही तरीका

महाजन इसीलिए ज्यादा सूद लेते हैं, कि वे देखते हैं, कर्ज लेनेवाले इतने गर्जमन्द हैं कि वे जो भी शर्त रखेंगे, झख मारकर माननी पड़ेगी। पंचायत का संगठन मजबूत होने से महाजन की रकम डूबने का अन्देशा कम होने पर वे खुद ही सूद कम लेंगे। आज तो जो रकम डूब जाती है, उसको भी जोड़कर सूद का हिसाब होता है। मुझको बहुत से महाजन कहते हैं कि आप को-ऑपरेटिव जैसी वसूली की गारंटी करा दीजिये, हम ४% सूद पर अपना काम चला लेंगे। बहुत से बड़े किसान हैं, जिन्हें महाजन से कम सूद पर कर्जा मिल जाता है, क्योंकि समय पर वसूली की गारंटी रहती है। लोग कहते हैं कि पंचायत के लिए सार्वजनिक वृत्तिवाले व्यक्ति कहाँ मिलेंगे। यह भय बेकार है। जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ, ऐसे आदमी खोज निकालना मुश्किल नहीं है। • • •

ही सारा दिन कट जाता है। कभी-कभी तो एकआध टुकड़े १ २ मील दूरी पर भी होते हैं। इस तरह किसानों के पास जो जमीन है, उसे जोतने में शक्ति और सामर्थ्य घटती ही चली जाती है। इस प्रकार ठीक रूप से सेवा न होने से जमीन भी दिन-ब-दिन खराब होती जाती है।

जमीन के असंख्य टुकड़े

हमारे गाँवों में जंगल खतम हो जाने से गोबर जलाने का रिवाज है और इस कारण खाद कम होने की बात सभी जानते हैं। लेकिन अबर की जमीन इतनी अधिक जुत गयी है कि इधर गाँव में मवेशी नहीं मिलते हैं। जो २ ४ गायें हैं भी बकरी जैसी छोटी-छोटी होती हैं। बैल भी बहुत कम मिलते हैं। बहुत से लोगों के खेत छोटे टुकड़ों में चारों ओर इस प्रकार बँटे हैं कि बैल रखने की जरूरत भी नहीं होती। मवेशी कम होने से न तो खेत की जुताई ठीक से होती है और न गोबर ही मिलता है, इसलिए मैंने कहा था कि यहाँ तो गोबर होता ही नहीं, फिर जलाने-न जलाने की बात भी क्या सोचें। फिर भी जितना होता है, वह जला ही डालते हैं। जिस भाग में चरागाह है, वहाँ यदि गोबर जला भी देते हैं, तो भी जून से सितम्बर तक चार माह में कुछ तो खाद हो ही जाती है। लेकिन यहाँ चार माह में क्या मिलेगा जिससे जमीन को खुराक पहुँच सके।

खाद का अभाव

इस जिले के किसानों की तीसरी कठिनाई पानी की है। जहाँ १ हाथ पर पानी निकलता हो वहाँ दो-दो तीन-तीन फर्लांग पर तालाब हो वहाँ पानी का कष्ट हो यह बड़े आश्चर्य की बात है। इस जिले में पहले जमाने में तालाबों की भरमार थी। लेकिन सब-के-सब सदियों की लापरवाही के कारण बिल्कुल भठ गये हैं। बरसात में उनमें थोड़ा पानी हो जाता है। लेकिन अक्तूबर समाप्त होते-होते सब पानी सूख जाता है। कुओं से पानी भरना आसान है, क्योंकि यहाँ पानी नजदीक मिलता है। देखने में आता है कि यहाँ सिंचाई के कुएँ भी बहुत थे। लेकिन गरीबी

सिंचाई की कठिनाई

और अफ़लास के कारण आधे से ज़्यादा मरम्मत बिना बेकार हो गये हैं। गरीबी के कारण साधन न जुटने से कुओं की मरम्मत नहीं हो पाती है। लेकिन जब खेत बँटता जाता है और एक ही कुएँ से कई पट्टीदार सींचते हैं, तो कौन मरम्मत करेगा यह नहीं हो पाता है। इस तरह असंख्य कुएँ समाप्त हो गये हैं।

इसी तरह गरीबी ग्राम-व्यवस्था के अभाव और लापरवाही के कारण सदियों से ज़िले में तालाब और कुएँ होते हुए भी आज किसान पानी बिना तरसते रहते हैं।

इस तरह किसानों को खेती के काम में तीन महासंकट हैं :

१ थोड़ी ज़मीन का भी छोटे-छोटे टुकड़ों में दूर-दूर बँटा रहना।

२ खाद का सम्पूर्ण अभाव।

३ पानी की भारी कमी।

मैं समझता हूँ कि कोई भी राष्ट्रीय सरकार खेती की दिशा में सबसे पहले इन तीन समस्याओं को हल करे बाकी बातें फिर होंगी।

मैंने देखा कि कृषि-विभागवाले दो बातों पर मुख्यतः ज़ोर देते थे— सुधरे हुए बीज और खेती के लिए सुधरे हुए औज़ारों का उपयोग। सुधरा हुआ बीज कुछ अंश तक लाभ पहुँचा सकता है। गेहूँ के बीज तो लाभ देते थे लेकिन अधिकांश बीज तो स्थानीय रूप से मर्यादकर सवाई पर

सुधरे बीज और सुधरे औज़ार

लेने की प्रवृत्ति थी। हम थोड़ी देर के लिए यह मानने को तैयार हैं कि सुधरे हुए बीज से किसान का लाभ है। लेकिन आज की समस्या तो ऊपर बताये हुए तीन संकटों की ही है। सरकार की सारी शक्ति उसीमें लगनी चाहिए। अपने साधन फुटकर बातों में पश्चिमी नकल में, खर्च कर अपव्यय नहीं करना चाहिए।

गौर से देखा जाय तो उक्त औज़ार भी बेकार ही हैं। एक तो वे इतनी कीमत के होते हैं कि साधारण किसान सहसा उन्हें खरीद नहीं सकते। दूसरे, ये उन्नत औज़ार हमारे लिए किस हद तक लाभदायक हैं,

इसका भी विचार होना चाहिए। इस पर भी कृषि-विभाग के विशेषज्ञों में मतभेद है। मैं सरकार के कृषि के डिप्टी डाइरेक्टर से बात कर रहा था। वे कहते हैं कि इस जिले के किसानों के पास इतनी जमीन नहीं कि वे उनकी आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकॉनॉमिक होल्डिंग') कह सकें। दूसरी बात यह कि उनके पास खाद-पानी काफी नहीं है। साथ ही किसान इतने सुस्त हैं कि किसी किस्म की उन्नति करना नहीं चाहते हैं। उन्नत औजार इन्हें काम में लाने चाहिए। अच्छा, हम इन्हीं बातों की परीक्षा करें।

गाँववालों के पास यदि इतनी जमीन नहीं है कि परिवार को खिला सकें और १ हल और १ जोड़ा बैल का पूरा काम देख सकें और जमीन की आमदनी से सारे परिवार के लिए भरपूर अन्न हो जाय, तो उन्नत औजार के लिए और उसे चलाने लायक उन्नत बैल के लिए ताकत कहाँ से लायेंगे? जब छोटे हल-बैल के लिए ही जमीन काफी नहीं है, तो बड़े बैल और उन्नत औजार को पूरा काम देने के लिए कहाँ से लायें और जब उनकी खेती परिवारभर की ही खुराक पैदा नहीं कर सकती, तो बड़े बैल की बढ़ती खुराक कहाँ से लायेंगे।

जुताई वाले

दूसरी बात खाद-पानी काफी नहीं है। यह भी खेती के विशेषज्ञ बताते हैं कि गहरी जोताई होने से नीचे की मिट्टी ऊपर आ जाती है और जमीन की नमी भी जल्दी सूख जाती है। यह सब लोग समझ सकते हैं कि गहरी जुताई में जब नीचे तक जमीन उथली-पुथली होती रहेगी तो जितनी गहराई तक खाद पहुँचे उतनी खाद चाहिए और नमी सूख जाने से सिंचाई भी ज्यादा होनी चाहिए। इन्हीं दो बातों के संकट का खास तौर पर इस जिले के किसानों को सामना करना पड़ता है। अतः जमीन को ऊपर ऊपर खोदकर, जमीन की स्वाभाविक नमी का फायदा उठाकर और थोड़ी खाद डालकर अपनी जो कुछ भी फसल पैदा कर लेते हैं, गहरी जुताई करके खाद-पानी बिना उससे भी हाथ धोना पड़ेगा।

लोग बहस में कहते हैं कि हम तो सस्ते-से-सस्ते हल देते हैं। यह ठीक है कि वे जो मेस्टन हल देते हैं, उसका दूसरे वैज्ञानिक हलों से दाम कम है। लेकिन एक तो उसका दाम (८१ रुपया) भी अवध के किसानों के लिए ज्यादा है। फिर मेस्टन हल सिर्फ बरसात की पोली जमीन पर ही चल सकता है। इसलिए मेस्टन हल हो जाने से देशी हल से छुट्टी नहीं मिलती। उनको दोनों हल रखने पड़ते हैं। इसका मतलब है और ज्यादा खर्च। मैंने देखा है कि ये हल जल्द टूट जाते हैं और टूटने पर मामूली लोहार इन्हें बना भी नहीं सकते। ऊपर की बातों से तुम्हारी समझ में आ जायगा कि किसान जो इन औजारों को नहीं इस्तेमाल करना चाहते इसका मतलब यह नहीं है कि वे बड़े दकियानूसी हैं। मैंने खूब देखा है कि किसान चाहे जितने बेवकूफ हों, खेती में अपने फायदे की बातें झट समझ जाते हैं। वे इन चीजों से उदासीन इसलिए हैं कि वे समझते हैं कि इन औजारों को इस्तेमाल करने लायक स्थिति नहीं है।

किसान अपना काम खूब समझता है।

मेरे कहने का मतलब यह न समझना कि मैं इन चीजों को बेकार समझता हूँ। इनसे अच्छी खेती हो सकती है, इससे कौन इनकार कर सकता है। लेकिन जिन बातों की सबसे पहले आवश्यकता है उन्हें पहले करना चाहिए।

मैं जब ये बातें कृषि-विभागवालों से कहता हूँ, तो वे नाराज हो जाते हैं। वे अपने अंकों से साबित करते हैं कि पिछले तीन साल में किस प्रकार इन औजारों की बिक्री बढ़ी है। लेकिन मैंने देहातों में सैकड़ों घरों में देखा है कि इस किस्म के औजार कबाड़खाने या भूसाघर के कोने में पड़े रहते हैं और उनमें जंग लगती रहती है। कुछ दिन इस्तेमाल किया और कुछ टूट जाने पर मरम्मत किया। इसलिए इनके अंकों पर मुझे कोई भरोसा नहीं होता। मैं तो अपनी आँख-देखी बात और अनुभव पर ज्यादा भरोसा करता हूँ।

• • •

७-१२-'४१

हाँ, मैं परसों कृषि-विभाग-सम्बन्धी अपना अनुभव लिख रहा था। सरकारी महकमों का काम ऐसा होता ही है। ये ग्रामीण दृष्टि से किसी चीज को नहीं देखते। इसलिए हमेशा उल्टे रास्ते चलते हैं। ग्राम वासियों के शरीर की पुष्टि के लिए जब वे कुछ सुधार करना चाहते हैं, तो 'विटामिन चार्ट' छपवाकर बाँटते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आज विटामिन की समस्या नहीं है। समस्या तो परम्पर से ही थी, किसी तरह पेट का गड्ढा भरने की है। अतएव कोई सरकार यदि वाकई खेती का सुधार करना चाहती है, तो उसे पहले इस बात का पता लगाना चाहिए कि गाँव के किसान जिस तरीके से अब तक खेती करते आये हैं, उसमें क्या-क्या कठिनाई है या किन-किन बातों की कमी है। सरकार उन्हींको पूरा कर दे। आज भी हमारे किसान खेती के तरीकों को अच्छी तरह जानते हैं। इस असम्भव परिस्थिति में भी वे जितना पैदा कर लेते हैं, मैं दावे से कह सकता हूँ कि आधुनिक कृषि-विशेषज्ञ उस परिस्थिति में हरगिज उतना नहीं पैदा कर सकते। फिर तुम किसे अधिक कुशल खेतिहर कहोगी? साधनहीन स्थिति में जो लोग दुनिया के बहुत से उत्तम देशों का पैदावार में मुकाबला कर लेते हैं, उन्हें या जो लोग राधा के नाचने के लिए नौ मन तेल के इन्तजार में बैठे रहते हैं, उन्हें? फिर इसका भी कोई निश्चय नहीं कि राधा नाचकर कितना अधिक पैदा करेगी उसकी कीमत ९ मन तेल की कीमत के बराबर हो सकेगी या नहीं

राधा के नाचने के लिए नौ मन तेल का इन्तजार

इस प्रकार मैं विचार कर ही रहा था कि कांग्रेसी सरकार ने 'चक बन्दी' का कानून पास किया। मैंने समझा अब उसकी जड़ पर जाना सम्भव होगा। स्थानीय अधिकारी की सहायता से मैंने यह काम करने की

कोशिश की। कानून ऐसा था कि किसानों को राजी करके चकबन्दी की जाय। अतः मैं जहाँ-जहाँ जाता था वहाँ-वहाँ इस बात की कोशिश करता था कि किसान तैयार हो जायें तो मैं अधिकारी से मिलकर इसे कराने का यत्न करूँ। लेकिन मैंने देखा कि यह काम एक प्रकार से असम्भव है। मुझे इस यत्न में पूरी असफलता मिली। दरअसल आज की परिस्थिति में चकबन्दी हो ही नहीं सकती।

मैंने पिछले पत्र में लिखा था कि प्राचीन सम्मिलित परिवार के बँट जाने से खेती टुकड़ा-टुकड़ा होकर बँट गयी है। इस बँटवारे में तुम एक तरफ से आधा हिस्सा एक भाई को और दूसरी तरफ से आधा हिस्सा दूसरे भाई को नहीं दे सकते हो। इसमें हर प्रकार की जमीन को बाँटना होगा। कुछ जमीन ऊँची है, तो कुछ नीची। फिर कुछ जमीन इतनी नीची है कि सिर्फ जड़हन धान ही हो सकता है। कुछ जमीन मटियार होती है, कुछ दूमट, जिसमें अलग फसलें अच्छी पैदा हो सकती हैं। कुछ जमीन गाँव से दूर है, कुछ नजदीक। इस दृष्टि से भी जमीन की कीमत में फर्क पड़ जाता है। फिर यह भी देखा जाता है कि कौन जमीन पानी के पास है जंगली जानवर की पहुँच पर है या पेड़ों की छाँह में है इत्यादि। इन्हीं बातों का ध्यान रखकर बँटवारा होता है। किसान जो लगान पर जमीन

बँटवारे के पीछे भी एक तत्त्व है

लेता है, वह भी इसी किस्म की हर तरह की जमीन से थोड़ा-थोड़ा लेता है। अतः जो टुकड़ा-टुकड़ा जमीन दूर-दूर फैली हुई है, वह सरासर गाँववालों की बेवकूफी के कारण हो गयी है, सिर्फ ऐसी बात नहीं है। इसके पीछे एक निश्चित तत्त्व है, एक नियम है, जो कम वैज्ञानिक नहीं है। हमारे यहाँ खेती बरखा के भरोसे होती है और यह महाशिवेश्वी की समस्यावली पर निर्भर है। कभी अतिवृष्टि कभी अनावृष्टि। कभी कम बारिश कभी कुछ ज्यादा। यह तो हमेशा लगा ही रहता है। हर किस्म की जमीन और हर किस्म की खेती होने के कारण ही इस किस्म की ऐसी दुर्घटनाओं का सामना हमारे किसान कर लेते हैं। क्योंकि ये दुर्घटनाएँ हमेशा एक ही

करते रहें तो भी वे नहीं करेंगे। जब मैंने देखा कि हम खाद बढ़ाने के लिए 'कम्पोस्ट' की बातें करते हैं और यह बात झट किसानों की समझ में आ जाती है, तो इस काम को गाँव की सफाई की समस्या हल करने का एक बहुत भारी साधन समझकर मैं इस पर जुट गया। साधारणतया ग्राम-सेवा के काम में सफाई का काम बहुत महत्त्व का है, लेकिन ग्राम-सेवक के प्रति मेरा नम्र निवेदन है कि गाँव में पहुँचते ही गाँव की सफाई के लिए तूल-कलाम न शुरू कर दें बल्कि अपने-आप सफाई से रहकर अध्ययन करें कि कौन-सा कार्यक्रम गाँववालों को तात्कालिक लाभ देनेवाला ऐसा है, जिसकी मार्फत सफाई हो सकती है, उसीको करने लग जायें।

सबसे ज्यादा तकलीफ पानी की है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जितने तालाब थे, वे सब-के-सब भट गये हैं और कुओं में से अधिकांश खतम हो चुके हैं। अब सवाल यह था कि इस समस्या का हल कैसे किया जाय। सरकार की ओर से इस मद में हमें जो पैसा मिला था, वह भी इतना अपर्याप्त था कि उससे एक कुएँभर की मदद नहीं हो सकती थी। संसार के सभी

पानी की समस्या

चिन्ताशील लोगों का एकमात्र कथन है कि नहर से ही पानी की समस्या हल हो सकती है। यह बात ठीक है, लेकिन वह सर्वकाल और सर्वदेश के लिए सही है या नहीं इस पर विचार होना चाहिए। संयोग से जब हम लोग ग्राम-समस्याओं का अध्ययन कर रहे थे, तभी हमारे जिले में नहर का महकमा खुल गया और उससे किसानों को खूब पानी मिलने लगा। नहर जिले के बहुत थोड़े ही हिस्से में आयी हुई है। लेकिन उसमें इलाके के किसानों को पानी का फायदा खूब मिला। पानी की इफरात देखकर किसान नाच रहे थे। मैं जब उन देहातों में घूमता था तो खेतों को बिल्कुल हरा पाता था। लेकिन साल भर बाद ही लोगों में असंतोष दिखाई देने लगा। एक तो लोगों को समय से पानी नहीं मिलता था। दूसरे जैसा कि स्वाभाविक था जो लोग बड़े किसान थे बड़े जमींदार थे और सरकारी कर्मचारियों से मेल-जोल रखते

थे, उनके यहाँ पानी पहले आता था। यह शिकायत तो शुरू से ही थी। इफरात पानी होने से लोग खेती में खूब पानी भर रखते थे। इससे खेत बहुत ठण्डे हो गये। पानी काफी होने से फसल फैलने में काफी ताकी मालूम होने लगी। इससे गोड़ाई के प्रति लोग उदासीन रहने लगे। जो लोग खेती के बारे में जरा भी ज्ञान रखते हैं, वे जानते हैं कि निकाने से गोड़ाई करके पपड़ी फोड़ न दी जाय तो जमीन के नीचे की सतह पर न हवा पहुँच सकती है और न रोशनी। इससे नीचे की सतह खराब हो जाती है। जमीन के नीचे हवा और रोशनी न पहुँचने से फसल की जड़ नीचे नहीं जाती है क्योंकि उसको तो बिना आसानी पड़ेगी उधर जायगी। वह ऊपर ऊपर होने से एक नुकसान यह होता है कि जब ऊपर की सतह सूख जाय, तो फिर से पानी से तर न करो तो पौधा जिन्दा नहीं रहता। फिर वह बराबर से ज्यादा पानी मांगता है और जमीन अधिक ठण्डी हो जाती है। नतीजा यह होता है कि जमीन से गर्मी निकल जाने से अन्त में रबी की फसल खराब हो जाती है। सरकार पानी का दाम प्रति बीघा के हिसाब से लेती है, पानी की तादाद पर लगान नहीं लेती है। इस कारण भी किसान पानी लेने में अन्धाधुन्धी करते हैं।

पानी की इफरात के कारण एक और नुकसान होता है। पानी नाले से कटकर या बाहर फूटकर इधर उधर फैल जाने पर किसान परवाह नहीं करते। नतीजा यह होता है कि इधर उधर जितनी जगह नीची रहती है वह सब भर जाती है और सड़ती रहती है। सभी नीची जगह नहर की वजह से हमेशा नम रहती हैं और उनमें क्षार जमती रहती है। क्योंकि नहर के पानी की सतह उन जमीनों से ऊँची होने के कारण पानी का रिसाव नीची जमीन पर लगातार पहुँचता है। इस तरह नहर के पानी के आने के कारण और खेत और नहर के पानी के फैलने से नहर के पास के देहातों के आसपास तमाम जगह सर्दी रहती है और गाँव का स्वास्थ्य खराब होता है।

(हाशिया: पानी के इफरात से हानि)

किस्म की नहीं होतीं। इसलिए कभी कुछ जमीन पैदा करती है, तो दूसरी जमीन कुछ दे देती है। इस तरह उनको हर परिस्थिति में कुछ औसत पैदावार मिल जाती है। हर किसान को हर किस्म की खेती से एक और फायदा है। यहाँ किसानों के पास इतनी जमीन नहीं कि वे काफी परती छोड़कर जमीन बनाते रहें। इसलिए वे हर साल हेर-फेर करके अपना खेत बोते हैं। इसके लिए हर प्रकार की कुछ-कुछ जमीन उनके पास होना जरूरी है।

मैं जब इस दिशा में कोशिश करता था, तो टुकड़ा खेती के नुकसान की बाबत लोग मुझसे सहमत होते थे। उन्हें मालूम है कि एक चक की खेती कम खर्चे से हो सकती है। लेकिन ऊपर बताये कारणों से वे चकबन्दी करने में असमर्थ थे। मैंने भी देखा कि जब तक एक आदमी का थोड़ा खेत है, जो कि 'विशेषज्ञों' की भाषा में आर्थिक दृष्टि से लाभदायक ('इकॉनोमिक होल्डिंग') नहीं है, तब तक वे इस तरह थोड़ी-बहुत जमीन हर किस्म के खेत से लेकर अपने देहाती विज्ञान से थोड़ा-बहुत लाभदायक बना लेते हैं। इसे विज्ञान के विशेषज्ञ लोग समझ नहीं सकते।

जमीन की चकबन्दी की दिशा में मैंने जो कुछ प्रयत्न किया, उससे मैंने देखा कि इसके लिए समय और शक्ति खर्च करना बेकार है। इस

दो ही उपाय

विषय में एक चक की खेती तभी हो सकेगी जब प्राचीन सम्मिलित परिवार-प्रथा चल सके या गाँव के कुछ परिवार मिलकर खेती करें यानी खेतों के मामले में वे एक परिवार हो जायँ। इस समस्या के हल करने का कोई दूसरा रास्ता मेरी समझ में नहीं आया।

किसानों के जिन तीन संकटों के बारे में मैंने लिखा था उनमें से एक संकट का हाल तो मैंने बताया। अब खाद की बात आती है। खाद बढ़ाने के लिए कृषि-विभागवाले जो तरीका बताते हैं, वह मौजूदा हालत में भी अव्यावहारिक मालूम हुआ। मैंने पहले ही कहा था कि आर्थिक परिस्थिति के कारण और चारा के लिए काफी जमीन न होने से इधर लोग

मवेशी रख नहीं सकते हैं। इसलिए गोबर बहुत कम होता है। तिस पर भी लोग गोबर जला देते हैं। जला जो कुछ खाद के लिए बचता है, वह नहीं के बराबर ही है। लेकिन जब कि सारा जंगल कटकर खतम हो चुका है, तो यह कहना कि 'गोबर न जलाओ' बिल्कुल बेकार है। आखिर जब लकड़ी है ही नहीं, तो वे क्या करें। इस विकट समस्या को हल करने के लिए सरकारी विभागवाले कई बातों पर ठीक ही जोर देते हैं। जैसे, जितना गोबर वे खाद के लिए छोड़ते हैं, उसे वैज्ञानिक रीति से गड्ढा खोदकर व्यवस्था के साथ सड़ायें। इधर खाद के लिए जो घूर खोदते हैं, उससे खाद का हिस्सा खराब हो जाता है। कभी-कभी तो खेत के पास वैसे ही ढेर लगा देते हैं। खाद का गड्ढा बहुत बड़ा नहीं खोदना चाहिए। छोटे गड्ढे खोद कर जल्दी भर जाने के बाद उसे मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए। फिर उसके चारों ओर एक मेड़ होनी चाहिए कि उसमें वर्षा का पानी घुसकर न जा सके। ये लोग मवेशी का पेशाब भी इकट्ठा करके घर में डालने की हिदायत करते हैं। ये सब तरीके ऐसे हैं कि ग्राम-समस्या पर विचार करने वाले सब लोगों को मालूम हैं।

खाद की समस्या

मैं जब देहातों में जाता था तो इन चीजों के लिए लोगों पर जोर देता था। मुझे ज्यादा दिलचस्पी उन चीजों से थी, जिन्हें कृषि-विभाग-वाले 'कम्पोस्ट' कहते हैं। इसे वनस्पति खाद भी कह सकते हैं। इस और घास पत्ते और गाँव की सारी गन्दगी, झाड़ू का कूड़ा सब इसमें काम आ जाता है। इन चीजों का ढेर लगाकर सड़ाया जाता है और बीच-बीच में उन्हें उलट-पुलट कर देना पड़ता है, ताकि सब समान रूप से सड़ जाएँ। इस काम के लिए मैं खास तौर से कोशिश करता रहा और काफी कामयाब भी रहा। इस काम में मुझे दिलचस्पी इसलिए भी रही कि इसमें 'एक पंथ दो काज' हो जाते हैं। 'आम के आम गुठली के दाम'। खाद की खाद और गाँव की सफाई भी। गाँववालों से यदि हम कहें कि गाँव की सफाई करो, तो वे नहीं करेंगे। पर हम खुद उनके गाँव जा

करते रहें, तो भी वे नहीं करेंगे। जब मैंने देखा कि हम खाद बढ़ाने के लिए 'कम्पोस्ट' की बातें करते हैं और यह बात मझ किसानों की समझ में आ जाती है, तो इस काम को गाँव की सफाई की समस्या हल करने का एक बहुत भारी साधन समझकर मैं इस पर जुट गया। साधारणतया ग्राम-सेवा के काम में सफाई का काम बहुत महत्त्व का है, लेकिन ग्राम-सेवक के प्रति मेरा नम्र निवेदन है कि गाँव में पहुँचते ही गाँव की सफाई के लिए धूम-धड़ाम न शुरू कर दें बल्कि आसपास सफाई से रहकर अध्ययन करें कि कौन-सा कार्यक्रम गाँववालों को तात्कालिक लाभ देनेवाला ऐसा है, जिसकी मार्फत सफाई हो सकती है, उसीको करने लग जायें।

पानी की समस्या

सबसे ज्यादा तकलीफ पानी की है। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जितने तालाब थे, वे सब-के-सब भट गये हैं और कुओं में से अधिकांश खतम हो चुके हैं। अब सवाल यह था कि इस समस्या का हल कैसे किया जाय। सरकार की ओर से इस मद में हमें जो पैसा मिला था, वह भी इतना अपर्याप्त था कि उससे एक कुएँभर की मदद नहीं हो सकती थी। संसार के सभी चिन्ताशील लोगों का एकमात्र कथन है कि नहर से ही पानी की समस्या हल हो सकती है। यह बात ठीक है लेकिन यह सर्वकाल और सर्वदेश के लिए सही है या नहीं इस पर विचार होना चाहिए। संयोग से जब हम लोग ग्राम-समस्याओं का अध्ययन कर रहे थे तभी हमारे जिले में नहर का महकमा खुल गया और उससे किसानों को खूब पानी मिलने लगा। नहर जिले के बहुत थोड़े ही हिस्से में जारी हुई है। लेकिन उसमें इलाके के किसानों को पानी का फायदा खूब मिला। पानी की इफरात देखकर किसान नाच रहे थे। मैं जब उन देहातों में घूमता था तो खेतों को बिल्कुल हरा पाता था। लेकिन साल भर बाद ही लोगों में असंतोष दिखाई देने लगा। एक तो लोगों को समय से पानी नहीं मिलता था। दूसरा ऐसा कि स्वाभाविक था जो लोग बड़े किसान या बड़े जमींदार थे और सरकारी कर्मचारियों से मेल जोल रखते

थे, उनके यहाँ पानी पहले जाता था। यह शिकायत तो शुरू से ही थी। इफरात पानी होने से लोग खेती में खूब पानी भर रखते थे। इससे खेत बहुत ठण्डे हो गये। पानी काफी होने से फसल देखने में काफी अच्छी मालूम होने लगी। इससे गोड़ाई के प्रति लोग उदासीन रहने लगे। जो लोग खेती के बारे में जरा भी ज्ञान रखते हैं वे जानते हैं कि ठिकाने से गोड़ाई करके पपड़ी फोड़ न दी जाय, तो जमीन के नीचे की सतह पर न हवा पहुँच सकती है और न रोशनी। इससे नीचे की सतह खराब हो जाती है। जमीन के नीचे हवा और रोशनी न पहुँचने से फसल की जड़ नीचे नहीं जाती है क्योंकि उसकी तो खिंचर जानानी पड़ेगी, ऊपर आयगी। जड़ ऊपर-ऊपर होने से एक नुकसान यह होता है कि जब ऊपर की सतह सूख जाय तो फिर से पानी से तर न करो तो पौधा जिन्दा नहीं रहता। फिर यह जरूरत से ज्यादा पानी माँगता है और जमीन अधिक ठण्डी हो जाती है। नतीजा यह होता है कि जमीन से गर्मी निकल जाने से अन्त में रबी की फसल खराब हो जाती है। सरकार पानी का दाम प्रति बीघा के हिसाब से लेती है पानी की तादाद पर लगान नहीं लेती है। इस कारण भी किसान पानी लेने में अन्धाधुन्धी करते हैं।

पानी की इफरात के कारण एक और नुकसान होता है। पानी खेत से कटकर या बाहर फूटकर इधर-उधर फैल जाने पर किसान परवाह नहीं करते। नतीजा यह होता है कि इधर उधर जितनी जगह नीची रहती है वह सब भर जाती है और सड़ती रहती है। कभी मीची जगहें नहर की वजह से हमेशा नम रहती हैं और उनमें काई जमती रहती है। क्योंकि नहर का पानी की सतह इन जमीनों से ऊँची होने के कारण पानी का रिसना नीची जमीन पर स्वाभाविक पहुँचता है। इस तरह नहर का पानी के आने के कारण और खेत और नहर के पानी के फैलने से नहर के पास के देहातों के आसपास तमाम जगह सीली रहती है और गाँव का स्वास्थ्य खराब होता है।

पानी के इफरात से हानि

नहर की वजह से देहातों का स्वास्थ्य खराब होने का एक और कारण भी है। नहर बन जाने से वर्षा के पानी के निकास के स्वाभाविक रास्ते रुक जाते हैं। यह ठीक है कि नहरवालों ने जहाँ तक सम्भव हो सका, पानी के निकास की नालियाँ बना दी हैं, फिर भी तो पहले-जैसी स्वतन्त्रता से पानी नहीं निकल पाता है। इससे भी वर्षा का पानी जहाँ-तहाँ रुककर जमीन खराब करता है और स्वास्थ्य का भी नाश होता है। जहाँ वर्षा बहुत कम होती है, आबहवा काफी खुश्क है, वहाँ यह पानी तो सहा भी जा सकता है, लेकिन वर्षाप्रधान देश में तो यह समस्या काफी गम्भीर होती है। क्योंकि वर्षा जहाँ ज्यादा होगी वहाँ पानी के निकास की स्वतन्त्रता अधिक चाहिए। वैसे रेलवे आदि से पानी का निकास रुकता ही था, लेकिन नहर हो जाने से स्थिति और भी भयंकर हो गयी।

पानी की निकासी रुकने से हानि

मैं जब नहर विभागवालों से बात करता हूँ, तो वे इन बातों को स्वीकार करते हैं। वे तो इससे भी ज्यादा नुकसान की एक बात बताते हैं। उनका कहना है कि जिस इलाके में रेह ज्यादा है, उस इलाके में नहर के पानी से घुलकर वह तमाम जमीन में फैल जाती है। जिन इलाकों में अधिक दिन से नहर चल रही है उन क्षेत्रों में इसका दुष्परिणाम दिखाई देने लगा है। फैजाबाद जिले में भी अब कुछ दिन नहर रह जायगी तो कहीं सारी जमीन चावल ही चावल के लिए न रह जाय क्योंकि चारों ओर से नमी-ही-नमी इकट्ठा होने से खेत में गर्मी रह ही न जायगी और इस कारण गेहूँ के लिए खेत खराब हो जायगा। फिर रेहवाली जमीन हो जाने से धान के अलावा और कौन फसल रह जायगी। और यह सबको मालूम है कि अवध में बहुत अधिक रेह है।

एक और खतरा

पानी की बाबत भी मैंने सैकड़ों किसानों से पूछा है। वे सब कहते हैं कि खेती के लिए नहर से कुएँ का पानी ज्यादा फायदे का है। तालाब

का पानी कुएँ के मुकाबले में उतना अच्छा नहीं होता है, लेकिन नहर से घर भी अच्छा है। मैं जब उनसे पूछता हूँ कि फिर आप लोग कुएँ से क्यों नहीं सींचते हैं, तो जवाब में वे कहते हैं, एक तो नहर उनके सिर पर आ पड़ी है, दूसरे, इतने कुएँ और तालाब अब रह भी तो नहीं गये।

कहा जाता है कि नहर सस्ती पड़ती है कुएँ से या तालाब से सिंचाई महँगी पड़ेगी। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। मैंने पहले ही कहा था कि प्रत्येक परिवार में इतने आदमी हैं और जमीन इतनी कम है कि सबके लिए पूरा काम नहीं मिलता। यह बात मैंने तब कही थी, जब लोग कुएँ या तालाब के पानी से खेती करते हैं। यानी नहर से सिंचाई होने पर और लोग खाली हो जायेंगे। ये लोग भी तो घर बैठे खायेंगे। इसलिए सस्ता और महँगा देखने के लिए सिर्फ पानी का लगान ही जोड़ देखना है, उस लगान में उनकी खुराक भी जोड़नी चाहिए, जो लोग नहर की वजह से बेकार हो जाते हैं। फिर तो नहर सस्ती भी नहीं पड़ेगी। खास कर उस जिले में जहाँ ८-१ हाथ पर पानी मिलता हो।

क्या नहर सस्ती है?

मैंने नहरी इलाके में दौरा करके किसानों से बात करके और नहर के विभाग की जानकारी रखनेवालों से चर्चा करके यही समझा है कि नहर उन स्थानों के लिए मुफीद हो सकती है जहाँ पानी की सतह काफी नीची हो, आबोहवा खूब खुश्क हो जिससे स्वास्थ्य खराब न हो सके, जमीन इतनी हो कि वहाँ की आबादी को जमीन में काफी काम हो और वहाँ वर्षा कम होती हो। लेकिन बेगूसराय जैसे जिले में जहाँ पानी इतना नजदीक है जहाँ आबादी इतनी है कि यदि पानी भर भरकर सिंचाई करें तो भी काफी काम न मिले जहाँ वर्षा इतनी अधिक है कि पानी के गुजरकर निकास की पूरी गुंजाइश लाजिमी हो और जहाँ [illegible] उम्दा रखना हो वहाँ नहर फैलाना बेकार है। इसलिए सरकार पुराने तालाब और कुओं का पुनरुद्धार करने में किसानों की यदि सहायता कर दे, कुओं की खुदाई में मदद दे दे तो ज्यादा फायदा हो सकेगा।

मैं चाहता था कि पूस-माघ के महीनों में, जब किसान खाली रहते हैं, गाँववालों की मार्फत तालाबों का पुनरुद्धार कर सकूँ, लेकिन वह हो नहीं सका। २१ जगह कोशिश की, लेकिन एक तो अभी पञ्चायतों का संगठन इतना व्यवस्थित नहीं हो सका था, दूसरे तालाब व्यक्तिगत सम्पत्ति होने से लोग उसके लिए श्रम करने को तैयार नहीं थे।

कुओं के काम में थोड़े खर्च में सफलता देखकर मैंने दूसरे साल के लिए उसी खर्च में ५ कुएँ बोरिंग करने की योजना बनायी। उस साल के प्रयोग के लिए प्रान्त से मदद मिल जाने से साल भर पहले जो रुपया मैंने बचा रखा था वह बच गया। उस साल का सारा रुपया भी बच गया और नये साल में बोरिंग के प्रयोग के लिए हमारे जिले को विशेष रकम मिली थी और कुओं की अगतवाला रुपया तो नये साल में भी मिला। इस तरह हमारे पास १५) हो गया।

जिस इलाके में पिछले साल कुओं में बोरिंग का काम किया गया था उस इलाके में लोगों से बातचीत करने पर मालूम हुआ कि वे सब इसे बड़े उत्साह के साथ करना चाहते हैं। वे तो यहाँ तक तैयार हैं कि यदि सरकारी तकावी मिल जाय तो सामान और मजदूरी अपनी ओर से दे सकते हैं। वैसी हालत में हमारे पास जो साधन था उससे ५ कुएँ ठीक हो सकते थे। इसकी योजना भी मैंने अपने कर्मचारियों को समझा दी। दिसम्बर से काम शुरू होना था लेकिन नवम्बर में ही कांग्रेस के लोगों ने ग्राम-सुधार से इस्तीफा दे दिया। फिर तो यह काम जिला मजिस्ट्रेट के हाथ में वही पुराने अधिकारी ढंग से गाँव में कुछ लोगों की कुछ मदद करनेवाली नीति से चलने लगा।

थोड़े समय में पानी-सम्बन्धी समस्या पर मैं जितना ध्यान दे सका उससे मेरी यही धारणा बनी कि यदि सरकार सचमुच किसानों की मदद

एक योजना

करना चाहती है तो उन जगहों में, जहाँ नहर बिना काम नहीं चल सकता है, वहाँ पर नहर बनाए। लेकिन मैंने जैसी स्थिति देखा उसके लिए बहुत जरूरी है ऐसी स्थितिवाले

यह सब सोचकर मैं अपने ग्राम-सुधार विभाग के थोड़े-बहुत साधनों के द्वारा तालाबों और कुओं के पुनरुद्धार के प्रयोग में लग गया।

प्रान्तीय सरकार ने जिले में १०-८ कुओं की 'बोरिंग' करने का साधन दिया था। उसका तरीका यह था कि प्रत्येक सर्किल में २ १ कुएं बनवा लिया जाय। पानी के लिए कुछ और खर्च करने की मंजूरी थी जो गाँव के कुओं की लागत घटाने की मदद देने के काम में आती थी। इतने कम साधन से किसी प्रकार के प्रयोग की गुंजाइश नहीं थी। मैं चाहता था कि एक छोटे-से क्षेत्र में १ १५ कुओं में 'बोरिंग' करने की मदद दे सकें और उस इलाके में जितने तालाब हों उन्हें खुदवाने का प्रबन्ध हो सके। उस समय कांग्रेस का मंत्रिमण्डल पदत्याग कर चुका था। इसलिए मंत्रियों से कहकर कुछ मदद लेने की भी आशा नहीं थी। वैसे

कुओं की 'बोरिंग'

तो पिछले साल से ही मैं इसका प्रयोग करने की सोच रहा था। लेकिन पिछले साल तो कृषि-सुधार योजना को सफल बनाने की धुन थी। इसलिए इस दिशा में न कोई निश्चित योजना ही बना सका और न कोई काम ही शुरू कर सका। लेकिन मैं समझता था कि यह काम काफी खर्च का है, इसलिए सालभर पहले से ही हमको जिले का जो पैसा मिलता था उसमें से बचाना शुरू किया था। इस साल भी मैंने कुएँ की लागत का और 'बोरिंग' का सब रुपया इस प्रयोग में लगा देने की बात सोची। मैं इस बारे में कुछ प्रयोग करने की बात सोच ही रहा था कि प्रान्तीय सरकार के ग्राम-सुधार-विभाग के आर्गनाइजर श्री मार्श, फैजाबाद जिले का काम देखने आये। उनसे मैंने अपने प्रयोग की चर्चा की। वे सहमत हो गये। लेकिन वर्ष का अन्तिम समय आ जाने से वे और विशेष मदद नहीं कर सके। फिर भी दूसरे जिलों से जहाँ का 'बोरिंग' का काम ठीक से नहीं हो रहा था उनका पैसा फैजाबाद के लिए दे देने का वायदा दे दिया। मैंने ९ गाँव घूमकर करीब ८ कुओं की बोरिंग की। बोरिंग हो जाने से किसान बहुत खुश हुए। वे कहने लगे कि महात्माजी से हम धन्य हैं।

सुधार विभाग का काम

५७

९-१२-'४१

ग्राम-सुधार-विभाग के द्वारा हम केवल पाँच ही बातें कर सकते थे :
१ पंचायत-घर २ कुओं आदि की मरम्मत, ३ गली-कूचे तथा गाँव में जाने का रास्ता ठीक करना, ४ शिक्षा और ५ स्काउटिंग।

पंचायत-घर के और कुओं की बाबत जो कुछ किया या सोचा वह मैं लिख चुका हूँ। गाँव के कुओं की जगत और रास्ता आदि बनाने के काम में मैं अपना समय या शक्ति नहीं लगाता था। यह काम सेक्रेटरी और इन्स्पेक्टर पर छोड़ दिया था। मैं केवल शिक्षा पर ही विचार करता रहा। स्त्री-सुधार-शिक्षा का विस्तृत विवरण तुम्हें लिख चुका हूँ। स्त्री-सुधार और शिक्षा-केन्द्र स्थापित करके मैंने अपना ध्यान पुरुषों की शिक्षा और स्काउटिंग पर लगाया।

प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग

प्रौढ़-शिक्षा का जो सरकारी कार्यक्रम था, उसके अनुसार प्रत्येक सर्किल के कुछ पढ़े-लिखे नौजवानों को ३) से ५) मासिक देकर रात्रि पाठशाला खुलवानी थी। स्त्री-शिक्षा-केन्द्र खोलने के लिए इन सबको बन्द कर दिया था। अब प्रान्तीय सरकार ने स्त्री-सुधार का काम स्वीकार कर लिया था इससे प्रौढ़-शिक्षावाला साधन खाली हो गया था। इधर ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से ग्रामीण स्काउटों का संगठन करने के लिए प्रत्येक जिले के लिए एक स्काउट ऑर्गनाइजर मिल गया। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि सरकारी काम दिखावटी होते हैं। एक स्काउट ऑर्गनाइजर जिलेभर घूमकर कुछ कवायद करा दे, इतना काफी था। मैंने सोचा प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग को मिलाकर यदि हम योजना बनाते हैं तो यह काम स्थायी रूप से चल सकेगा। गाँव के लोग इतने लापरवाह हो गये हैं कि बिना स्थायी केन्द्र बनाये उनके जीवन में कोई स्थायी परिवर्तन

इलाकों में तो यदि सरकार किसानों को निम्नलिखित मदद कर दे, तो नहर की अपेक्षा उन्हें अधिक लाभ होगा :

१ जितने कुएँ खराब हो गये हों, उन्हें ठीक करने में और जरूरत पड़े, तो उनमें 'बोरिंग' करने में किसानों की मदद करना।

२ पंचायतों को व्यवस्थित करके उनके द्वारा जितने तालाब हैं, उनका पुनरुद्धार करना। इसके लिए सरकारी मदद देना।

३ बहुत-सी छिछली नीची जमीन देहातों में पड़ी रहती है, जिसमें न खेती हो सकती है और न वह इतनी गहरी है कि पानी कुछ दिन ठहर सके। हमारे जिले में इसे ताल कहते हैं। इस किस्म की जमीन बहुत विस्तृत होती है। कभी-कभी ५ से १ बीघे तक होती है। ऐसी जमीन सरकार को मुआवजा देकर ले लेनी चाहिए। वह उनके बीच में खोदकर बड़े-बड़े तालाब बना दे और चारों ओर जो जमीन निकल आये, उसे चरागाह बना दे। सरकार चाहे तो ऐसे सार्वजनिक चरागाह में मवेशी चराने की फीस लेने का अधिकार रखे और उसके द्वारा चरागाह और तालाब का प्रबन्ध करे। इसमें पानी का और मवेशी चराने का दोनों काम हो सकता है। अभी ये जमीनें बेकार पड़ी रहती हैं। • • •

सुधार विभाग का काम

५७

१-१२-'४१

ग्राम-सुधार-विभाग के द्वारा हम केवल पाँच ही बातें कर सकते थे :
१ पंचायत-घर २ कुओं आदि की मरम्मत ३ गली-कूचे तथा गाँव में आने का रास्ता ठीक करना ४ शिक्षा और ५ स्काउटिंग।

पंचायत-घर के और कुओं की बाबत जो कुछ किया या सोचा, वह मैं लिख चुका हूँ। गाँव के कुओं की बाबत और रास्ता आदि बनाने के काम में मैं अपना समय या शक्ति नहीं लगाता था। वह काम सेक्रेटरी और इन्स्पेक्टर पर छोड़ दिया था। मैं केवल शिक्षा पर ही विचार करता रहा। स्त्री-सुधार-शिक्षा का विस्तृत विवरण तुम्हें लिख चुका हूँ। स्त्री-सुधार और शिक्षा-केन्द्र स्थापित करके मैंने अपना ध्यान पुरुषों की शिक्षा और स्काउटिंग पर लगाया।

प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग

प्रौढ़-शिक्षा का जो सरकारी कार्यक्रम था, उसके अनुसार प्रत्येक सर्किल के कुछ पढ़े-लिखे नौजवानों को ३) से ५) मासिक देकर रात्रि पाठशाला खुलवानी थी। स्त्री-शिक्षा-केन्द्र खोलने के लिए इन सबको बन्द कर दिया था। अब प्रान्तीय सरकार ने स्त्री-सुधार का काम स्वीकार कर लिया था, इससे प्रौढ़-शिक्षावाला साधन खाली हो गया था। इधर ग्राम-सुधार-विभाग की ओर से ग्रामीण स्काउटों का संगठन करने के लिए प्रत्येक जिले के लिए एक स्काउट ऑर्गनाइज़र मिल गया। यह तो तुम्हें मालूम ही है कि सरकारी काम दिखावटी होते हैं। एक स्काउट ऑर्गनाइज़र जिलेभर घूमकर कुछ कवायद करा दे, इतना काफी था। मैंने सोचा प्रौढ़-शिक्षा और स्काउटिंग को मिलाकर यदि हम योजना बनाते हैं तो यह काम स्थायी कर ले जा सकेंगे। गाँव के लोग इतने लापरवाह हो गये हैं कि बिना स्थायी केन्द्र बनाये उनके जीवन में कोई स्थायी परिवर्तन

भर के लिए शिक्षा-शिविरों का प्रबन्ध हुआ तो मैंने इसका लाभ उठाकर दुबारा केंद्रीय शिविर खोल करके सर्किल शिक्षकों को फिर से बुला लिया। इससे उनकी शिक्षा और अच्छी हो गयी।

इस बार शिविर में एक और बात का प्रयोग करने की कोशिश की। मुझे मौजूदा स्काउटिंग का तरीका पसन्द नहीं था। यह छाप-का-छाप दिखावटीपन से भरा था। इससे गाँव के किसानों की सुस्ती तो कुछ जरूर हटती है, लेकिन उनके जीवन में बहुत लाभ नहीं होता था। इस लिए कवायद में खेती की जितनी क्रियाएँ होती हैं उनकी शिक्षा कवायद क्रम में देने की विधि निकालना शुरू किया। इस तरह फावड़ाड्रिल, खुरपाड्रिल, परतान्ड्रिल आदि की शिक्षा देकर ग्रामीण स्काउटिंग को किसान-साधक बनाने का प्रयोग करता रहा।

मेरा विचार था कि इसी योजना की मार्फत गाँव के किसानों के जीवन को संगठित करने की कोशिश करूँगा। लेकिन इसी समय हम लोग ग्राम-सुधार-विभाग से अलग हो गये। ● ● ●

ग्राम-सेवा की वृत्ति और सेवक की जिन्दगी . ५८

१०-१२-'४१

कल के पत्र में मेरी ग्राम-सेवा की कहानी समाप्त हुई। तुमने देखा होगा कि शुरू से ही गाँव के काम में मेरी रुचि थी। रखीवाँ में किस प्रकार योजना का सूत्रपात हुआ, उसकी कुछ कल्पना १९२९ में हुई। फिर रानना में प्रयोग करने का कुछ प्रयास हुआ। बाद में सन् १९३५ से १९४१ यानी ६ साल तक लगातार इस दिशा में प्रयोग चलते रहे। सरकारी साधन की भी सहायता मिली, तब जाकर योजना का आकार रूप दिखाई देने लगा। इससे समझ सकती हो, गाँव में कुछ करने के लिए कितने धैर्य की जरूरत है। प्रायः ग्राम-सेवक इसीसे घबराकर भागते हैं। सरकारी ग्राम-सुधार भी दो साल तक करने को मिला। पहले तो मैं कुछ उदासीन था, इसलिए कि उसमें हो ही क्या सकेगा, फिर उधर ध्यान दिया। स्त्री-शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा और मार्केटिंग की मार्फत सुधार करने की कल्पना का प्रयोग और आयोजन कर रहा था। खेती की और कर्ज की समस्या पर भी अध्ययन किया। २१ साल तो अध्ययन, विचार, प्रयोग और आयोजन में ही लगता है, फिर कुछ ठोस काम का रूप मालूम होता है, लेकिन मेरा उद्योग पूरा नहीं होने पाया कि यवनिका-पतन हो गया और सरकारी महकमे का दृष्टिकोण ही बदल गया। इसलिए मेहनत तो बहुत की, पर कोई स्थायी काम न हो सका। हाँ, महकमे के काम से मुझे निजी फायदा बहुत हुआ। ग्रामीण समस्या का अध्ययन और अनुभव जितना इन दो सालों में हो सका, उतना और किसी तरह न होता।

इधर आठ माह से जेल में बैठा हूँ, इससे भी फायदा हुआ। एकान्त में बैठकर विचार करने का मौका मिला। पिछले बीस साल की कहानी तुम्हें लिखने के बहाने पिछली बातें स्मरण करनी पड़ीं। पिछली भूलों पर

दया और करुणा की वृत्ति को पूरा करने के साधन लाते कहाँ से हैं? शिक्षित मध्य श्रेणी के पास जो साधन हैं, उनका स्रोत है—डॉक्टरी की आमदनी वकालत, सरकारी नौकरी या व्यापार। यह आमदनी अन्ततः आती तो है गाँव के गरीब लोगों से ही। राष्ट्रीय कार्यकर्ता के पास जनता के चन्दे का ही तो पैसा है। सरकारी कर्मचारी के पास जनता का ही तो धन है। फिर किसका धन किसे करुणापूर्वक देना है? हजारों रुपया छीनने के बाद किसीको दस-पाँच रुपये मदद देने की उदारता का क्या अर्थ है? हमारे ग्राम-सेवकों को ऐसे दम्भ से अपने को बचाना है।

ग्राम-सेवक को समझना चाहिए कि गाँव के लोग दीन हो सकते हैं, हीन नहीं। यह सही है कि वे इतने बेबस हो गये हैं कि अपने इस अपमान को महसूस नहीं करते। वे दान पाकर आशीर्वाद देते हैं। कुछ दिन पहले सड़क, रेलगाड़ी और अस्पताल पाकर अंग्रेजी सरकार को वे 'माई-बाप' कहने लग ये। लेकिन वे आशीर्वाद और यह 'माई-बाप' कहना तभी तक है जब तक वे इस अपमान को महसूस नहीं करते। असल बात तो यह है कि दया-वृत्ति से उन दोनों का ही नैतिक पतन होता है, जो दया करते हैं और जो दया स्वीकार करते हैं। देनेवालों में बड़प्पन का दंभ आता है और लेनेवालों में बेबसी की हीनता। हमारे ग्रामीण सेवकों में अधिकतर ऐसी ही वृत्ति रहती है, क्योंकि प्रायः ये लोग, सेवा के लिए जीवन अर्पित कर देने पर भी अपने बड़प्पन के संस्कारों को छोड़ नहीं पाते।

ग्राम-सुधार की समस्याओं पर विचार करनेवाले कुछ बुद्धिजीवी लोग होते हैं। वे समझते हैं कि गाँववालों के पास बुद्धि कम है। वे मूर्ख हैं

उपदेशक-वृत्ति वाली सेवा

और अपनी नासमझी के कारण तरह-तरह के कष्ट भोगते हैं। उन्हें अच्छे रहन-सहन का ज्ञान कराना चाहिए। उन्हें बताना चाहिए कि संतुलित भोजन किसे कहते हैं, रोग कैसे फैलते हैं, रोगों से कैसे बचना चाहिए, बच्चों को कैसे रखना चाहिए, प्रसूता को कैसे रहना चाहिए, आदि। गाँववालों को

सेवक को दारिद्र्य का व्रत भी लेना होगा। अपना निजी खर्च हो या सार्वजनिक खर्च, उसे अत्यधिक मितव्ययी होना चाहिए। हमारे कितने ही राष्ट्रीय सेवक ठाट-बाट और सजावट पसन्द करते हैं। उन्हें हमेशा यह डर लगा रहता है कि अगर वे ठाट-बाट से न रहेंगे, तो सजावट-पसंद समाज उन्हें पीछे धकेल देगा। सार्वजनिक धन भी वे उदारता से खर्च करते हैं। इसका कारण कुछ तो उच्च श्रेणी का रहा का संस्कार है और कुछ लोकप्रियता का मोह है। उनके सभी व्यवहारों से ऐसा मालूम होता है कि वे किसी रईस के कर्मचारी हैं, गरीब जनता के सेवक नहीं। सेवा-वृत्तिवाले ग्राम-सेवकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हम कंगाल बैंक के मैनेजर हैं। हमारे मालिक भूखे-नंगे लोग हैं। उनके सेवक होते हुए उनकी अपेक्षा हम अधिक शान से कैसे रहें? सभी जानते हैं कि जो नौकर मालिक की अपेक्षा ऊँची हैसियत से रहता है, वह एक दिन अवश्य ही मालिक का दिवाला निकाल देता है। इसलिए यदि कोई सेवक पैतृक संस्कार के कारण अथवा शारीरिक असमर्थता के कारण इस मामले में समझौता करता है तो उसे उसकी कमजोरी और मजबूरी समझना चाहिए। जहाँ तक हो कमजोरी से कम-से-कम समझौता होना चाहिए।

कंगाल मालिक के सेवक

गाँववालों को उजड्ड और गन्दा कहकर ग्राम-सेवक को नाक नहीं सिकोड़नी चाहिए। उसे श्रद्धापूर्वक गाँववालों की सेवा करनी चाहिए। जिनके प्रति श्रद्धा न होगी, उनकी हम सेवा कैसे करेंगे?

ऐसी सेवा वृत्ति लेकर ऐसी चारित्रिक तैयारी के साथ ग्राम-सेवक को गाँव में जाना चाहिए। उसके लिए कोई मनी-कमायी सीखना नहीं है। सीखना तो गाँव में जाने पर ही बनेगी। बिहार के भूकम्प में व्यापक विध्वंस देखकर लोग किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे थे। तभी पंडित जवाहरलाल नेहरू गिरे मकान पर फावड़ा लेकर खोदने लगे। 'सोचना क्या, देखो!' की आवाज प्रतिध्वनित हुई। लाखों हजारों फावड़े चलने लगे। क्या करना

है, पहले से कैसे सोचते ? किसे मालूम, किस स्तूप के नीचे कौन सम्पत्ति, कौन प्राणी दबा पड़ा है ! पुनर्गठन तो मलबा हटने पर ही हो सकता है।

कुसंस्कारों का मलबा

शताब्दियों की अवहेलना से, लूट और शोषण के प्रहार से हमारे ग्रामीण समाज की प्राचीन विधि-व्यवस्थाओं और धार्मिक नैतिक और व्यावहारिक संस्कारों की इमारत चकनाचूर हो चुकी है। उस ध्वंसावशेष के नीचे पता नहीं, कहाँ कौन सी सम्पत्ति और कौन-सी मानवता दबी पड़ी है। आज यदि हमें ग्रामीण समाज का उद्धार करना है, समाज की पुनर्स्थापना करनी है, तो सेवकों को आगे बढ़कर जवाहरलाल की पुकार— खोदना क्या लाजो ! के अनुसार खोदना शुरू करना होगा। कुसंस्कारों का मलबा हट जाने पर भीतर से प्राचीन व्यवस्था और संस्कृति की सम्पत्ति निकल आयगी। तभी ग्राम-समाज का पुनर्गठन हो सकेगा।

मिट्टी की आग से दीप जलाओ।

ग्रामीण जीवन की प्राचीन अग्नि, प्राचीन चरित्र की ज्योति शताब्दियों से राख और धूल के नीचे दबी पड़ी है। उसके कारण चारों और अन्धकार-ही अन्धकार फैला है। ग्राम-सेवक को निराश न होकर अन्धकार में प्रकाश डालना है। यह प्रकाश बाहर से 'टार्च' या बिजली की बत्ती से लाकर नहीं डालना होगा। उसे बड़प्पन और शिक्षा के दम्भ को दूर रखकर, नम्रता से झुककर सावधानी से फूत्कार द्वारा राख उड़ाकर नीचे की आग खोजनी है। राख उड़ने से सेवक का सारा शरीर गन्दा हो जायगा। आँखें भर उठेंगी पर उससे घबराना नहीं है। उसी राख के नीचे से जो अग्नि प्रकट होगी उसके सहारे उसी भूमि की मिट्टी का दीप बनाकर समाज के कोने-कोने में सुव्यवस्थित और कलापूर्ण दीपावली करनी है।

ग्राम-सेवा के प्रयोग में जो कुछ देखा मन में जो धारणा बनी वह तुम्हें सुना दी। मेरा यह आखिरी पत्र है। मीरा को बहुत-बहुत प्यार !

तुम्हारा
धीरेन्द्र

समग्र
ग्राम-सेवा की ओर

•

दूसरा खण्ड

•

विवेचन निष्कर्ष योजनाएं

चीन का ग्रामोद्योग-आन्दोलन ५६

नैनी सेंट्रल जेल

२६ १ '४३

प्रिय माया बहन

न जाने कितने दिन बाद आज तुम्हें फिर पत्र लिखने बैठा हूँ। मार्च सन् १९४२ के शुरू में पटना में आखिरी मुलाकात हुई थी। उसके बाद हालाँकि यह साल ही बीता है पर ऐसा लगता है कि एक युग बीत गया। इस बीच में मालूम क्या क्या बवंडर मुल्क में उठे। चम्पारन से पटना तक रास्ते में न जाने कितनी योजनाएँ हम लोगों ने बनायी थीं। उसके बाद डेढ़ साल तक न तो तुमसे मुलाकात ही हो सकी और न कोई पत्र-व्यवहार ही हुआ। मैं चाहता था कि मैंने आगरा सेंट्रल जेल में बैठकर जो योजनाएँ बनायी थीं, उनका प्रयोग जल्दी से हो सके। साल भर जेल में रहने से काम में जो कमी आ गयी थी, उसे पूरा करना था। ग्रामोद्योग-संघ की १८ अगस्त की बैठक में शामिल होने के लिए मैं वर्धा जाने ही वाला था और सोचा था कि उस समय तुमसे बातें होंगी किन्तु 'तेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और'। बीच में ही ९ अगस्त के सरकारी दमन ने देशभर में सनसनी मचा दी। फिर कौन किससे मिलता! उस समय पता नहीं चल रहा था कि कौन कहाँ है! ९ अगस्त को रणीवाँ आश्रम पर पुलिस ने छापा मारा। सारा आश्रम जब्त करके कागज तथा २ अन्य साथी नजरबन्द कर लिये गये। मैं उस समय मेरठ में था इसलिए उस दिन गिरफ्तार नहीं हुआ। १७ अक्तूबर को मैं इलाहाबाद से दिल्ली जा रहा था कि स्टेशन पर ही गिरफ्तार कर लिया गया। तब से नैनी सेंट्रल जेल में हूँ।

"तेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और।"

यहाँ का जीवन अच्छा ही है। अधिक समय पढ़ने में ही बीतता है। लेकिन मनचाहे विषय पर किताबें नहीं मिलतीं। अब तक जितनी किताबें पढ़ी हैं, उनमें एक किताब अवश्य मेरे काम की थी। वह चीन के औद्योगिक सहयोग के सम्बन्ध में थी। उसे पढ़ते समय मुझे ऐसा लगा, जैसे कोई हमारी ही परिस्थिति में यह सब काम कर रहा है।

चीन की पंचायत समितियाँ और हम

हमारे सामने जो समस्या है, वही चीनवालों के सामने भी है। पूँजी का अभाव, भावादी की अधिकता और उस पर लड़ाई की परिस्थितियों से उत्पन्न कठिनाइयाँ।

वास्तव में चीन के लोग कमाल कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में यूरोप का कोई भी मुल्क हताश हो जाता। छोटे-छोटे गृह उद्योगों से आवश्यक सामान उपलब्ध हो सकेगा ऐसा विचार-मात्र ही उन्हें असम्भव मालूम पड़ता। चीन के लिए बड़े पैमाने में गृह उद्योग चलाना कोई नयी बात नहीं थी। वहाँ दस्तकारी का काम प्राचीन काल से चल ही रहा था। कारीगर भी मौजूद थे। केवल संगठन की आवश्यकता थी। लड़ाई के जोश में वह संगठन भी सम्भव हो गया। फिर भी इतने कम समय में और इतने बड़े पैमाने पर संगठन कर लेना आसान काम नहीं था। क्योंकि यहाँ एक तरफ उनके यहाँ प्राचीन काल से दस्तकारी का संस्कार था विविध दस्तकारियों के कारीगर मौजूद रहे और लड़ाई के कारण माल की आवश्यकता बढ़ी, वहाँ जनता में आत्म-संगठन का कोई परम्परागत भाव नहीं था। सैकड़ों वर्षों से होते आनेवाले गृह-विवाद के कारण समाज में किसी प्रकार का संगठन नहीं रह गया था। देहाती जनता स्वार्थी तथा ईर्ष्यालु हो गयी थी। ऐसी जनता में जितना भी संगठन हुआ वह आश्चर्य की ही बात है।

जब मैं चीन की योजनाओं और संगठन के सम्बन्ध में पढ़ रहा था तो सोचता था कि अपने यहाँ भी लोग उसी प्रकार का संगठन क्यों नहीं करते? जो परिस्थिति चीन की है वही तो हमारी भी है। हाँ इतना

अन्तर अवश्य है कि वहाँ अपनी सरकार है; यहाँ विदेशी। लेकिन वहाँ भी जो सहयोग समितियाँ संगठित हुई हैं, वे सरकार की ओर से नहीं हुई हैं गैर-सरकारी लोगों ने ही उन्हें स्थापित किया। सरकारी मदद बाद में मिली। फिर अपने यहाँ ऐसा काम क्यों नहीं हो पाता है। लोग कहेंगे कि हमारे यहाँ गुलामी है, इसलिए हम कुछ नहीं कर पाते हैं। यह सही है कि हमारे सभी कष्टों की जड़ गुलामी है लेकिन केवल यह कह देने से ही तो हमारी जिम्मेदारी खत्म नहीं हो जाती।

गहराई से विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि हमारी असमर्थता का प्रधान कारण कार्यकर्ताओं की कमी है। हमारे पढ़े-लिखे नौजवान देहात में जाकर बसना नहीं चाहते। हम अपने यहाँ जब कोई स्थायी काम करना चाहते हैं, तो योग्य कार्यकर्ताओं के अभाव से उसे नहीं कर पाते। चीन के औद्योगिक सहयोग के इतिहास से पता लगता है कि वहाँ

कार्यकर्ताओं का अभाव

विज्ञान के सैकड़ों विशेषज्ञों ने अपनी सुख-सुविधा त्यागकर गरीबी का जीवन अपना लिया है। उन्होंने औद्योगिक सहयोग समितियों के संचालन के लिए अपना अमूल्य जीवन उत्सर्ग कर रखा है। हमारे यहाँ ऐसा दारिद्र्य-व्रत ग्रहण कर जीवन को स्थायी कार्यक्रम में उत्सर्ग कर देने की रुचि लोगों में नहीं है। कदाचित् हमा युवक चीनी युवकों की तरह राष्ट्र-यान के लिए व्याकुल नहीं हैं। तुम कहोगी कि गत बीस सालों में हमारे यहाँ अत्यधिक राष्ट्रीय चेतना पैदा हुई है। इन बीस साल के अर्से में बापू के नेतृत्व में नौजवानों ने तीन बार भारतमाता के चरणों पर अपने जीवन उत्सर्ग किये। अभी इस आन्दोलन में ६ अगस्त को भारत के नेताओं की गिरफ्तारी के साथ ही देश के युवक विद्रोही हो गये। सैकड़ों और हजारों की संख्या में बहादुर नौजवानों ने खड़े होकर सीने पर गोलियाँ खायीं। हजारों नौजवानों ने लम्बे अर्से तक जेल में सड़ना स्वीकार किया। आत्म-बलिदान का ऐसा उदाहरण भारत की गुलामी के इतिहास में अभूतपूर्व था। यह सब सही है। आन्दोलन काल में दो-चार माह बाहर

जिन्दा शहीद चाहिए

जाकर मैंने इन बातों को अपनी आँखों देखा है। फिर भी भारतवर्ष के इस विस्तृत क्षेत्र में ग्राम-उद्योग और ग्राम-उत्थान-सम्बन्धी काम के लिए कार्यकर्ताओं की समस्या ज्यों-की-त्यों है। क्योंकि जोश में नौजवान आग में कूद पड़ते हैं, बंदूकों के सामने सीना तान देते हैं। लाखों जेलों में हँसते-हँसते सड़ते हैं। लेकिन किसी स्थायी काम में आजीवन जम रहने को वे तैयार नहीं होते। गोली के सामने आत्म-बलिदान करके वे शहीद हो जाते हैं, लेकिन बापू की भाषा में वे 'जिन्दा शहीद' नहीं बन पाते। यदि कुछ नौजवानों के दिल में 'जिन्दा शहीद' बनने की उमंग उठती भी है, तो वे अपने शहरी संस्कार तथा रहन-सहन के ढंग को छोड़ नहीं पाते। इसके अलावा हमारे पढ़े-लिखे नौजवानों में अपनी तथाकथित आधुनिक सभ्यता और संस्कृति में कमी आ जाने का भय कूट-कूटकर भरा हुआ है। वे जल्दी ही देहाती जीवन से ऊब जाते हैं। अतः चीन की इन उद्योग-समितियों के विवरण पढ़ते समय मुझे कुछ तकलीफ भी महसूस होती थी। पढ़ते समय मैं यह सोचता रहता था कि हाय! हम ऐसा क्यों नहीं कर पाते!

चीन की उद्योग-सहयोग-समितियों के विस्तार तथा सफलता को देख कर हमें आश्चर्य होता है। वहाँ के नौजवानों का त्याग देखकर यद्यपि हमें थोड़ी ईर्ष्या भी होती है; लेकिन जब हम उनकी कार्यशैली तथा कार्यक्रम के बुनियादी सिद्धान्तों को देखते हैं, तो उनके सारे कार्यक्रम के लिए कुछ डर भी लगता है।

जब से चीन में राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव हुआ तभी से वहाँ उद्योगों का विकास होने लगा। लेकिन उस विकास का स्वरूप यूरप और अमेरिका के अनुसार ही रहा है। ऐसा स्वाभाविक भी था। चीन के पतन में ही यूरप ने पूँजी की मदद करके इतनी उन्नति कर ली थी कि उसके लिए दूसरी राह सोचना आसान न था। चीन को अमेरिका से काफी मदद मिलने के कारण उस पर अमेरिकन असर पड़ना भी स्वाभाविक ही था।

चीन की राष्ट्र-चेतना ने उसे जब सर्वतोमुखी विकास की ओर बढ़ाना आरम्भ किया तो आर्थिक स्वावलंबन की ओर सबसे पहले ध्यान जाना स्वाभाविक था। फलतः चीन में थोड़े ही दिनों में बहुत से कल-कारखाने बन गये। इसी बीच चीन पर जापान का हमला हुआ। युद्ध के कारण चीन को तेज़ी से स्वावलम्बन की ओर बढ़ना पड़ा और चार-पाँच साल में इस दिशा में कितनी अलौकिक उन्नति हुई उसका तुम्हें पता है ही। लड़ाई के कारण किस तरह उनके कारखाने जापानी बमों का निशाना बनते रहे और किस तरह ध्वंस के कारण उन कारखानों को अनेक कठिनाइयों के बावजूद असाधारण तेज़ी से सुदूर पश्चिमी प्रांतों में हटना पड़ा इसकी कहानी किसे मालूम नहीं? ऐसे आपत्तिकाल में चीन को अपने पुराने ग्रामोद्योग की बात याद आयी। उसने देखा कि इस समय गाँव-गाँव में सहयोग-समितियों द्वारा गृह-उद्योगों का संगठन किया जाय तो प्रकार जनता को काम में लगाया जा सकता है और हवाई हमलों से बचाकर, छोटी-छोटी झोपड़ियों में फैलकर इतने विस्तृत रूप में उत्पत्ति का काम हो सकता है कि जनता के पोषण के साथ ही ज़रूरत पड़ने पर इन छोटे कारखानों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर आसानी से हटाया भी जा सकता है। हमारे देश में जो लोग चरखे और ग्रामोद्योग की खिल्ली उड़ाते हैं, वे चीन की ओर नज़र डालें।

चीन के ग्रामोद्योगों का विकास

यह ठीक है कि भारत के लिए वर्तमान चीन एक महान् शिक्षा-भूमि बन गया है। फिर भी मुझे यहाँ के इस कार्यक्रम के सम्बन्ध में कुछ आशंका है। कारण चीन की इस सारी चेष्टाओं के पीछे जो प्रेरणा है, वह है युद्ध की विवशता साधनहीनता के साथ परम अभाव की व्याकुलता और उस व्याकुलता से उद्भूत ग्राम-उद्योग की व्यवस्था। उस प्रेरणा के पीछे ग्राम-उद्योग की बुनियाद पर भावी समाज-व्यवस्था की कोई निश्चित विचारधारा नहीं मालूम पड़ती। अतः मुझे इन ग्रामोद्योग-संगठनों के

चीन में निश्चित विचारधारा का अभाव

स्थायित्व में काफी शक हो रहा है। मुझे ऐसा लगता है कि जिस तरह आततायी लोगों के हवाई हमलों से बड़े-बड़े केंद्रित कारखाने ध्वस्त हो जाते हैं उसी तरह जब यह लड़ाई का ज़माना समाप्त हो जायगा और फिर पश्चिमी केन्द्रीय उद्योगवाद का हमला चीन की जनता की बुद्धि और मन पर होगा तो यह मजबूरी से संभूत ग्राम-व्यवस्था उसके सामने टिक न सकेगी। जब आज का सारा संगठन विशेषतया इंग्लैंड और अमेरिका की मदद से चल रहा है, तो शान्ति के बाद के संगठन में भी चीन पर उनका असर पड़ना अवश्यम्भावी है।

केन्द्रित उद्योग के आधार पर आर्थिक योजना की सफलता के लिए चीन को शुरू में ही अधिक धन की आवश्यकता होगी। यह धन आज चीन के पास मौजूद नहीं है, अतः स्वभावतः चीन मित्रता के नाते अमेरिका और इंग्लैंड से कर्ज लेने के लिए विवश हो जायगा। चीन ने जहाँ एक बार पश्चिमी मित्रों के कर्ज की पूँजी से मशीनों द्वारा आर्थिक संगठन आरम्भ किया, वहीं उसको उस कर्ज के दलदल में इतना फँस जाना पड़ेगा कि फिर उससे अपने को मुक्त करना आसान न रह जायगा। इसलिए जहाँ चीन के जोश, उसके सैकड़ों नौजवानों के व्यक्तिगत त्याग, उसकी कार्य-पद्धति और उद्यमशीलता आदि देखकर हम भारतवासियों को लाभ उठाना चाहिए, वहाँ उसके खतरों पर भी हमें गौर करना चाहिए।

तुम कहोगी कि भारत भी तो वही ग्राम-उद्योग चलाने की चेष्टा कर रहा है जहाँ भी तो लड़ाई के बाद वही परिस्थिति आ सकती है, जो चीन में आयगी? फिर भारत में और चीन में फर्क क्या है। फर्क यह है कि भारत में ग्रामोद्योग का जो क्रम चला उसकी बुनियादी प्रेरणा लड़ाई की मजबूरी नहीं थी। उसका सूत्रपात लड़ाई के बहुत पहले बापू ने इस देश में किया। उनके चरखे और ग्रामोद्योगों के पीछे एक विशिष्ट विचार-धारा है। उसके पीछे ग्राम-स्वावलम्बन के आधार पर भावी समाज-व्यवस्था की निश्चित योजना है।

बापू की विचार धारा

समस्त प्रश्नों के निबटारे के लिए सिर फोड़ने में नहीं, बल्कि सिर गिनने और पारस्परिक हित-सामञ्जस्य में मानवता की प्रगति समझी क्योंकि सभ्यता के इतिहास में हिंसा और पशुबल के स्थान पर मनुष्य के नैतिक और नैसर्गिक अधिकारों की स्थापना को न्याय्य माना गया है।

शासन-सत्ता का विकेन्द्रीकरण

मानव-इतिहास के आदिकाल में जब मनुष्य जीवन में कोई संगठन या व्यवस्था नहीं थी और संसार में मत्स्य-न्याय का ही बोलबाला था, तब स्वभावतः हिंसा तथा बर्बरता के कारण मनुष्य-जीवन की अनिश्चितता से परेशान होकर सरदार प्रथा तथा राज्य सत्ता की स्थापना की गयी होगी। यह व्यवस्था भी शान्तिमय समाज-व्यवस्था के प्रयासरूप में ही रही होगी। इससे मनुष्य को कुछ शान्ति भी मिली होगी। फिर समाज ने व्यवस्था के नाम पर शासन किसी केन्द्रीय तन्त्र या व्यक्ति के हाथ में सौंप दिया होगा। इस प्रकार संसार में केन्द्रवाद की सृष्टि हुई। मनुष्य स्वभावतः ही शान्तिप्रिय जीव है। केन्द्र-व्यवस्था की शृङ्खला को देखकर वह निश्चिन्त हुआ। शासक-वर्ग इस निश्चिन्तता का फायदा उठाने लगा और क्रमशः वह केन्द्रवाद शासन-क्षेत्र की पुंजीभूत शक्ति के द्वारा आगे बढ़कर आर्थिक क्षेत्र में भी फैल गया और आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद की सृष्टि हुई। फिर तो केन्द्रवाद ने पूँजीवाद के रूप में मनुष्य की सारी आवश्यकताओं के लिए मानव समाज को केन्द्रीय वर्ग का मुहताज कर दिया। नतीजा यह हुआ कि मनुष्य स्वतन्त्र नहीं रह गया। फलतः मनुष्य ने हिंसा, अशान्ति और अनिश्चितता से बचने के लिए जिस केन्द्र-व्यवस्था की रचना की थी, वही व्यवस्था वर्ग शासन और पूँजीवाद के रूप में मनुष्य को फिर से हिंसा और शोषण का शिकार बनाने का साधन हो गयी। मानव-समाज ने इस बात को देखा और तब उसने लोकतन्त्र के आविष्कार से शासन सत्ता को विकेन्द्रित करके स्वतन्त्र व्यवस्था की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा की। शासन-सत्ता के विकेन्द्रित होने के साथ ही आर्थिक क्षेत्र में

स्वावलम्बन तथा स्वतन्त्रता का कायम होना सहज तथा स्वाभाविक ही था लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो सका।

जिस समय जनतन्त्र के रूप में अहिंसात्मक वृत्ति का क्रमिक-विकास हो रहा था, उसी समय भौतिक विज्ञान की कृपा से वाष्प-यन्त्र का आविष्कार हुआ। इस आविष्कार ने उत्पत्ति के तरीके और साधनों में अकल्पित परिवर्तन कर दिया। यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हुई और पूँजीवाद ने अपनी नींव मजबूत कर ली। अब तक केन्द्रवाद ने जिस पूँजीवाद की सृष्टि की थी उसकी सत्ता केवल व्यवस्था पर ही सीमित थी उत्पादन के साधन फिर भी बहुत-कुछ उत्पादक के हाथ में थे। अगर वही उत्पत्ति का तरीका उसी तरह बना रहता तो जनतन्त्र के वायुमण्डल के विकास के साथ साथ उत्पादक-वर्ग अपने-अपने साधन और कला के द्वारा स्वावलम्बन के आधार पर स्वतन्त्र हो जाता। लेकिन वाष्प-यन्त्र के आविष्कार के साथ-साथ पूँजीवाद को उत्पत्ति के साधनों को इस प्रकार केन्द्रीभूत करने का मौका मिला कि क्रमशः उसने उत्पादकों को उत्पादन साधन के और कला के स्वामित्व से वंचित कर दिया और जिस प्रकार शासन-सत्ता द्वारा जनता का निःशस्त्रीकरण हो जाने से जन समूह को सत्ता के चंगुल में बुरी तरह फँस जाना पड़ता है, उसी तरह साधन और कला के अधिकार से वंचित होकर जनता के लिए केन्द्रित सत्ता से छुटकारा पाना कठिन हो गया। फिर तो सारी व्यवस्था जोरों से उस केन्द्रीकरण की ओर बढ़ने लगी और जनतन्त्र की कल्पना कल्पनामात्र ही रह गयी। उत्पादन के केन्द्रीकरण ने यह आवश्यक कर दिया कि समाज की सारी शक्ति केन्द्रित की जाय क्योंकि जब समस्त जन-समूह अपने जीवन-धारण की आवश्यकताओं के लिए किसी केन्द्रित व्यवस्था के गुलाम होते हैं तो स्वभावतः समाज उसी केन्द्र का पूर्णरूप से आश्रित हो जाता है। परिणाम यह हुआ कि लोकतन्त्र के रूप में जिस मानव स्वतंत्रता ने जन्म ग्रहण किया था उसकी प्रगति कुंठित हो गयी। वर्ग

उत्पादन के साधनों पर पूँजीवाद का प्रभुत्व

की प्रमुखता, वर्ग-शासन और वर्ग-हित मुख्य हो गया, जिसकी स्थापना और रक्षा के लिए पशु-बल आवश्यक हो गया। सारी शक्ति, सारे वैभव और उनकी प्राप्ति के साधनों का एक वर्ग के हाथ में केन्द्रित होना, सार्वजनिक और सामूहिक स्वतंत्रता और अधिकार के निर्दलन में ही संभव था।

वस्तुतः मनुष्य-समाज की सभ्यता के विकास का इतिहास बहुत कुछ उत्पादन की पद्धतियों का इतिहास है। उन पद्धतियों में होनेवाले परिवर्तनों के साथ-साथ समाज के संघटन में परिवर्तन होता रहा। यही कारण है कि जैसे-जैसे समाज की उत्पादन की प्रणाली में केन्द्रीकरण होता गया, वैसे-वैसे शासन की व्यवस्था में भी केन्द्रीकरण होता गया और क्रमशः सारे समाज-तंत्र के केन्द्रित हो जाने से आज संसारभर में तानाशाही का बोलबाला हो गया है। बापू ने मानव-समाज की इस गति को देखा। उन्होंने देखा कि शासन-तन्त्र जितना ही केन्द्रित हो रहा है, उतना ही समाज का जीवन भी केन्द्रीभूत होता जा रहा है और मनुष्य की स्वतन्त्रता का यह लोप तथा उसके निर्दलन एवं शोषण की यह मात्रा-वृद्धि उसी केन्द्रीकरण का प्रतिफल है। इस दशा से मनुष्य का उद्धार करने के लिए बापू ने यही उपाय सोचा कि जिस मूल से यह अनर्थ का सिलसिला जारी हुआ है और इसमें वृद्धि होती गयी है, उसीका सर्वथा निराकरण कर दिया जाय। जब तक की उत्पादन-प्रणाली से उद्भूत केन्द्रीकरण विपरित किये बिना शासन-तन्त्र की केन्द्रीभूत शक्ति न हटेगी और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक न हिंसा का लोप होगा न मनुष्य शासन तथा पराधीनता से मुक्त होगा। अतः यह आवश्यक है कि उत्पादन की पद्धति का विकेन्द्रीकरण किया जाय और उसके आधार पर ऐसे स्वावलंबी समाज की रचना की जाय जिससे उत्पादन के साधन उत्पादक के हाथ में रहें और उत्पन्न पदार्थ उत्पादक की संपत्ति हों। न प्रणाली केन्द्रित हो और न सारी संपत्ति थोड़े से लोगों के हाथ में पड़कर पूँजीवादी शोषण जारी रहे। मनुष्य अपने जीवन की आवश्यक वस्तुओं के लिए स्व-

संघर्ष किसी वर्ग में न होकर स्वतंत्र रहे। ऐसे विकेन्द्रित आर्थिक समाज में वर्गों के हित परिवर्तित हो जायेंगे। फलतः न केन्द्रीभूत शासन तंत्र की आवश्यकता रहेगी, न हिंसा की। जब तक उत्पादन के तरीकों में मौलिक परिवर्तन नहीं होगा तब तक लोकतंत्र, प्रजा की स्वतंत्रता आदि बातें कल्पनामात्र ही रह जायेंगी। फिर जब उत्पादन के साधन और उसकी पद्धतियाँ विकेन्द्रित कर दी जायेंगी और इस प्रकार जब उत्पादित सम्पत्ति का वास्तविक मालिक स्वभावतः उत्पादक स्वयं होगा तो पूँजी का भी उचित बँटवारा स्वतः हो जायगा। इसीलिए बापू का कहना है कि "भारतवर्ष जिस साम्यवाद को पचा सकता है, वह साम्यवाद तो चरखे की गूँज में गूँज रहा है।'

आज हम चरखे और ग्रामोद्योग का जो कार्यक्रम चला रहे हैं, वह कार्यक्रम बापू की इसी कल्पना का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह आज के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक केन्द्रवाद के विरुद्ध विद्रोह की सजीव मूर्ति है, जो न केवल उत्पादन और शासन-तंत्र का विकेन्द्रीकरण करके नये आधारों पर नये समाज की रचना की ओर संकेत करता है, बल्कि उसके मार्ग को प्रशस्त करता है। हमारे चरखे और ग्रामोद्योग के पीछे बापू की यही सारी विचार धारा है। चीन के आज के कार्यक्रम के पीछे इस प्रकार की कोई निश्चित सामाजिक तथा आर्थिक विचार-धारा की बुनियाद नहीं है। तभी तो उसके उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में मुझे आशंका है।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है। सब भाई-बहनों को मेरा नमस्कार। बच्चों को प्यार।

• • •

रणीवाँ के ग्राम-सुधार का अनुभव : ६०

१५.११.४१

तुम्हारा पत्र मिला। यह जानकर कि अब तुम लोग तालीमी संघ की ओर से एक आदर्श विद्यालय चला रहे हो, मेरी खुशी की सीमा न रहना स्वाभाविक ही है। तुम चाहती हो कि ग्राम-सुधार-सम्बन्धी अपनी विचारधारा तुम्हें बताकर सिखाता रहूँ। लेकिन दो साल पहले आगरा जेल से जो चिट्ठियाँ लिखी गयी थीं, उनमें ग्राम-सेवा के सम्बन्ध में मैं अपना अनुभव करीब-करीब लिख ही चुका हूँ। उसके बाद मुझे बहुत कम समय प्रयोग करने के लिए मिला। रिहाई के कुछ माह बाद ही तो फिर पकड़ लिया गया। यहाँ से उस कुछ माह का अनुभव तथा उस अनुभव और कल्पना के अनुसार भावी योजना की रूपरेखा के सम्बन्ध में कुछ लिखूँगा।

मैं लिख ही चुका हूँ कि किस तरह मैं फैजाबाद जिले में आश्रम के द्वारा तथा सरकारी ग्राम-सुधार-विभाग द्वारा ग्राम-सुधार-योजनाओं का प्रयोग करता रहा और उस ओर जब कुछ विशेष काम का सूत्रपात करने जा रहा था तभी नजरबन्द करके जेल भेज दिया गया लेकिन जेल जाना बुरा न हुआ। पिछले बीस साल में मैंने ग्राम-समस्या के सम्बन्ध में जो कुछ देखा किया था समग्र रूप से उस पर गौर करने का मौका तो पहले-पहल यहीं मिला। विचार करने पर बहुत-सी बातें जो अब तक धूमिल थीं, साफ होती गयीं और भविष्य के लिए निश्चित सिद्धान्त के आधार पर भावनाओं की कल्पना करना आसान हो गया। चरखे द्वारा कत्तिनों की सर्वांगीण उन्नति करके उन्हींकी मार्फत ग्राम-उत्थान की सूझ उसी समय हो चुकी थी। उसका आभास मैंने उसी समय "हम आठ आना कैसे दें?" शीर्षक योजना के साथ बापू को भेजा था। जेलों में दस माह बिताने के बाद

जनवरी १९४२ में रिहा होकर रणीवाँ आ गया। पहले दो-तीन महीने इधर उधर जाने में और परिस्थिति समझने में लग गये। फिर मैं सबसे पहले रणीवाँ के पुनःसंघटन के काम में लग गया। यहाँ रणीवाँ ग्रामोद्योग विद्यालय तथा उसके द्वारा आसपास देहातों में ग्रामोद्योग के प्रचार के सम्बन्ध में तीन साल के सक्रिय अनुभव के बारे में कुछ बता देना अप्रासंगिक न होगा।

रणीवाँ आश्रम की नींव किस तरह पड़ी और अनुकूल परिस्थितियाँ पाकर उसने किस तरह आज का रूप ले लिया इसका विवरण मैं दे चुका हूँ। यहाँ विभिन्न उद्योगों की स्थापना करते समय मैंने स्थानीय साधन तथा परिस्थितियों की छानबीन नहीं की थी। यहाँ मैंने हर प्रकार का प्रयोग करने की नीयत से जितने तरह के उद्योगों की स्थापना का अवसर मिला उन्हें स्थापित किया। इस प्रकार यहाँ खादी-विद्यालय में (१) धुनाई कताई तथा बुनाई (२) तेलघानी, (३) कागज बनाना (४) बेंत बाँस तथा मूँज आदि का काम (५) दरी कालीन तथा कम्बल बनाने का काम (६) लोहारी (७) चमड़ा पकाना तथा (८) जूता चप्पल बनाना आदि विभाग संगठित किये गये। आरम्भ से ही रणीवाँ की ग्राम-उद्योग-योजना बनाने में मैंने उसी ध्येय को सामने रखा था जो बापू की विचार-धारा के अनुसार देहातों को ग्राम-स्वावलम्बन के आधार पर संगठित करने का था। मैं चाहता था कि पाँच-सात गाँवों में ग्रामीण जनता की आवश्यकता पूरी करनेवाले हर प्रकार के उद्योग की स्थापना हो जाय और उन्हीं की सहयोग-समितियों के द्वारा ग्राम-संघटन की योजना बनायी जाय। अतः यहाँ प्रान्त के विभिन्न जिलों के नौजवान विद्यालय में विभिन्न उद्योगों की शिक्षा पा रहे थे वहाँ अधिक-से-अधिक नौजवानों को उन उद्योगों में शिक्षित करके आश्रम की मदद से ऐसी व्यवस्था करायी जाती थी कि वे अपने घर पर उत्पादन का काम कर सकें।

हर तरह के ग्रामोद्योगों की स्थापना

बहुत से मित्र एतराज करते थे कि जिन उद्योगों में कारीगरों की

कमी नहीं है, उनके लिए भी नये नौजवान तैयार करने से क्या लाभ ? हजारों बुनकर काम के बिना तरस रहे हैं, उनकी तादाद बढ़ाने से हानि की ही सम्भावना अधिक है। देश में इतने चमार भूखों मर रहे हैं, तब चमड़े के कारीगर बढ़ाने से क्या लाभ ? तुम्हें भी इस प्रकार की आपत्ति हो सकती है। इसका कारण बता देना अच्छा होगा। मैंने पिछले पत्र में लिखा है कि समाज में जब केन्द्रवाद की सृष्टि हुई तो आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद की भी सृष्टि हुई, क्योंकि केन्द्रवाद के साथ केन्द्रीय वर्ग की सृष्टि हुई और उस वर्ग के हितों के संघटित करने की भी आवश्यकता पड़ी। अतः उत्पादन के क्षेत्र में कारीगरों को एकत्र कर व्यवस्था की सहूलियत की ओर लोग आगे बढ़ते रहे। इस तरह बुनकर, चर्मकार आदि की केन्द्रित बस्तियाँ बनती रहीं। आज जो हजारों कारीगरों का उल्लेख किया जाता है वे सब इन्हीं बस्तियों में बसते हैं। जनता में स्वावलम्बन की दृष्टि न होने के कारण उनको फैलाकर गाँव-गाँव में बसना सम्भव नहीं था

एक आपत्ति और उसका निराकरण

क्योंकि वैसा करने से केन्द्रित व्यावसायिक संसार में उनका टिकना असम्भव था। लेकिन जन-साधारण के स्वावलम्बन तथा स्वतन्त्रता के आधार पर आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के विचार से ग्रामोद्योग का कार्यक्रम चलाना है, तो यह जरूरी है कि हमें आबादी की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के कारीगरों की जरूरत पड़ेगी और हमको समस्त देश में उनका संयोजित उपदन करना पड़ेगा। आज एक ही काम करनेवाले जो कारीगर एक जगह बस्ती बनाकर रह रहे हैं, उनको या तो फैलाकर गाँव-गाँव में जाकर बसाना होगा या उनका पेशा बदलवाना पड़ेगा। समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने के लिए इन कठिनाइयों और तकलीफों से घबराने से काम नहीं चलेगा। आज की परिस्थिति में रूसियों जैसी छोटी प्रयोगशाला के लिए कारीगरों की बस्तियों को विकेन्द्रित करना सम्भव नहीं था अतः प्रारम्भ में हजारों कठिनाइयाँ होते हुए भी स्थानीय कारीगर तैयार करना

जरूरी था। अतः हमें बुनाई, सुनाई, चर्मकला और बढ़ईगिरी आदि सभी पेशों के लिए किसानों के बेकार नौजवानों को सिखाकर कारीगर बनाने और गाँव में प्रतिष्ठित करने की योजना बनानी पड़ी।

कताई के सम्बन्ध में मैंने जो कुछ प्रयोग किये, उनका जिक्र मैं दो साल पहले आगरा जेल से लिखे पत्रों में कर चुका हूँ। आज अन्य उद्योगों का ही जिक्र करूँगा। सबसे पहले कागज-विभाग का वर्णन करना ठीक होगा। क्योंकि यही वह विभाग है कि जिसमें हम अपनी योजना के अनुसार कुछ आगे बढ़ सके हैं।

कागज का उद्योग—मैं जिस समय गिरफ्तार हुआ, उसके तीन ही मास पहले कागज के कारखानों की स्थापना की गयी थी और मेरे जेल जाते-जाते दस-बारह कारखाने कायम हो गये थे। दस महीने बाद मैंने जेल से लौटकर देखा कि अब तक २१ कारखाने कायम हो चुके हैं। इतना ही नहीं उन नौजवानों की सफलता देखकर आसपास की जनता में आशा और विश्वास का संचार दिखाई दे रहा था। वे यह महसूस करने लगे थे कि कोशिश करने पर मौजूदा सीमित साधनों से ही अपनी हालत में जरूर कुछ सुधार सकते हैं। अब मैंने अपनी कल्पना के अनुसार काम शुरू कर दिया। कागज बनानेवाले नौजवानों को मैंने बताया कि भविष्य में सारा ग्राम-उत्थान-कार्य उनके ही द्वारा कराने की कल्पना मैं किस तरह करता हूँ। मेरे कहने के अनुसार उन सबने कागज-संघ के नाम से एक समिति संघटित की। विचार यह था कि थोड़ी-थोड़ी पूँजी आश्रम से कटाकर आश्रम के कागज-विभाग की जिम्मेदारी यह समिति अपने हाथ में ले लेगी। उन्होंने कागज के उद्योग के साथ ग्राम-उत्थान का काम भी अपने उद्देश्य में रखा। उसमें उन्होंने कुछ विभाग भी बना लिये। जैसे (१) कच्चा माल (२) उत्पादन-कला (३) बिक्री (४) शिक्षा (५) अन्य ग्राम-सुधार।

(१) कच्चा माल-विभाग का काम यह था कि वह इस बात की

खोज करें कि स्थानीय सामानों में से कौन-कौन से सामान ऐसे हैं, जो दूसरे आवश्यक काम में न आते हों और जो कागज बनाने के काम में अच्छी तरह आ सकें। प्रारम्भ में यह जरूरी था कि वे अपने कारखाने कागज की कतरन से ही चलावें, क्योंकि पहले-पहल उनको उसीमें सहूलियत हो सकती थी। लेकिन यह स्थिति अधिक दिन नहीं चल सकती थी। क्योंकि कतरन के लिए फिर वही शहर तथा मिल का सहारा जरूरी था। अतः यह आवश्यक था कि वे इस बात की खोज करें कि भिन्न-भिन्न देहाती सामानों के द्वारा नये सीखनेवाले कारीगर भी अच्छी किस्म का कागज बना सकते हैं। पहले-पहल वे कागज की कतरन के साथ केले के रेशे, धान का पयाल, टाट की कतरन तथा सन के रेशे मिलाकर बनाने लगे और क्रमशः कतरन का अनुपात घटाते गये।

(२) उत्पादन-कला-विभाग का काम कागज की किस्म में सुधार करने का था। जिन लोगों ने कागज बनाने की अच्छी कारीगरी सीख ली थी उन्होंने अपने कम सीखे हुए भाइयों को सिखाने का काम करना तय किया। इस विषय में प्रधानतः आश्रम के शिक्षक से ही मदद मिलती रही। उनका यह विचार था कि साधन काफी होने पर उनके प्रतिनिधि विभिन्न कागज-केन्द्रों से अनुभव लें।

(३) यद्यपि उस समय सारे कागज की बिक्री की व्यवस्था आश्रम करता था फिर भी उन्होंने बिक्री-विभाग इसलिए कायम किया था कि क्रमशः उन्हें स्वतन्त्र व्यवस्था करनी थी। मैं चाहता था कि प्रारंभ से ही कुछ कागज स्थानीय बिक्री में रक्खा रहे। इसका संगठन उन्हींको करना था। उसका अनुभव पाकर वे सारी बिक्री की जिम्मेदारी ले सकते थे।

(४) सबसे अधिक काम शिक्षा-विभाग के सामने था। उनके लिए ग्राम-सुधार-कार्य में शिक्षण-कार्य ही मुख्य रक्खा गया था। प्रत्येक कारीगर अपने गांव में एक रात्रि-पाठशाला चलाता था। विभाग की ओर से उन पाठशालाओं का निरीक्षण होता था। शिक्षा के काम में कागज

बनायी, तो मैंने उन्हें दर्जा २ तक की स्थायी पाठशाला कायम करने की सलाह दी। फिलहाल दर्जा २ तक के विद्यालय चल जाने पर क्रमशः उन्हींको दर्जा ४ तक का बनाया जा सकेगा। इन पाठशालाओं में कागज कारीगर ही अवैतनिक शिक्षक का काम करते थे।

(५) अन्य ग्राम-सुधार-विभाग के जिम्मे फिलहाल गाँव की सफाई का काम रखा गया, क्योंकि शुरू में इससे अधिक सम्भव नहीं था। मैंने तो सलाह दी कि शुरू में गाँव की सफाई के चक्कर में न पड़कर सिर्फ अपने घर और पड़ोस को साफ रखने का प्रयत्न करें। इससे क्रमशः दूसरे भी अपने घर साफ रखने के लिए प्रोत्साहित होंगे।

कागज-संघ का काम चलाने के लिए सदस्यों से उनके उत्पादन की आय से एक रुपया चन्दा लेने का निश्चय किया गया और प्रत्येक सदस्य के लिए ये शर्तें रखी गयीं—

(१) सदस्य और उसके आश्रित जन सब खादी का ही व्यवहार करेंगे और जल्दी-से जल्दी ऐसा प्रबन्ध करेंगे कि वह खादी अपने घर के कते हुए सूत की हो।

(२) सदस्य अपने घर तथा उसके आसपास की जमीन सदैव साफ रखेंगे।

(३) सदस्य पढ़ने की उम्रवाले अपने सभी बच्चों के पढ़ने की व्यवस्था करेंगे।

(४) सदस्य संघ के निर्देशानुसार प्रतिदिन दो घंटे का समय ग्राम सेवा में लगायेंगे।

(५) सदस्य एक साप्ताहिक पत्र मँगायेंगे और सप्ताह में किसी दिन शाम न समय गाँवभर के लोगों को पढ़कर सुनायेंगे।

(६) सदस्य सप्ताह में एक बार आश्रम में साधारण ज्ञान के क्लास में आयेंगे जिसमें विभिन्न समस्याओं पर विचार-विनिमय होगा।

इन तमाम बातों की व्यवस्था करने में दो-तीन मास का समय लग गया। मैं चाहता था कि थोड़े दिन बाद जब संघ के लोग अपना काम

व्यवस्थित रूप से चलाने लगें तो सहयोग-समिति की कानूनन रजिस्ट्री करा दी जाय। उन नौजवानों में काफी उत्साह था लेकिन इस प्रकार कार्यक्रम की प्रगति अधिक न हो पायी क्योंकि इसकी शुरुआत के दो तीन माह के ही अन्दर ९ अगस्त की क्रान्ति मच गयी। आश्रम जब्त हो गया। आश्रम से करघा के साथ १ माई ९ तारीख को ही गिरफ्तार

बयालीस के दमन में

कर लिये गये। सरकारी दमन ने हमारे द्वारा जितना भी रचनात्मक कार्य हुआ था उसको समूल नष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया। पुलिस के आदमियों ने इन नौजवानों को भी काफी तंग किया। नतीजा यह हुआ कि जो कुछ थोड़ी-बहुत प्रगति हुई थी, सब नष्ट हो गयी। प्रारम्भ में तो वे कारखाने भी बन्द-से हो गये। लेकिन मुझे मालूम हुआ है कि कुछ महीनों के बाद धीरे-धीरे वे नौजवान अपना काम फिर से चलाने लगे और क्रमशः अपनी पैदा से बाजार भी प्राप्त करने लगे। शुरू से ही स्वावलम्बन की ओर दृष्टि रखने के कारण आश्रम जब्त होने पर भी उनमें आत्म-विश्वास की कमी नहीं होने पायी, बल्कि आश्रम के न होने से उनमें आत्म-निर्भरता की वृद्धि बढ़ी।

कागज-उद्योग के काम में मुझे कई कठिनाइयाँ भी हुई। प्रारम्भ में जब मैंने गाँव के नौजवानों को कागज का काम सीखकर अपने घर पर उद्योग चलाने के लिए निमंत्रित किया था तो साधारणतः पढ़े-लिखे

हमारी कठिनाइयाँ

नौजवान इधर आकृष्ट नहीं हुए। हमारे यहाँ तो वे ही आये जो दूसरा कुछ काम न कर सकते थे और जीवन से निराश थे। काम शुरू करने के लिए मैंने उन्हींको ले लिया और शुरू शुरू में अधिकतर उन्होंने ही कारखाने चलाये। बाद को जब मैंने अपने ध्येय के अनुसार कार्यक्रम चलाने की कोशिश की तो इन लड़कों में योग्यता की कमी के कारण हमारे काम में बाधा पड़ने लगी। नतीजा यह हुआ कि उसमें काफी उत्साह होने पर भी जितनी सफलता की आशा करता था उतनी न हो सकी।

दूसरी कठिनाई यह भी कि देहात में ही ग्राम उद्योग की कारीगरी सिखाकर गाँवों में उद्योग-कार्य कायम करने की मेरी राय से मेरे मित्र भी काफी सहमत नहीं हो सके थे। यह सही है कि पढ़े-लिखे नौजवानों को यदि कारीगर बनाया जाय, तो वे पेशेवर कारीगरों के मुकाबले अच्छा माल नहीं बना सकते। अतः उनका बनाया माल खपाना कठिन हो जाता है। यह भी सही है कि उनका माल शुरू में तो नहीं, बल्कि काफी दिनों तक बाजार के अन्य कारीगरों के मुकाबले खराब होगा। लेकिन हमें यदि कुछ निश्चित सिद्धान्तों और निश्चित योजना को ध्यान में रखकर ग्राम-उद्योग का काम चलाना है, तो निस्सन्देह ऐसे नौजवानों को ही इन उत्पत्ति-कार्यों में लगना होगा, जिन्हें हम अपना आदर्श तथा अपना दृष्टिकोण समझा सकें और जो समाज की भावी व्यवस्था के अनुरूप बनने की कल्पना कर सकें। हम चाहे जितने छोटे पैमाने पर काम चलायें हमें प्रारम्भ से ही अपनी सारी व्यवस्था अपने सिद्धान्त के दृष्टिकोण से ही करनी होगी। ग्राम-उद्योग के बुनियादी उद्देश्य को सफल करना है तो हमें देहातों के ऐसे नौजवानों को शिक्षित करना होगा, जो हमारे उद्देश्य को समझकर उसीके साधक बन सकें। तैयार माल खराब होगा तो शुरू में उसे उसी रूप में जनता को देना होगा जिस तरह हमने शुरू में खादी दी थी। फिर खादी की तरह क्रमशः इनकी भी तरक्की करनी पड़ेगी। अगर हम बाजार की सहूलियत के मोह में पड़कर पेशेवर कारीगरों द्वारा माल बनवाकर बेचते रहें, तो देश की समस्या को हम अपने ढंग से हल करने की ओर न बढ़ाकर सामान्य व्यापार चलाने लगेंगे।

आदर्शोन्मुख कारीगर आवश्यक

कागज के काम में इस कठिनाई का असर अधिक नहीं पड़ा क्योंकि शुरू में जितना कागज बनता था वह अधिकतर आश्रम के खादी-विभाग के काम में लग जाता था। दूसरे कागज का उद्योग ऐसा था कि यह प्रायः मर ही चुका था और सभी जगह नये लोग ही सीखकर बनाते थे।

मुकाबले में सब बागों के उत्पादकों का प्रायः एक ही हाल था। अतएव इस सम्बन्ध में आपत्ति की गुंजाइश कम थी।

बुनाई—जब मैं शुरू में रणीवाँ आया उस समय बुनाई को ही मैंने अपनी ग्राम-सुधार-योजना का साधन बनाने की चेष्टा की थी लेकिन आश्रम के खादी-विभाग से मदद न मिलने से मुझे बुनाई के द्वारा सुधार योजना की चेष्टा छोड़नी पड़ी। फिर भी बुनाई-विभाग मैंने जारी रखा था। सरकारी मदद से चलने के कारण किसीको विशेष एतराज न रहा। खादी-विभाग की मदद के बिना इस विभाग की प्रगति सम्भव न थी अतएव इस विभाग में विशेष उन्नति नहीं हो सकी। आसपास के गाँवों के ७-८ नौजवानों ने बुनाई सीखी और लड़ाई के बाद सङ्कट के दिनों में गाँव का सूत बुनकर वस्त्र-स्वावलम्बन में मदद कर सके। अकबरपुर के कुछ बुनकर तो विभिन्न डिजाइनों की खादी बुनना सीख गये थे। यद्यपि इस विभाग में नतीजा कम निकला फिर भी ग्राम-स्वावलम्बन के प्रयोग में मुझे काफी अनुभव मिला। इस विभाग के द्वारा गाँव-गाँव में बुनकर पैदा करके ग्राम-स्वावलम्बन-योजना चलाने की सम्भावनाओं के प्रति मेरा विश्वास पहले से भी बढ़ गया।

लोहारी और बढ़ईगिरी—सन् १९३५ में पहले पहल जब मैं रणीवाँ गया था और चरखे का प्रचार शुरू किया था, उसी समय से चरखा सरंजाम की कठिनाई महसूस करता था। मैंने देखा कि बाहर से चरखा आदि सामान मँगाने से काम नहीं चलेगा। ग्राम-उद्योग-विद्यालय स्थापित होते ही मैंने स्थानीय किसान युवकों को लकड़ी और लोहे का काम इसी उद्देश्य से सिखाना शुरू किया। लेकिन इस विभाग में हमारी समस्या कताई-विभाग जैसी आसान नहीं थी। पहले तो लकड़ी का काम ठीक तरह से सीखने के लिए काफी दिन लग जाते हैं। दूसरे लोहे और लकड़ी का काम करने के लिए पेशेवर बढ़ई और लोहार एक-से-एक बढ़कर मौजूद हैं। वे चाहे केन्द्रित बस्तियों में हों चाहे बड़े शहरों में। उनका बना सरंजाम तो हर जगह पहुँच ही सकता है। ऐसी स्थिति में उन

लड़कों को बाजार के मुकाबले में आना पड़ा। पहले मैं अपने सिद्धान्त के अनुसार चलना चाहता था, लेकिन आश्रम की आवश्यकता तथा साथियों के कहने से मुझे बाहर से बढ़ई और लोहार बुलवाने पड़े। यह स्थिति अस्वाभाविक थी, तो भी मैं उसे चलाता रहा; क्योंकि मैं आशा करता था कि उसीके साथ क्रमशः मैं लड़कों को सिखाकर उनके घर पर उत्पादन की व्यवस्था कर सकूँगा। फिर उनका संघ बनाकर कारिगरों से सीधा सम्बन्ध बनाने में सफलता मिल सकेगी। इस विभाग में मुझे शुरू में अनपढ़ लड़के लेने पड़े। धीरे धीरे पढ़े-लिखे लड़के इस ओर आकर्षित होने लगे। आश्रम बन्द होने से पहले वे लड़के घर पर स्वतन्त्र कारखाने तो नहीं खोल सके थे, लेकिन उन्होंने आश्रम में स्वतंत्र रूप से अपना माल बनाकर आश्रम को ही बेचना शुरू कर दिया था। विचार यह था कि कुछ दिन आश्रम के अन्दर ही स्वतन्त्र काम करके जब पूरा विश्वास हो जायगा कि वे घर पर भी ठीक काम कर लेंगे, तो उन्हें अपना केन्द्र खोलने में मदद की जा सकेगी। आश्रम बन्द होने के बाद वे लड़के साधन के अभाव से अपने यहां कोई कारखाना तो खोल नहीं सके, लेकिन जिन देहातों में अच्छे बढ़इयों की कमी थी वहाँ उनका हो जाना भी एक लाभ ही है।

तेलघानी—केन्द्र से लौटकर तेलघानी का प्रचार कुछ अधिक हो सका। इसमें एक सहूलियत यह थी कि गाँव में लोग तेल का इस्तेमाल करते ही हैं। पुरानी किस्म की घानी के बदले वे मगनवाड़ी घानी का प्रयोग करने लगे। इससे पुरानी घानी से जहाँ ढाई सेर सरसों ४ घण्टे में पेरी जाती थी वहाँ इस घानी से ८ सेर सरसों डेढ़ घण्टे में पेरी जाने लगी। लेकिन मगनवाड़ी घानी में भी घानी चलानेवालों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जब तक आश्रम की ओर से ही काम होता था, तो आश्रम के पास सरसों का स्टाक रहता था। आश्रम उसे पेरवाकर बिक्री की व्यवस्था करता था। लेकिन जब दूर-दूर इस घानी का प्रचार हो गया और यह देहात जिले के बाहर भी जाने लगी,

चला सकते हैं। आश्रम बन्द हो जाने पर जितने उद्योग गाँव में स्वतन्त्र रूप से चल रहे हैं उनमें घानी चलानेवालों को सबसे कम कठिनाई हो रही है।

बेंत बाँस और मूँज—बेंत, बाँस और मूँज आदि का काम शुरू तो किया था, लेकिन उसे साल भर में ही बंद करना पड़ा। गाँवों की आजकल की परिस्थिति में इसमें तैयार माल प्रधानतः शहरों में ही बेचना होगा और बेंत-बाँस का सामान दूर से लाकर बेचना आसान नहीं है। इसलिए शहर के आसपास के गाँवों के लोग ही उसे सफलतापूर्वक कर सकते हैं। अतः हमने देखा कि रणीवाँ जैसे दूर के गाँव में इस उद्योग को चलाना फिलहाल सम्भव नहीं है।

दरी-कालीन—दरी-कालीन का काम हमने बुनाई-विभाग के साथ शुरू किया लेकिन उसे स्थानीय उद्योग के उपयुक्त न बना सके। जहाँ गरीबी इतनी अधिक है कि लोग बिना बिछावन के ही गुजर करते हैं, वहाँ दरी-कालीन का क्या उपयोग हो सकता है? गाँव में खपत के लिए इसका उत्पादन करना सम्भव नहीं था। शहरों में भी इनकी खपत इतनी कम है कि गाँव-गाँव इस उद्योग का प्रसार करना बेकार है। अतः इस उद्योग को सिखाने के लिए योजना स्वतन्त्र रूप से नहीं रखी गयी। हाँ, इस विभाग में जो पुराने फटे चीथड़ों की दरी बनाने का प्रयोग किया गया वह घर-उद्योग की दृष्टि से भी देहातों में चलाने लायक था और आसपास के गाँव के एक-दो नौजवान स्वतन्त्र रूप से इस उद्योग को चला भी रहे थे क्योंकि गाँववालों को इससे रद्दी चीजों के इस्तेमाल का नया तरीका मालूम हो गया था। चीथड़ों की दरी का प्रचार इतना हुआ कि दूर-दूर के लोग इसमें दिलचस्पी लेने लगे यहाँ तक कि एक बार शान्ति-निकेतन की श्री नन्दिता देवी ने भी अपने यहाँ से पुराने कपड़े दरी बनाने के लिए भेज दिये थे।

चमड़े का काम—भारत-जैसे कृषिप्रधान देश में चमड़े के काम का कितना महत्त्व है यह मैं बता चुका हूँ। रणीवाँ के कार्यक्रम के द्वारा आसपास की देहाती जनता में छूत-छात आदि की कट्टरता तो बहुत

है, यहाँ भारत की औसत उत्पत्ति प्रतिवर्ष प्रति भेड़ १ पाउण्ड (लगभग आध सेर) मुश्किल से होती है। इतनी कम ऊन भी अच्छे किस्म की होती, तो कोई बात थी। हमारे यहाँ की ऊन संसारभर में सबसे घटिया किस्म की होती है। आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और अर्जेण्टायना आदि देश मुगुर स्पेन आदि देशों के मेरीनों जैसी अच्छी नस्ल की भेड़ों से अपने यहाँ की नस्ल सुधारकर ऊनी दुनिया में कमाल हासिल कर रहे हैं, पर हमारे यहाँ एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में भेड़ों को ले जाकर नस्ल सुधारने का भी प्रयोग नहीं हो रहा है। और ऐसा हो भी तो कैसे? भेड़ पालन का काम तो गड़रिया कौम के हाथ में ही पड़ा है। वे अशिक्षित हैं, समाज में भाग्य अछूत हैं और उनकी गरीबी का तो ठिकाना ही क्या! मैंने इस दिशा में कुछ अधिक काम करने की योजना बनायी और आश्रम ने भी उसे स्वीकार किया। मैं चाहता था कि उत्पादन के साथ-साथ ऊन की किस्म का सुधार तथा मौका लगे तो भेड़ों की नस्ल-सुधार का भी प्रयोग किया जाय। गाँव के शिक्षित नौजवानों को ऊन के उद्योग कार्य में लगाकर उनके द्वारा शिक्षा आदि कार्यक्रम चलाने के अलावा ऊन के काम को, जो समाज में छोटा काम समझा जाता था, सर्वप्रिय बनाया जाय। इस उद्योग को फैलाना हमारे लिए आसान भी था क्योंकि एक तो खादी-भण्डारों के द्वारा बहुत बड़ी तादाद में कम्बल बेचे जा सकते थे दूसरे गरीब जनता की आवश्यकता का सामान होने के कारण क्रमशः गाँव में ही अधिकांश माल खपने की गुन्जाइश भी थी। इस उद्योग में उन्नति का मौका बहुत है। विशेषकर किसानों के लिए भेड़ पालने का काम लाभदायक है क्योंकि ऊन के उद्योग के अलावा इससे उनको कीमती खाद तथा दूध भी मिलता रहता है।

साबुन का काम—ग्राम-सुधार-कार्य के लिए मैं साबुन-उद्योग को बहुत जरूरी मानता था। जेल से छूटते ही मैंने आश्रम के सामने देहाती साधनों से साबुन बनाने का प्रस्ताव पेश किया। अकबरपुर में देहाती साबुन बनाने के लिए प्रयोग करने की मुझे अनुमति मिल गयी। वहाँ इस

मैं चाहता था कि इस प्रकार की योजना गाँववालों की चेष्टा तथा साधन से ही चलायी जाय, अतः मैंने अपनी योजना जनता के सामने रखने के लिए तीन-चार सौ गाँवों के मित्रों का एक शिक्षा-सम्मेलन संघटित किया और उसीमें अपनी योजना रखी। जनता में शिक्षा के लिए उत्साह था ही, अतः उसने इस योजना का हृदय से स्वागत किया। उन्हीं मित्रों में से कुछ लोगों की एक छोटी समिति पर संघटन का भार सौंपा गया। स्थानीय दो-तीन नौजवान अपने-अपने गाँव में प्रयोग करने को और गाँव के लोग साधन प्रस्तुत करने को तैयार हो गये। इन साधनों को संघटित करके गोविन्द भाई ने प्रयोग के लिए दो उच्च माध्यमिक विद्यालयों का कार्य प्रारम्भ कर दिया। दो-तीन मास में ही उन्होंने देख लिया कि इस प्रकार की शिक्षा-योजना देहात में सफलता के साथ चल सकती है और यह विचार हुआ कि कागज के कारखानेवालों में जो लोग कुछ पढ़े-लिखे हैं उन्हें भी इसी प्रकार पाठशाला चलाने की शिक्षा दी जाय। बरसात में कागज के कारखाने का काम सुखाने की दिक्कत के कारण लगभग बन्द-सा हो रहता है। इस कारण जुलाई अगस्त और सितम्बर के महीने इसके लिए अनुकूल भी थे। मैंने कागजवालों के सामने अपना प्रस्ताव रखा। उनमें जो योग्य व्यक्ति थे, वे सहर्ष तैयार हो गये। उनके लिए धुनाई-कताई की शास्त्रीय शिक्षा की व्यवस्था की गयी।

इसके उपरान्त यह विचार हुआ कि गाँव के साधन तथा चेष्टाओं का संघटन करके उपर्युक्त योजना के साथ बेसिक शिक्षा के पूर्ण प्रयोग के लिए आश्रम में एक विद्यालय खोला जाय जिसमें हम लोगों का अनुभव भी हो सके और हमारी देहाती पाठशाला के शिक्षकों को भी बेसिक शिक्षा की रूपरेखा मालूम होती रहे। आश्रम की प्रबन्धक समिति तथा साधारण सभा की बैठक अगस्त में होनेवाली थी। उसमें पेश करने के लिए मैंने एक योजना और एक बजट बनाया लेकिन उससे पहले ही ६ अगस्त का दिन आ गया और सब स्वाहा हो गया।

सन् १९३८ के दिसम्बर में कांग्रेस सरकार की मदद से रणीवाँ मे ग्रामोद्योग-विद्यालय की स्थापना की गयी। सन् १९४२ के अगस्त आन्दोलन में वह समाप्त हो गया। विद्यालय सिर्फ साढ़े तीन साल चल पाया। इस साढ़े तीन साल में दस मास मैं जेल में था। इतने थो दिनों के प्रयोग से परिणाम ही क्या निकल सकता था! लोग कह सक हैं कि रणीवाँ का प्रयोग सफल नहीं हुआ। लेकिन इतने दिन में ही हमने करीब ८० छात्रों को शिक्षा दी। सात-आठ उद्योगों का प्रयोग किय और किस प्रकार उन्हें देहातों में प्रसारित किया जा सकता है, इसका अनुभव प्राप्त किया। यहाँ के अनुभव के कारण हम भावी योजनाएं प्रारम्भ से ही उचित रीति से चला सकेंगे।

कार्यक्षेत्र का चुनाव

सबसे पहली बात क्षेत्र चुनने की होगी, जिसके लिए निम्नलिखित बातें दृष्टि में रखनी जरूरी हैं:

१. जहाँ काम शुरू किया जाय वहाँ के लिए यातायात की सुविधा हो। तुमने देखा होगा कि रणीवाँ आने-जाने को माल लाने में कितनी मुश्किल होती थी।

जिस क्षेत्र में काम शुरू करना है, वहाँ की जनता में कुछ उत्सा हो तथा हमारे काम से थोड़ी स्वाभाविक दिलचस्पी हो। काम शुरू करने से पहले काम की कुछ शर्त स्थानीय जनता पर लगा देनी चाहिए। उन पूरा हो जाने पर इसका अन्दाजा लग जायगा कि उनमें कितनी दिलचस् है। मेरा मतलब है हम यहाँ काम करें वहाँ के लोग कम-से-कम हमा लिए तथा हमारे कार्यक्रम के लिए स्थान की व्यवस्था तो करें ही।

३. जिन उद्योगों को आरम्भ करना हो उनके लिए कच्चा मा और विशेषकर कारीगरों की सुविधा हो। वैसे तो देहाती क्षेत्र में अच्छे कारीगर मिल ही नहीं सकते फिर भी कुछ न कुछ कारीगर हो पर प्रारम्भ में सहूलियत होगी। मैं कह चुका हूँ कि हमें जन-समाज की आवश्यकताओं के लिए स्वावलम्बन की दृष्टि से ही ग्राम उद्योगों को विकसित करके धीरे-धीरे फैला देना चाहिए और जिस क्षेत्र में कारीग

नहीं हैं, वहाँ उन्हें पैदा करना चाहिए। मैंने यह भी कहा है कि हमें ग्राम ऐसे पढ़े-लिखे नौजवानों को जो भावनाशील हों विभिन्न उद्योगों का कारीगर बनाकर उनके घर पर ही उद्योगों को स्थापित करना है ताकि वे हमारे ढंग से ग्राम-सुधार-कार्य की प्रगति कर सकें। लेकिन मैं उस समय अपने ध्येय की बात कर रहा था। व्यापारिक दृष्टि से आरम्भ से ही अगर अपने काम को कुछ साकार रूप नहीं दे सकेंगे तो प्रथमतः तो साधनों से मदद करनेवाले हमारे साथी घबड़ाकर उसकी सफलता से निराश हो जायँगे और हमारी मदद नहीं करेंगे, साथ ही हमें हर तरह से निरुत्साह करेंगे।

मैंने देखा है कि प्रायः लोग ग्राम-उद्योग और ग्राम-सुधार जैसे मन्दकार्य-मय कार्यक्रम की सफलता के लिए स्वाभाविक विलंब में धैर्य नहीं रखते हैं और तात्कालिक नतीजा न देखकर भबरा जाते हैं। दूसरी बात यह है कि जनता भी अपने सामने हमारी योजना के साकार रूप को देखकर ही आकर्षित हो सकती है। जिन पढ़े-लिखे नौजवानों को हम तैयार करेंगे, वे भी काम की कुछ आर्थिक सफलता को देखकर ही इधर झुकेंगे। इसलिए हमें इसकी भी चिंता करनी है कि हमारा उत्पादन का काम आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी हो। हम आरम्भ से ही स्वावलम्बी नहीं होंगे, तो हम उतने साधन ही कहाँ से लायेंगे? अतः हमें शुरू में पेशेवर कारीगरों से उत्पादन का आरम्भ कराकर तब क्रमशः अपने ध्येय की ओर बढ़ना होगा।

इन तीन बातों को ध्यान में रखकर जहाँ काम शुरू करें, वहाँ उद्योग के साथ शिक्षा सुधार सफाई आदि ग्राम-उत्थान के काम भी एक साथ ही शुरू करने होंगे। कारण यह है कि हमारे सामाजिक जीवन में अलग अलग विभाग नहीं हैं। हर कार्यक्रम एक-दूसरे से अनुप्रथित है, एक-दूसरे पर असर रखता है। अलग-अलग चलाने से कार्यक्रम सुस्त बन जायगा।

कार्यकर्ताओं को नये सिरे से शिक्षा देकर उनके द्वारा धीरे-धीरे कार्य-संचालन किया जाय। रामधारीभाई को मेरी बात पसन्द तो आयी, लेकिन मुजफ्फरपुर के क्षेत्र के बारे में उन्हें आशा नहीं थी। अतः हाल में ही मुझे मगहर के क्षेत्र में अपना प्रयोग करने की बात सोची गयी।

उन्हीं दिनों बापू काशी विश्वविद्यालय के उत्सव के लिए बनारस आये हुए थे। आश्रम के अधिकतर लोग और बिहार के लक्ष्मीबाबू आदि भी वहाँ उपस्थित थे। आठ आनावाली योजना खादी-जगत् में प्रकाशित हो चुकी थी और उसकी चर्चा भी थी। मैंने देखा कि आश्रम के बड़े भाई लोग मेरे विचार को पागलपन समझते हैं। अतः मैंने अपनी योजना उस समय आश्रम की प्रबन्धक समिति के सामने पेश नहीं की। हाँ बिहार चरखा-संघ के लोगों को मेरे विचार पसन्द आये और लक्ष्मीबाबू ने कहा— "आप एक बार आइये और वहाँ की परिस्थिति के अनुसार योजना बनाइये तो हम लोग प्रयोग करने को तैयार हैं।" रामदेवभाई तो काफी उत्साहित मालूम पड़ते थे। मैंने सोचा कि आरम्भ से ही मैं मगहर में अपने दृष्टिकोण से काम चला सकूँ और इस बीच बिहार में कुछ सफलता मिले, तो अगस्त की सालाना बैठक में अपनी पूरी योजना पेश कर सकूँगा।

उसके बाद मैं बिहार गया और वहाँ की परिस्थिति के अनुसार आठ आने मजदूरी के द्वारा कत्तिनों की सुधार-योजना बनायी। तत्कालीन कार्यकर्ताओं की शिक्षा-व्यवस्था रामदेव बाबू ने अपने हाथ में ली। पहले प्रयास तो कत्तिनों से काम शुरू करने का निश्चय हुआ।

मैं मगहर गया और स्थानीय ग्राम-सुधार कार्यकर्ताओं को बुलाकर दस दिन के लिए शिक्षा-कैम्प खोला। उसमें मैंने अपनी योजना और उस योजना के द्वारा हम देहाती स्वावलम्बन तथा स्वतंत्रता का संगठन कर सकेंगे इत्यादि बातें समझायीं और उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में भेज दिया।

उस समय लड़ाई के कारण देशभर में वस्त्र-समस्या बहुत उग्ररूप धारण किये थी। प्रत्येक प्रान्त के चरखा-संघ के सामने खादी उत्पादन

बढ़ाने की समस्या थी। आश्रम भी चरखे का जल्दी प्रचार करना चाहता था। लेकिन खादी-जगत् की वर्तमान परिस्थिति में किसी भी प्रकार के चरखे की तादाद बढ़ा देने से काम नहीं चल सकता था। इतने दिन में खादी बहुत तरक्की कर चुकी थी। पहले जैसी रद्दी और कमजोर सूत की खादी बनाना अब सम्भव नहीं था। अब तो भंडारों में खादी की किस्म इतनी एकसार और मजबूत हो गयी है कि नयी कत्तिनों के कमजोर और असमान सूत का माल लोग पसन्द ही नहीं कर सकते। अतः आश्रम के सामने जल्दी से उत्पादन बढ़ाने के साथ-साथ प्रारम्भ से ही ऐसी खादी बनाने की समस्या थी, जो पुराने केन्द्रों की खादी के मुकाबला कर सकती हो और यह तभी सम्भव था जब हम प्रत्येक कत्तिन को शुरू में ही शास्त्रीय ढंग से कताई की विभिन्न प्रक्रियाओं की शिक्षा दे सकते। इसका मतलब यह कि हम जो हजारों की तादाद में कत्तिनों की संख्या बढ़ाना चाहते थे उसके लिए आवश्यक था कि उनमें से प्रत्येक को किसी कताई विद्यालय में बैठाकर कुछ दिन तालीम दें। इतना विराट् काम करना आसान नहीं था। इसके लिए सैकड़ों शिक्षकों की आवश्यकता थी। शिक्षकों को कताई शास्त्र सिखाना, फिर उनके द्वारा कत्तिनों की शिक्षा

समस्याएँ और कठिनाइयाँ

आदि का सारा काम जल्दी से करना था। इन सब शिक्षकों को कुछ वृत्ति भी देना जरूरी था। इन सारे कामों के लिए जितना धन खर्च करना आवश्यक होता उतना धन आश्रम के पास कहाँ था? कत्तिनों का शिक्षा-क्रम चलाने के लिए मैंने अकबरपुर में स्थानीय ग्राम-शिक्षकों का संगठन प्रारंभ किया था वह प्रयोग काफी कम खर्च का था। लेकिन उस प्रकार के ग्राम-शिक्षकों को भी थोड़ी वृत्ति तो देनी ही होती थी। इसलिए यहाँ [illegible] में उनको सिखाना आश्रम के साधनों से बाहर की बात थी। अतः आश्रम ने यह तय किया कि कम-से-कम ग्राम-शिक्षक की वृत्ति गाँववाले खुद दें। आश्रम के इस निश्चय से कि ग्राम-शिक्षक का वेतन ग्रामवासी ही दें, मैं बहुत उत्साहित हुआ। मैंने देखा कि इस प्रयोग से इस बात की

परीक्षा हो जायगी कि अमुक गाँव के लोगों में चरखा-योजना में वाकई दिलचस्पी है या नहीं और ग्राम-शिक्षक के पुरस्कार की इस रकम का चन्दा वसूल करने में ग्रामवासियों को थोड़े-बहुत संघटन की आवश्यकता होगी। उसीका विकास करके हम उनको पूर्णरूप से संघटित करेंगे तथा भावी व्यवस्था की इकाई बना सकेंगे।

मैं मगहर गया और इन्हीं बातों को सोचकर वहाँ का कार्यक्रम बनाया। जनता में वस्त्र-संकट था ही। हमारे वहाँ पहुँचने पर चारों ओर से इस बात की माँग आने लगी कि उनके ग्राम में केन्द्र खोला जाय। मैंने उन्हें अपनी योजना बतायी और इसका वादा किया कि जो कोई भी उस योजना के अनुसार अपने यहाँ काम शुरू कर सकेगा, उसके यहाँ केन्द्र खोला जायगा। योजना के अनुसार कुछ वर्गों में शिक्षण-शिविर खोले गये। उन सभी में मिडिल पास से लेकर प्रवेशिका तक की योग्यतावाले नौजवानों से अपील की गयी कि ग्राम की वस्त्र-समस्या हल करने के लिए और आगे के ग्राम-सुधार-काम के संचालन में सहायक होने के लिए उन्हें स्वयंसेवक का काम करना चाहिए। नियम यह रखा गया कि वे आश्रम के शिविर में तीन माह तक की शिक्षा लें। इसके लिए वे प्रतिदिन घर से आकर काम सीखें। चरखा, रुई आदि सामान आश्रम उन्हें उधार दे देगा और वे उसी तीन मास के शिक्षा-काल के उत्पादन से उसका दाम चुका दें। उद्देश्य यह था कि आरम्भ से ही वे स्वावलम्बी बन सकेंगे तो उनमें स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर विश्वास पैदा हो सकेगा। तभी तो वे ग्रामवासियों को इसकी सम्भावनाएँ बता सकेंगे और उनका असर भी पड़ेगा। साथ ही भविष्य के लिए उन्हें चरखा आदि सामान बिना अतिरिक्त

योजना

दाम खर्चे मिल जायगा। तीन माह की शिक्षा के बाद जो लोग परीक्षा में पास होंगे उन्हें ग्राम-शिक्षक का प्रमाण-पत्र दिया जायगा, ताकि ग्रामवासी ऐसे प्रमाणित शिक्षकों से ही सिखाने का काम ले सकें। इन शिविरों में करीब १५ नौजवान शिक्षा पाने लगे। शिविरों का काम फरवरी मार्च से शुरू हुआ था। ३ मई

की परीक्षा में करीब ८ नौजवान पास हुए और मई के प्रथम सप्ताह में ही वे काम में लगा दिये गये।

ग्राम-शिक्षकों का काम यह स्थिर किया गया कि वे अपने गाँव से तीन मील तक दूर के किसी गाँव में सात सप्ताह का शिक्षा-शिविर स्थानीय स्त्रियों के लिए चलायेंगे। एक सप्ताह प्रारम्भिक व्यवस्था का समय लेकर उन्हें दो मास का समय एक गाँव में देना था। इस काम के लिए शिक्षकों को गाँववालों से दस रुपया फीस पाने का नियम रखा गया। इसके लिए आश्रम की ओर से देहातों में अपनी योजना का प्रचार किया गया। उनसे कहा गया कि जो गाँव इस योजना में शामिल होना चाहते हैं, वे हमारे पास आवेदन-पत्र भेजें। आवेदन पत्र के साथ उन्हें दस रुपया फीस ग्राम-शिक्षक के लिए और दो रुपये आश्रम के निरीक्षण के ऊपर खर्च के लिए जमा करनी होगी। हमारे प्रचार का आशातीत फल हुआ और सौ से ज्यादा गाँवों से आवेदन-पत्र आ गये। उन्हीं गाँवों में हमारे यहाँ शिक्षा पाये हुए शिक्षकों को लगा दिया गया। शिक्षकों को बेकार न बैठना पड़े इसलिए यह निश्चय किया गया कि प्रथम शिक्षा-शिविरों का शिक्षण समाप्त होने से पहले नये शिक्षा-शिविरों की व्यवस्था कर ली जाय।

गाँव में दो मास का कत्तिन-शिक्षण-शिविर चलाने के लिए हमारे सुधार-कार्यकर्ता को निरीक्षण के लिए बीच-बीच में जाना पड़ता था। शिक्षक तो दो मास पूरे समय उस गाँव में काम करता ही था। दो-एक उत्साही सज्जन उस गाँव में होते ही थे जिनके उद्योग से हमारी शर्तें पूरी होकर वहाँ केन्द्र खुलने की नौबत आती थी। इतने दो मास की कोशिश से उस गाँव में स्थायी और व्यवस्थित चरखा-समिति कायम करना कठिन न होता था। अतः मैंने आरम्भ से ही ऐसा संगठन करना चाहा, जिससे उन्हीं समितियों के द्वारा सारे क्षेत्र का संगठन किया जा सके। मेरा विचार था कि शुरू में समिति के द्वारा कत्तिनों की कताई में सुधार, आश्रम के उत्पत्ति-केन्द्र और कत्तिनों के बीच के व्यवहार और रात्रि पाठशालाओं के संचालन का काम किया जाय। फिर अन्य कार्यक्रम भी जारी किये जा सकेंगे।

ग्राम-स्वावलम्बन की दृष्टि से हमें एक दूसरी समस्या भी हल करनी थी। इस प्रान्त के पूर्वी इलाके में कपास की खेती नहीं होती; परन्तु कताई के लिए स्थानीय कपास की व्यवस्था होना जरूरी है। जब दूसरी अच्छी कपास पैदा ही नहीं हो सकती है, तो सहज ही मेरा ध्यान देव-कपास की ओर गया। जाँच करने से मालूम हुआ कि दोनों जिलों में पहले देव कपास काफी होती थी और आजकल भी तिथि-त्योहार, पूजा तथा यज्ञोपवीत के लिए लोगों के घर में एक-आध पेड़ मौजूद रहता है। कताई का अब तक विशेष महत्त्व नहीं रहा। बिहार में मसलिन आदि बारीक सूत के लिए और कहीं-कहीं बहुत थोड़ी मात्रा में इसका उपयोग होता था। अत मेरे लिए इसीके द्वारा यहाँ की कपास-समस्या हल करने का विचार दुरुस्त ही समझा जाता था। मैंने देखा कि देव-कपास से नीचे के नम्बर का सूत भी ठीक कत जाता है बल्कि रेशा मजबूत होने से उस सूत का कपड़ा मजबूत होने की ज्यादा सम्भावना थी। फिर भी इस कपास का विस्तृत प्रचार नहीं हो सका। इसका कारण सम्भवतः धुनाई की कठिनाई थी, क्योंकि इसके रेशे बहुत मुलायम होने के कारण धुनते समय धुनकी में लिपट जाते हैं। बारीक कातनेवालों को बहुत कम रूई की आवश्यकता होती है। अतः वे हाथ से धुनकर पूनी बना सकते थे। मोटा सूत कातनेवालों के लिए वैसा करना कहाँ सम्भव था?

कपास की कमी की समस्या

उन्हीं दिनों विनोबाजी की नयी धुनाई पद्धति से पूनी बनाने का प्रयोग चल रहा था। जेल से लौटकर वर्धा में उस प्रयोग की प्रगति मैं देख आया था। धुनाई की पद्धति का जितना भी अनुभव कर सका था उससे मालूम हुआ कि लम्बे रेशे की धुनाई अधिक आसानी और गति से हो सकेगी। पूनी बनाने के इस नये ढंग की प्रगति को देखकर देव-कपास की भावी सफलता पर मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया। अतः देव कपास के प्रचार के साथ-साथ मैंने धुनाई का भी प्रयोग आरम्भ किया। रणीवाँ के विद्यालय में और मगहर के सुधार-कार्यकर्त्ताओं के द्वारा ही

ऐसी बहुएँ थीं जो हमेशा परदे में रहती थीं। उस सभा में बहनों के उत्साह को देखकर मुझे स्वयं थोड़ा आश्चर्य हुआ। वहाँ मैंने अपनी योजना, बापू की कल्पना बहनों का समाज में स्थान, समाज-रचना में उनका महत्त्व आदि बातें बतायीं और कहा कि परिश्रमालय का उद्देश्य उन्हें इन तमाम बातों की शिक्षा देना है। उनके रुख से मालूम हुआ कि वे उस योजना को पसन्द करती हैं। शाम को करीब बीस-बाईस बहनें मुझसे मिलीं और योजना के सम्बन्ध में पूछताछ की। उनमें से ११ परिश्रमालय में भरती होने के लिए तैयार हो गयीं। बाद में उनकी संख्या बढ़कर १७ हो गयी। मैंने उन्हें साफ-साफ समझा दिया था कि इस प्रकार का परिश्रमालय चलाने के लिए उन्हें स्वावलम्बी होना पड़ेगा। इसलिए यह तय किया गया कि वे अपने कते हुए सूत में से चार गुंडी सूत मासिक परिश्रमालय के खर्च के लिए देंगी। बाद को जब मैं रतौली चला आया था तो उन बहनों ने मुझे लिखा कि वे चाहती हैं कि प्रारंभ में फीस दो गुंडी रखी जाय। जब कताई की गति बढ़ जाय तो चार गुण्डी कर दी जाय। बस्ती जिले के देहातों जैसे पिछड़े इलाके में सब स्त्रियाँ परदे से बाहर निकलकर परिश्रमालय में भर्ती हो गयीं यही बड़ी बात थी। फिर वे वहाँ पढ़ने के लिए फीस देना भी स्वीकार कर रही हैं इतना ही मेरे संतोष के लिए काफी था। अतः मैंने उसकी स्वीकृति दे दी। इस परिश्रमालय के द्वारा मैं दो बातों की जाँच करना चाहता था। इसके द्वारा किस प्रकार की और कितनी शिक्षा गाँव की स्त्रियों को दी जा सकती है और आठ आना मजदूरीवाली योजना में कठिनों को परिश्रमालय द्वारा किस गति समानता तथा मजबूती तक पहुँचाने की कल्पना की थी वह कहाँ तक व्यावहारिक है। यह परिश्रमालय ६ अगस्त के तूफान से पहले केवल दो माह चल पाया था अतः इस प्रयोग का नतीजा मालूम न हो सका। इस तरह इस प्रकार के प्रयोगों का सिलसिला दूसरी बार टूटा। आशा है कि अब जेल से निकलकर जो बेड़ा करूँगा उसमें सफल ही होकर रहूँगा।

● ● ●

ग्राम-सेवा का सबसे प्रथम और महत्त्व का साधन सेवक है। उसकी निजी तैयारी ही सबसे जरूरी चीज है। हमारे पढ़े-लिखे नौजवान अपनी

सेवक का जीवन

सभ्यता और संस्कृति में कमी आ जाने के भय से गाँव में टिक नहीं पाते हैं, उनकी नाक हमेशा सिकुड़ी ही रहत है गाँववालों से घुल मिलकर ग्राम-जीवन बिताने में वे सफल नहीं होते हैं, ये सब बातें मैं लिख चुका हूँ। अपने जीवन के तरीके और अपनी योजनाओं का सामंजस्य रख सकने के सम्बन्ध में भी मैंने लिखा है। वस्तुतः इन्हीं बातों के कारण हम सुधार-कार्य में असफल होते हैं, पर अपनी असफलता का कारण गाँववालों की अनुदारता और उनका दकियानूसीपन समझते हैं। भला बताओ तो कि यह कैसे सम्भव हो सकता है कि तुम प्रचार तो करो कि लोग घरभर खादी पहनें, अपना बचा समय कातने में लगायें, लेकिन खुद न कातो। दूसरों की स्त्रियाँ जो खेती का काम करती हैं, चक्की चलाती हैं, धान कूटती हैं, मवेशियों की सेवा करती हैं, घर-गृहस्थी के अनाज-पानी की व्यवस्था करती हैं खाना पकाती हैं, बर्तन साफ करती हैं और घर परिवार का सम्पूर्ण काम करती हैं, वे तो चरखा चलाने के लिए फुरसत पा जाती हैं लेकिन तुम्हारी स्त्रियों को जिन्हें सिर्फ खाना पकाना ही होता है, कभी फुरसत नहीं होती। हम हरिजन-सेवा का काम करना चाहते हैं, छुआछूत की अनुदार नीति मिटाने का प्रचार करते हैं, लेकिन जब अपने घर पर जाते हैं, तो सोचते हैं— बाप रे बाप! घरवाले देख लेंगे कि भंगी को छू लिया, तो आफत आ जायगी। हम शारदा ऐक्ट का प्रचार करते हैं बाल-विवाह अनमेल विवाह का विरोध करते हैं, विवाह-शादी में फिजूलखर्ची के विरोध में सभाएँ और भाषण करते हैं, लेकिन अपने यहाँ और मित्र तथा कुटुम्बी जनों के यहाँ उन्हीं सामाजिक कुप्रथाओं में केवल शरीक ही नहीं होते बल्कि उन अनुष्ठानों के लिए सक्रिय व्यवस्था करते हैं। दूसरों की स्त्रियों का परदा छुड़वाते हैं, उनसे हिल-मिलकर काम करते हैं, लेकिन अपनी स्त्री को परदे में रखते हैं। इस प्रकार की बातों के कारण ही हमारे अधिकांश सेवक असफल होते

स्थानीय रूप से हुई हैं। सामूहिक और विस्तृत रूप से ग्राम-सुधार-योजना की ओर बापू ने ही देश का ध्यान पहले-पहल सन् १९१४ ई० में बम्बई कांग्रेस के अवसर पर आकर्षित किया और स्वयं राजनीतिक क्षेत्र से अलग होकर ग्राम उद्योग-संघ के द्वारा ग्राम-उत्थान के कार्य में अपनी शक्ति लगा दी। फिर वर्धा मगनवाड़ी में बैठकर उन्होंने किस प्रकार से इस कार्य को प्रतिष्ठित किया उसे हमने देखा ही है। उन्होंने ग्राम-उद्योग-संघ की स्थापना इसीलिए की कि मुल्कभर में इस कार्य की नींव पड़ जाय। उनकी इस नीति का प्रभाव भी हुआ और ग्राम-सुधार की ओर सारे देश की रुचि पैदा हुई। सभी प्रांतों में कार्यकर्ता ग्राम-सुधार-कार्य की ओर आकृष्ट हुए और ग्रामीण जनता को संगठित करने का प्रयत्न जोरों से आरम्भ हुआ। गांधीजी की इस नयी योजना का असर सरकार पर भी पड़ा। उसे कदाचित् यह भय हुआ कि कहीं कांग्रेसवाले ग्राम-उद्योग तथा सुधार-योजना के द्वारा ग्रामीण जनता को संगठित न कर लें और उनसे प्रतिष्ठा स्थापित करके इस महती जन-शक्ति के अधिकारी न बन जायें। इसका परिहार करने के लिए उसने भी इसका विभाग खोल दिया और उसके लिए एक करोड़ रुपये का बजट भी बना डाला। यद्यपि कांग्रेस और सरकार दोनों की ओर से इस कार्य के लिए कदम उठाया गया पर सही रास्ता दो में से एक को भी नहीं मिल सका।

असफलता के कारण

राष्ट्रीय कार्यकर्ता देहातों में जाते हैं, गाँववालों की कमियाँ बयान करते हैं और कहीं-कहीं झाड़ू लेकर गाँव की गलियों के कूड़ा-करकट की सफाई करने की चेष्टा करते हैं। यह सब तो किया गया लेकिन गाँव की समस्याओं के मूल को नहीं देखा गया। यही कारण है कि ग्राम-सुधार-कार्य में अधिक सफलता नहीं मिली। ग्राम-सुधार के कार्य को गाँववालों की आर्थिक समस्या से अलग करके देखना मूल प्रश्न की उपेक्षा करना है। फलतः लोग बापू का दृष्टिकोण न समझ सके। बापू ने ग्राम-उत्थान का कार्यक्रम चलाने के लिए ग्राम-उद्योग-संघ की स्थापना क्यों की? गाँव-

स्वावलम्बन आवश्यक

की पकड़ सकेगी, वो उनके पतन का कारण हो रही है। उपदेश देकर और करुणा दिखाकर उनको अपाहज ही बनाया गया। सदा की भाँति वे यही समझते रह गये कि कोई बाहर से आकर उनके कष्ट दूर कर देगा और वे स्वयं निकम्मे तथा निर्बल हैं। इस प्रकार गाँव का उद्धार होनेवाला नहीं है। पंचायत का सहज और स्वाभाविक विकास हुए बिना पंचायत-घर किस काम का! ग्रामवासियों की शिक्षा, संस्कृति और चरित्र का विकास हुए बिना कुएँ की जगत, पुल और पक्की गली एक बार बन जाने पर भी टिक न सकेगी। ऐसी दशा में पुलों और कुओं की ईंटें निकालकर वे अपना चूल्हा या नाली बना लेंगे। यह ठीक है कि उन्हें आराम का सामान चाहिए। लेकिन हम उन्हें दान देकर तो उसे पूरा नहीं कर सकते। हमें ऐसी परिस्थिति पैदा करनी है कि वह सामान वे खुद अपनी शक्ति से ही जुटा सकें। केवल भारत के लिए ही नहीं संसार के उन देशों के लिए भी जहाँ दिन-दिन राष्ट्र के सर्वांगीण जीवन की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार द्वारा करने की चेष्टा हो रही है, वहाँ के चिन्ताशील लोग इसी सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। श्री बर्नार्ड शा को तो सभी जानते हैं। लोगों को आराम की सामग्री की प्राप्ति के सम्बन्ध में वे कहते हैं: There should be more food, more clothing, better houses more security more health, more virtue in a word more prosperity Any attempt to secure the above should be self-initiated, self-directed, self-corrected and self-controlled. अर्थात् जनता को अधिक अन्न अधिक कपड़ा अधिक अच्छे घर अधिक शान्ति अधिक स्वास्थ्य, अधिक सद्गुण अथवा एक शब्द में अधिक खुशहाली चाहिए। उक्त स्थिति पाने की जो भी चेष्टा हो वह आत्मनिर्मित आत्म-संचालित आत्म-परीक्षित और स्वतन्त्र होनी चाहिए।

स्वतः आगे बढ़ने को उत्साहित होते हैं। ऐसे उत्साह के वातावरण में दूसरे कार्यक्रम उनके सामने पेश करने से वे उन्हें सहज ही ग्रहण करते हैं। इस तरह सुधार-कार्य करते हुए हमें कार्यक्रम ऐसा बनाना चाहिए, जिसकी प्रगति सहज और स्वाभाविक ढंग से हो सके। ग्रामवासी उसे अपना काम समझकर स्वतः सहयोग करने के लिए आगे बढ़ें। अब तक हमने गाँव में कार्य करने का ढंग कुछ दूसरा ही रखा है। यह नहीं देखा कि ग्रामवासी चाहता क्या है? बल्कि अपनी इच्छा-शक्ति और संस्कार के अनुसार भिन्न-भिन्न बातों को सुधारने की जरूरत हमें महसूस हुई, उन्हींको अपने कार्यक्रम का अंग बनाकर काम शुरू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि देहाती उससे एकात्मिकता की अनुभूति न कर सके। इसलिए अब आवश्यकता इस बात की है कि देहाती जनता की प्रवृत्ति और उसके दृष्टिकोण तथा इच्छा को लेकर कार्यक्रम बनायें। उसका क्रम कुछ इस प्रकार हो सकता है :

(१) ऐसे कार्य, जिनके लिए ग्रामीण जनता खास तौर से अभाव महसूस करती हो और जिनसे उसका प्रत्यक्ष आर्थिक लाभ हो और जिन्हें शुरू करने में अधिक झंझट न मालूम हो। चरखा इस प्रकार का काम हो सकता है।

(२) ऐसे काम जिनके लिए ग्रामवासियों के हृदय में आदर हो, किन्तु साधन तथा संगठन के अभाव से वे उन्हें न कर पाते हों। पाठशालाओं की स्थापना ऐसा काम है। भारतीय जनता आज की बदहालत की हालत में भी शिक्षा का महत्त्व समझती है। आज के स्वार्थपूर्ण और भौतिकवादी वातावरण में भी गाँव में पाठशालाओं के लिए दान देने का रिवाज बचा है। हमारे पूर्व-पुरुषों ने विद्या-दान का संस्कार इतना अधिक भर दिया है कि प्रत्येक भारतीय के हृदय में इसके लिए स्थान है। अगर वे स्वयं इस काम को नहीं कर सकते तो केवल इसलिए कि आज उनमें संगठन का अभाव है।

(३) ऐसे काम जिन्हें हम उनके लाभ का समझते हैं, परन्तु वे जिनका

अभाव महसूस नहीं करते हैं। लेकिन वे काम ऐसे हों, जिनके लिए प्रारम्भ में उन पर किसी प्रकार का आर्थिक बोझ न पड़े। जब आर्थिक बोझ न पड़ेगा तो पहले दो प्रकार के कामों के बाद हमारी बात सुनकर वे ऐसे काम करने में पसोपेश नहीं करेंगे। उदाहरणार्थ अखाड़ा चलाना, आर्थिक स्थिति की जानकारी के लिए रजिस्टर रखना, त्योहार आदि मनवाना और पेड़ लगवाना आदि काम कराये जा सकते हैं।

(४) ऐसे काम, जिनके न करने से जनता को नुकसान है, लेकिन रूढ़ि, आदत तथा आलस्य के कारण वे उसे करना नहीं चाहते। जैसे घर की सफ़ाई और नाबदान की सफ़ाई आदि।

(५) ऐसे काम जो सामूहिक रूप से गाँव के लाभ के हैं, जिनमें व्यक्तिगत लाभ कुछ न हो; बल्कि उसे करने में कुछ त्याग ही करना पड़े। जैसे गाँव की सफ़ाई, सड़क निकालना, खाद के गड्ढे खुदवाना आदि।

(६) ऐसे काम, जिन्हें करने के लिए ग्राम-समिति या पंचायत के ठोस संगठन को नैतिक अधिकार प्राप्त हो।

क्रम से काम चुनते समय इस बात का ध्यान रखना भी ज़रूरी है कि जिस संस्था के द्वारा संचालन किया जाय वह उसके लिए उचित साधन जुटा सके। छोटी-छोटी स्वतंत्र संस्थाओं के लिए जिस क्रम से योजना बनानी होगी वह चरखा-संघ तथा ग्रामोद्योग-संघ जैसी बड़ी संस्थाओं के लिए लागू न होगा। चरखा-संघ तथा ग्राम-उद्योग-संघ के क्रम से भी राष्ट्रीय सरकार द्वारा बनायी योजना का काम बिल्कुल पृथक् होगा। जिस गाँव में काम होगा उसकी योग्यता तथा प्रकृति का भी ध्यान रखना होगा।

अब तक ग्राम-सुधार के लिए जितनी चेष्टा की गयी है, उसमें प्रायः इन बातों का ध्यान नहीं रखा गया। सिर्फ़ यह देखा जाता रहा कि किस काम में हमको आसानी होगी। अधिकतर दृष्टि तो प्रदर्शन की लम्बी बनावटों पर रहती रही है। उदाहरण से हैं प्रारम्भ में प्रायः बाहरी आर्थिक मदद से कुओं की मरम्मत, नालियों और गलियों की सफ़ाई आदि कामों की ओर ध्यान जाता रहा है। इस काम में कुछ सफलता भी हुई है।

ग्राम-सुधार-योजना में स्वभावतः लोग ग्राम-पंचायत बनाकर गाँव के झगड़े निबटाने की ओर पहले ही झुक जाते हैं। लेकिन ग्राम-संघटन के लिए पंचायत की चाहे जितनी आवश्यकता हो प्रारंभ में वह चल नहीं सकती। यह सही है कि प्राचीन काल से भारत की समाज व्यवस्था ग्राम-समिति और पंचायत पर बनी रही थी काफी वैज्ञानिक और उन्नत थी। इसकी सफलता का असर समाज में इतना गहरा था कि आज की गिरी हुई दशा में भी इस संस्था को जनता भक्ति और आदर से देखती है। पंचपरमेश्वर की भावना प्रत्येक भारतवासी के हृदय में संस्कारभूत हो गयी है। यही कारण है कि जहाँ लोग अदालत में निःसंकोच झूठ बोल जाते हैं वहाँ पंचायत के सामने झूठ बोलने में हिचकते हैं। अतः ग्रामीण जनता पंचायत की बात आसानी से समझकर इसके लिए जल्द तैयार हो जाती है। लेकिन जैसे ही वह पंचायत गाँव के मामलों को सुलझाने बैठती है कि फौरन झगड़े होने के कारण टूट जाती है। इसका कारण यह है कि गाँव *में किसी पर जनता का विश्वास नहीं है।* जब तक समिति या पंचायत पर जन-समाज का विश्वास पैदा नहीं होता है, तब तक उसके द्वारा कोई भी काम नहीं हो सकता। और यह तभी हो सकता है जब जनता में सही नेतृत्व पैदा हो सके। आजकल लोकतंत्र का जो नारा बुलन्द हुआ है, *उसके असर में आकर गाँव की वास्तविक स्थिति को ग्राम-सेवक भूल न* जाय और तब तक गाँव के झगड़े निबटाने आदि के लिए पंचायत का संघटन न करे जब तक ठोस कार्यक्रम के आधार पर देहातों में सेवा की बुनियाद पर सही नेतृत्व की स्थापना न हो जाय। सेवक को धैर्य से ही काम करना होगा। हाँ इस बात का ध्यान जरूर रखना होगा कि जो भी काम करे उसको यथासम्भव आरम्भ से ही गाँव के कुछ लोगों की समिति द्वारा चलाने की चेष्टा करे। उनके लिए कुछ-न-कुछ जिम्मेदारी उन पर अवश्य रखे जिससे इन्हीं लोगों की समिति क्रमशः ग्राम-पंचायत का रूप लेकर भविष्य में लोकतन्त्र की सही बुनियाद बन सके। भावी स्वावलम्बी समाज आर्थिक सहयोग-समितियों के आधार पर ही संघटित

होगा लेकिन आज हम जिन छोटी-छोटी समितियों का संगठन करेंगे, कल समाज-व्यवस्था उन्हींकी समष्टि होगी। अतः आरम्भ से ही जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। योजना का क्रम निश्चित करते समय गाँववालों की आवश्यकता तथा योग्यता का विचार करना आवश्यक है। पहले अन्न, वस्त्र तथा आश्रय की व्यवस्था होनी चाहिए, फिर आराम और उसके बाद शृंगार आदि की।

ऊपर लिखी बातों को ध्यान में रखकर ही हमारी सुधार-योजना बन सकती है। यद्यपि समाज-जीवन एक सम्पूर्ण वस्तु है, फिर भी हमें योजना बनाने के लिए गाँव की विभिन्न समस्याओं पर अलग-अलग विचार करना होगा। इस तरह हम सारे कार्यक्रमों को मुख्यतः निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं:

(१) उद्योग,
(२) शिक्षा और संस्कृति
(३) सफाई और स्वास्थ्य
(४) कृषि और बागवानी,
(५) गोपालन और
(६) यातायात और कर।

यदि उपर्युक्त विषयों का संगठन हम एक-दूसरे से सामंजस्य रखकर कर सकें तो ग्राम-समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकते हैं। मैंने प्रत्येक विषय के पारस्परिक सामंजस्य रखने की बात कही है क्योंकि मैंने देखा है कि हमारे सुधार-कार्यकर्ता प्रायः इस दिशा में उदासीन रहते हैं।

संस्था का रूप

हमारी सारी योजना का क्रम उसकी रूपरेखा इस बात पर निर्भर करती है कि हम किस संस्था के द्वारा सुधार-कार्य करते हैं। हमारे देश में चार मुख्य साधन इसके लिए हो सकते हैं: (१) व्यक्तिगत रूप से सामान्य साधन के साथ (२) छोटी-छोटी स्वतन्त्र संस्थाओं द्वारा (३) चरखा-संघ तथा ग्राम-उद्योग-संघ की मार्फत और (४) प्रान्तों की लोकतन्त्री सरकार द्वारा। जो लोग व्यक्तिगत रूप

से काम करना चाहते हैं, उनके लिए मैं सिर्फ इतना कहना चाहता हूँ कि ग्राम की दुनिया में व्यक्तिगत रूप से अकेले काम करने का जमाना चला गया है। हमारा दुर्भाग्य है कि हम संगठित रूप से कुछ कर नहीं सकते। प्रायः देखा गया है कि जिनमें बुद्धि है, योग्यता है, आर्थिक कठिनाई नहीं है, त्याग की सामर्थ्य रखते हैं वे या तो संस्थाओं में शामिल नहीं होते या शामिल भी हुए, तो टिक नहीं सकते। वे उन संस्थाओं को या तो अपने आदर्श के अनुकूल नहीं देखते अर्थात् उनमें उन्हें बुराई ही बुराई नजर आती है उन्हें यह लगता है कि संस्था में स्वतंत्रता ही नहीं है, वहाँ तो व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है, मेरी तो कुछ चलती ही नहीं इत्यादि। मेरा नम्र निवेदन है कि ऐसा सोचना पढ़े-लिखे नौजवानों की उच्छृंखलता और अहंभाव का ही परिचायक है। वे पाँच आदमियों की राय में राय मिलाकर चल नहीं सकते। यही कारण है कि हमारे यहाँ संस्थाएँ नहीं बन पातीं और बनती भी हैं तो अधिक दिन टिक नहीं सकतीं। लेकिन बिना संस्था बनाये देहातों का पुनर्गठन-काम सफल नहीं हो सकता, यह मेरी पक्की धारणा है। अतः मैं जो कुछ कार्यक्रम और योजना लिखना चाहता हूँ, वह संस्थाओं के द्वारा चलायी जानेवाली होगी।

ग्राम-उद्योग का चुनाव

संस्थाओं में सबसे पहले मेरी दृष्टि चरखा-संघ तथा ग्राम उद्योग-संघ की ओर जाती है क्योंकि मेरी दृष्टि में सरकार के अलावा यही दो संस्थाएँ हैं जो किसी प्रकार की व्यापक योजना का प्रयोग कर सकती हैं और जनता उन्हें अपनी चीज समझती है।

ग्राम उद्योग-कार्य चलाने के लिए मुख्य प्रश्न उद्योगों का चुनाव है। हमें उन्हीं उद्योगों को चुनना होगा जिनके लिए कच्चे माल का साधन देहातों में सुलभ हो जिनके लिए औजार और मकान आदि की पूँजी गाँव की हैसियत के अन्तर्गत हो और अधिकांश माल की खपत गाँव में हो। अधिकांश माल की खपत होने का मतलब यह नहीं है कि ग्राम भी उसे बाहर बेचने की आवश्यकता न होगी आवश्यक तो

चीजें हों या जिनके लिए नाममात्र पूँजी की आवश्यकता हो और जिनकी खपत ग्राम की परिस्थिति में भी उत्पादक के यहाँ ही हो। उन्हें प्रत्येक परिवार की बचत के समय में सहायक धन्धे के रूप में चलाना होगा। जैसे ढेंकी चक्की और चरखा आदि।

२ ऐसे उद्योग, जिनके लिए पूँजी की आवश्यकता मामूली हो लेकिन प्रथम प्रकार के उद्योगों की तरह जिन्हें सार्वजनीन रूप से नहीं चलाया जा सके, जिनकी खपत सार्वजनीन न हो सके। उन्हें पारिवारिक रूप में चलाना चाहिए यानी वह उद्योग एक सम्पूर्ण परिवार का मूल धन्धा होगा। जैसे—तेल-घानी, बुनाई, साबुन बनाना मिट्टी का काम चमड़ा पकाना आदि। अधिक अनुभव के बाद मुझे ऐसा लगता है कि तेलघानी बैल के बेकार समय में हो सके, इसलिए किसान के सहायक धन्धे के रूप में चलाना अच्छा होगा। बुनाई के काम भी बहुत से परिवारों मे सहायक उद्योग के रूप में अच्छा चलने का अनुभव हमें अब मिल रहा है।

३ कुछ धन्धे ऐसे हैं, जिनके लिए कुछ पूँजी की आवश्यकता है या जिनके लिए मशीन की आवश्यकता है, जिससे गाँवभर का काम चलता हो या जिनके चलाने में गाँव के प्रायः सभी लोगों का ...है। उन्हें ग्राम-सहयोग-समिति के द्वारा चलाना चाहिए।

इस प्रकार तीन श्रेणियों को हम क्रमशः (१) गृह-उद्योग (२) कुटुम्ब-उद्योग और (३) ग्राम-उद्योग कह सकते हैं। उद्योगों के चुनने के बाद हमें इस पर विचार करना चाहिए कि उनका क्रम क्या होगा। वस्तुतः उचित क्रम से काम न करने के कारण प्रायः हम असफल हो जाते हैं। हमें देखना होगा कि किस उद्योग के साथ कौन उद्योग अधिक से-अधिक सम्बन्धित है; क्योंकि परस्पर सम्बन्धित उद्योगों की क्रमशः स्थापना सरल होती है। उदाहरण के लिए चरखे को ही ले लो। चरखे के बाद बढ़ईगिरी लोहारी और बुनाई आप-से-आप आ जाते हैं। चरखा चल जाने पर उससे सम्बन्धित उद्योगों के लिए कच्चा माल और बाजार

ग्राम-सुधार की दृष्टि से केवल बच्चों की पढ़ाई ही एकमात्र काम नहीं है। हमें तीन श्रेणियों के लोगों की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी (१) प्रौढ़ पुरुष (२) प्रौढ़ स्त्रियाँ और (३) बच्चे। प्रौढ़ पुरुषों की शिक्षा के लिए कांग्रेस-सरकार ने साक्षरता का जो कार्यक्रम चलाया था, उस सम्बन्ध में अपने अनुभव मैं पहले लिख चुका हूँ। उस प्रकार का साक्षरता का कार्यक्रम चलाना बेकार है। पूरी शिक्षा के लिए न उनके पास समय है न धैर्य। कताई जैसा कोई सार्वजनिक उद्योग उनके लिए हमारे हाथ में होता, तो उसके सम्बन्ध में कुछ चेष्टा की जा सकती थी लेकिन हमारे साधन इसके लिए काफी नहीं हैं, अतः इस काम की व्यापक चेष्टा भविष्य की राष्ट्रीय सरकार के लिए छोड़ देनी पड़ेगी। हम बाल बच्चों के लिए रात्रि-पाठशाला आदि जो प्रबन्ध करेंगे, उसी में प्रौढ़ों को भी पढ़ाने की थोड़ी व्यवस्था हो सकती है और उद्योग के कार्यक्रम में जो लोग हमारे प्रबन्ध में काम करेंगे, उनके काम के साथ शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो सकता है। त्योहार आदि का उचित प्रबन्ध कर स्वास्थ्य, सफाई, कला आदि की शिक्षा की चेष्टा भी की जा सकती है। परिश्रमालय की मारफत प्रौढ़ स्त्रियों की शिक्षा की बाबत मैं लिख चुका हूँ। कताई की मजदूरी देकर शिक्षा-शिविर चलाने की योजना के साथ भी शिक्षा की व्यवस्था की चर्चा की है। इस दिशा में मैंने जो प्रयोग किये हैं उनसे मेरा विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्रौढ़ पुरुषों की अपेक्षा प्रौढ़ स्त्रियाँ आसानी से शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। परिश्रमालय के पास साधन हैं। १४ लाख कत्तिनों से वह सम्बन्धित है। उनमें यदि ८ लाख स्त्रियों को वह ठीक से शिक्षित कर दे तो ग्रामीण जनता क्रान्तिकारी गति से सुधार की ओर बढ़ सकती है। हम यदि सफलता के साथ कताई-परिश्रमालय चला सकें तो अवश्य वही परिश्रमालय स्थायी रूप लेकर स्त्रियों को शिशु-पालन, गृह-सेवा आदि की शिक्षा भी देने का प्रबन्ध कर सकता है।

बच्चों की शिक्षा के लिए पिछले वर्षों में मैंने जो कुछ प्रयोग किया है

मेरी राय में उसी तरह का प्रबन्ध अच्छा होगा। जितने बच्चे उद्योग के

बच्चों के लिए शिक्षा आवश्यक

साथ दिनभर के विद्यालय में आ सकें, वे उसीमें पढ़ सकते हैं। लेकिन हमारे साधन से तथा गाँववालों की आज की स्थिति के अनुसार इस प्रकार के विद्यालय अभी अधिक नहीं खुल सकेंगे और न उन विद्यालयों में कुल लड़के आ सकेंगे। अतः शुरू में गाँव की कताई-समिति की मार्फत रात की तथा दोपहर की पाठशालाओं का संगठन करना ठीक होगा। पाठशालाओं का समय रात में २ घंटे और दोपहर को २ घंटे रखा जा सकता है। बहुत छोटे बच्चों के लिए दोपहर का और कुछ बड़ों के लिए रात का समय अधिक सुविधाजनक होगा। किसान और मजदूरों के बच्चों के लिए दूसरे समय गृहस्थी का काम छोड़कर पाठशालाओं में आना सम्भव नहीं है। इस प्रकार २ घंटे की पाठशालाओं के लिए शिक्षक भी सुगमता से प्राप्त होंगे क्योंकि वे दूसरे काम के साथ बीच में पढ़ा सकेंगे। वस्तुतः बच्चों को पढ़ाने के लिए स्त्री अध्यापिकायें तलाश करनी चाहिए। मेरी राय में बच्चों की शिक्षा के लिए स्त्रियाँ अधिक उपयोगी हो सकती हैं। देहातों की पाठशालाओं के अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि बच्चों के लिए पुरुष शिक्षक प्रायः अयोग्य ही नहीं हानिकारक भी होते हैं। लेकिन गाँवों में शिक्षित पुरुष ही मिलने कठिन हैं शिक्षित स्त्रियाँ कहाँ से मिलेंगी। अतः प्रारम्भ में पुरुषों से ही काम चलाकर स्त्रियों की तलाश करनी होगी। परिश्रमालय के द्वारा स्त्री-शिक्षा की योजना सफल होने पर हम क्रमशः इस कमी को भी दूर कर सकेंगे। पाठशालाओं के चलाने में कुछ खर्च पड़ेगा। उसके लिए बच्चों से फीस के रूप में एक-आध गुण्डी सूत ले सकते हैं। गाँव की पाठशालाओं के अलावा १०-१२ गाँवों के बीच उद्योग के साथ मिडिल स्कूल की योजना बनायी जा सकती है। इन स्कूलों में ४ घंटा कताई तथा अन्य उद्योग और ४ घंटा पढ़ाई का समय रखा जा सकता है। कताई के सूत में से ही विद्यार्थी पाठशाला के खर्च के लिए फीस देने का और अपनी किताबों

अनुसार भी प्रति गाँव केवल ११७५ गज सालाना कपड़े की आवश्यकता होगी और इसके लिए ६ परिवार से अधिक बुनकरों की आवश्यकता न होगी। अतः प्रति गाँव ५ बुनकर के हिसाब से अधिक बुनकरों का संगठन नहीं करना चाहिए। इसमें परिस्थिति के अनुसार इस बात की छूट अवश्य देनी होगी कि प्रत्येक गाँव में ५ बुनकरों की बस्ती चाहिए या ५-६ गाँवों के बीच में चाहे जहाँ २५ ३ बुनकरों की बस्ती हो। मुख्य नियम यह हो कि कारीगरों की बस्ती इतनी पास हो, जिससे उस काम के लोग उनसे प्रत्यक्ष लेन देन कर सकें। कारीगर से अधिक दूर रहने से लेन-देन के लिए मध्यस्थ की आवश्यकता होगी और यही मध्यस्थता की संस्था समाज के स्वावलम्बन को नष्ट करनेवाली चीज है। अतः हमारी योजना में मध्यस्थता का स्थान जितना कम हो उतना ही हम सिद्धान्त के निकट होंगे।

कपड़े की आवश्यकता और बुनकर

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि "आखिर आप कितने गाँवों की इकाई को स्वावलम्बी बनाना चाहते हैं ?" इस प्रश्न का कोई निश्चित जवाब नहीं दिया जा सकता। यह हिसाब गाँव की आबादी एक गाँव से दूसरे गाँव की दूरी उद्योगों के प्रकार आदि बातों पर निर्भर करता है। अगर बस्ती घनी है, तो इकाई थोड़े गाँवों की होगी। अगर आबादी थोड़ी है तो इकाई में अधिक गाँवों को ले सकते हैं। अगर गाँव दूर-दूर हैं तो थोड़ी आबादी होने पर भी कम गाँव लेने पड़ेंगे। फिर जिस उद्योग की मात्रा और आवश्यकता अधिक हो कारीगर से रोज का हिसाब रखना जरूरी हो उसके लिए जितने कम गाँवों की इकाई होगी उतना ही अच्छा। जिस चीज की आवश्यकता कभी-कभी और कम मात्रा में हो उसके लिए कारीगर की बस्ती दूर भी हो सकती है। मतलब यह कि हमको हरएक पर ध्यान में रखकर ही अपना काम करना है। लेकिन ध्यान रखिएगा सहूलियत पुरानता या इच्छा आदि बातों का ख्याल उसी हद तक करना होगा जिस हद तक जाने पर हमारी प्रगति का ध्य आदर्श ही ध्यान बना रह सके।

ग्राम-सुधार की दृष्टि से केवल बच्चों की पढ़ाई ही एकमात्र काम नहीं है। हमें तीन श्रेणियों के लोगों की शिक्षा की व्यवस्था करनी होगी : (१) प्रौढ़ पुरुष, (२) प्रौढ़ स्त्रियाँ और (३) बच्चे। प्रौढ़ पुरुषों की शिक्षा के लिए कांग्रेस-सरकार ने साक्षरता का जो कार्यक्रम चलाया था उस सम्बन्ध में अपने अनुभव मैं पहले लिख चुका हूँ। उस प्रकार का साक्षरता का कार्यक्रम चलाना बेकार है। पूरी शिक्षा के लिए न उनके पास समय है, न धैर्य। कताई जैसा कोई सार्वजनिक उद्योग उनके लिए हमारे हाथ में होता तो उसके सम्बन्ध में कुछ चेष्टा की जा सकती थी लेकिन हमारे साधन इसके लिए काफी नहीं हैं, अतः इस काम की व्यापक चेष्टा भविष्य की राष्ट्रीय सरकार के लिए छोड़ देनी पड़ेगी। हम आज बच्चों के लिए रात्रि-पाठशाला आदि जो प्रबन्ध करेंगे, उसी में प्रौढ़ों को भी पढ़ाने की थोड़ी व्यवस्था हो सकती है और उद्योग के कार्यक्रम में जो लोग हमारे प्रबन्ध में काम करेंगे, उनके काम के साथ शिक्षा का कुछ प्रबन्ध हो सकता है। त्योहार आदि का उचित प्रबन्ध कर स्वास्थ्य, सफाई, कला आदि की शिक्षा की चेष्टा भी की जा सकती है। परिश्रमालय की मारफत प्रौढ़ स्त्रियों की शिक्षा की बाबत मैं लिख चुका हूँ। कताई की मजदूरी देकर शिक्षा-शिविर चलाने की योजना के साथ भी शिक्षा की व्यवस्था की चर्चा की है। इस दिशा में मैंने जो प्रयोग किये हैं उनसे मेरा विश्वास दृढ़ हो गया है कि प्रौढ़ पुरुषों की अपेक्षा प्रौढ़ स्त्रियाँ आसानी से शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं। चरखा-संघ के पास साधन है। १४ लाख कत्तिनों से वह सम्बन्धित है। उनमें यदि ७ लाख स्त्रियों को वह ठीक से शिक्षित कर दे तो ग्रामीण जनता क्रान्तिकारी गति से सुधार की ओर बढ़ सकती है। हम यदि सफलता के साथ कताई-परिश्रमालय चला सकें तो क्रमशः वही परिश्रमालय स्थायी रूप लेकर स्त्रियों को शिशु-पालन, प्रसूति-सेवा आदि की शिक्षा भी देने का प्रबन्ध कर सकता है।

बच्चों की शिक्षा के लिए देहातों में मैंने जो कुछ प्रयोग किया है

बच्चों के लिए शिक्षा आवश्यक

मेरी राय में उसी तरह का प्रबन्ध अच्छा होगा। जितने बच्चे उद्योग के साथ दिनभर के विद्यालय में आ सकें वे उसीमें पढ़ सकते हैं। लेकिन हमारे साधन से तथा गाँववालों की आज की स्थिति के अनुसार इस प्रकार के विद्यालय अभी अधिक नहीं खुल सकेंगे और न उन विद्यालयों में कुल लड़के आ सकेंगे। अतः शुरू में गाँव की पंचायत-समिति की मार्फत रात की तथा दोपहर की पाठशालाओं का संगठन करना ठीक होगा। पाठशालाओं का समय रात में २ घंटे और दोपहर को २ घंटे रखा जा सकता है। बहुत छोटे बच्चों के लिए दोपहर का और कुछ बड़ों के लिए रात का समय अधिक सुविधाजनक होगा। किसान और मजदूरों के बच्चों के लिए दूसरे समय गृहस्थी का काम छोड़कर पाठशालाओं में आना संभव नहीं है। इस प्रकार २ घंटे की पाठशालाओं के लिए शिक्षक भी सुगमता से प्राप्त होंगे, क्योंकि वे दूसरा काम के साथ बीच में पढ़ा सकते। छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए स्त्री अध्यापिकाएँ तलाश करनी चाहिए। मेरी राय में बच्चों की शिक्षा के लिए स्त्रियाँ अधिक उपयोगी हो सकती हैं। देहातों की पाठशालाओं के अनुभव के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि बच्चों के लिए पुरुष शिक्षक प्रायः अयोग्य ही नहीं, हानिकारक भी होते हैं। लेकिन गाँवों में शिक्षित पुरुष ही मिलना कठिन है, शिक्षित स्त्रियाँ कहाँ से मिलेंगी? अतः प्रारम्भ में पुरुषों से ही काम चलाकर स्त्रियों की तलाश करनी होगी। परिभ्रमण के द्वारा स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था लागू होने पर हम क्रमशः इस कमी को भी पूरा कर सकेंगे। पाठशालाओं के चलाने में कुछ खर्च पड़ेगा। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

आदि का काम चला सकते हैं। मेरा विश्वास है कि उचित वायुमण्डल पैदा होने पर ये स्कूल स्वावलम्बी हो सकते हैं।

संस्कृति शिक्षा का ही परिणाम है। उद्योग तथा अक्षर-ज्ञान के सिवा गाँव में सामूहिक रूप से कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रम रखना आवश्यक है।

त्योहारों द्वारा व्यापक शिक्षा

इसके लिए कुछ चुने हुए त्योहारों का मनाना, भजन-मंडली, नाटक आदि का आयोजन किया जा सकता है। हर गाँव में ग्राम-समिति दीवाली, वसंत पंचमी, होली, ईद मनाने का आयोजन कर सकती है। इसके सिवा गाँवों में स्थानीय त्योहार भी होते हैं, जिन्हें कलापूर्ण ढंग से मनाने का आयोजन किया जा सकता है। होली, दीवाली आदि त्योहारों के द्वारा आधुनिक ढंग से सांस्कृतिक शिक्षा और उसका विकास करना हमारा लक्ष्य है। इन मौकों का उपयोग इस प्रकार करना मनोरंजन के साथ-साथ ग्राम-जीवन की उन्नति का कारण होगा। जैसे ईद और दीवाली के अवसर पर गाँव की सफाई का कार्यक्रम खास तौर से रखा जा सकता है। घर को दीपावली की सजावट के द्वारा कला का विकास किया जा सकता है। बसंतपंचमी का त्योहार बच्चों के लिए रखा जा सकता है। उसी दिन पाठशालाओं का वार्षिकोत्सव मनाया जा सके, तो उसी त्योहार को सांस्कृतिक शिक्षा का एक उत्तम साधन बनाया जा सकता है। सोचने की बात है कि सारे बच्चे बसन्ती रंग के कपड़े पहनकर पाठशालाओं में जाने लगेंगे उनकी सजावट करने लगेंगे, विनोद के लिए खेल कूद का प्रदर्शन करेंगे, छोटे-छोटे बालोपयोगी नाटक खेलने का आयोजन करेंगे माताएँ जब उस अवसर पर यत्न से संचित वस्त्रों को निकालकर अपने बच्चों को सजायेंगी तो क्या गाँव के लोगों में आज जैसा अपने को दीन-हीन समझने का भाव मन्द न पड़ेगा? मैंने तो कहीं-कहीं थोड़े से अनुष्ठानों की व्यवस्था करके देखा है कि ऐसे समय ऐसा लगता है मानो सारे गाँव में झिलमिल जान फूँक दी है। इसी प्रकार होली का भी उचित ढंग से संपादन

स्वयंसेवकों को गाँव का संगठन मजबूत बनाने रखने की शिक्षा देनी पड़ेगी। गाँव की सफाई सड़कों की हालत ठीक रखना, आग बाढ़ आदि आकस्मिक दुर्घटनाओं के समय हिफाजत करना आदि काम सेवा-दल को करने होंगे। उनकी शिक्षा इस प्रकार की होनी चाहिए कि यदि कभी डाकुओं आदि का आक्रमण हो, तो वे उनका मुकाबला भी ठीक से कर सकें।

मैंने अपने निजी साधना से प्रौढ़ साक्षरता के कार्यक्रमों को न चलाने की सलाह दी है। किन्तु यदि उपर्युक्त अनुष्ठानों को उचित ढंग से गठित किया जाय, तो जनता साक्षर भले ही न हो सके, प्रौढ़-शिक्षा तो भली-भाँति हो जायगी। उसका जीवन संस्कृत तथा परिमार्जित तो हो ही जायगा ज्ञान-भण्डार भी बढ़ेगा। फिर जब जनता में इतना ज्ञान और संस्कृति का प्रसार हो जायगा, तो लोग स्वतः पढ़ने के लिए प्रयत्न करने लगेंगे।

सांस्कृतिक विकास के साथ सफाई और सफाई के साथ स्वास्थ्य का कार्यक्रम सहज और स्वाभाविक रूप से आ जाता है। गाँव में स्वास्थ्य तथा सफाई-सम्बन्धी प्रारम्भिक नियमों के ज्ञान की कितनी आवश्यकता है, यह किसीसे छिपा नहीं है। बापूजी ने अपनी 'ग्राम-सेवा' नामक पुस्तक में सबसे मुख्य प्रश्न सफाई और स्वास्थ्य का ही रखा है। उन्होंने सारे गाँव को एक प्रकार से घूर ही कहा है। फिर भी मैंने प्रारम्भ में सफाई का कार्यक्रम रखने की राय नहीं दी है। पिछले पत्रों में कई जगह पर इसके कारणों का जिक्र मैंने किया है। ग़ौर से सोचा जाय तो गाँव की आज की परिस्थिति में घूर हटा भी दिया जाय तो सफाई और स्वास्थ्य की दृष्टि से विशेष फायदा नहीं होनेवाला है। कारण यह है कि आज देहातों में प्रायः सभी परिवार अपने पशुओं को अपने घर के साथ ही रखते हैं। मवेशियों को घरों के अन्दर कायम रहने देकर घूर हटाने के कार्यक्रम का कोई अर्थ ही नहीं। बल्कि व्यर्थ के लिए लोगों की परेशानी बढ़ाने का प्रस्ताव करना है। आज

सफाई और स्वास्थ्य

बार-बार औषधालय के विरोध में लिखा करते थे, उनसे मैं सहमत नहीं हो सका था, लेकिन अनुभव से मैंने देखा कि हमारे लिए इस प्रकार की सेवा बेकार है। आज देहाती जनता का स्वास्थ्य इतना गिरा हुआ है कि दवा देकर हम पार नहीं पा सकते। हमारे पास इतने साधन कहाँ हैं? औषधालय का काम करने लगें, तो सारा समय उसीमें चला जायगा, फिर सबके पास न जा सकने के कारण कुछ लोगों को हम नाराज भी कर देते हैं। हमारे औषधालय से एक बुनियादी हानि पैदा होती है कि लोगों की खैरात की ओर रुझान हो जाती है और हर बात के लिए वे हमारा मुँह ताकने लगते हैं। वस्तुतः औषधालय की योजना तो ग्राम-सुधार का काम बहुत आगे बढ़ जाने के बाद देहाती समितियों के काफी साधन-सम्पन्न हो जाने पर ही कार्यान्वित हो सकती है।

प्रश्न है कि क्या गाँव के रोग-निवारण के लिए हम कुछ भी सेवा नहीं करेंगे? करेंगे क्यों नहीं? मैं तो सिर्फ अपनी संस्था की ओर से औषधालय खोलने का विरोध कर रहा था; रोग-निवारण की सेवा का नहीं। मेरी राय में ग्राम-सेवक को देहात में प्राप्त वस्तुओं से साधारण इलाज का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यह सच है कि हमारे काम के लायक इस विषय पर साहित्य नहीं है। फिर भी खोज करने से हमें काफी मसाला मिल सकता है। गाँववालों से भी बहुत बातें सीखी जा सकती हैं। तुलसी नीम बेल के पत्ते आदि महौषधि का काम करते हैं। इन दवाओं के सम्बन्ध में अपने अनुभव से मेरा विश्वास हो गया है कि इस दिशा में ग्राम-सेवक के सामने खोज के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है। इस काम के लिए योग्य वैद्यों से भी मदद मिल सकती है। गाँव में किसीको तकलीफ हो तो सेवकों को अपने ज्ञान के आधार पर उसे बता देना चाहिए कि वह क्या करे। मैंने देखा है कि आम तौर से गाँव के लोग मामूली बुखार खाँसी पेट-दर्द पंचिश फोड़े आदि छोटी-मोटी बीमारियों का ही इलाज कराने हमारे पास आते हैं। इनके लिए उपयुक्त दवाइयाँ काफी हैं। कभी किसीको कठिन पीड़ा हो जाय तो शुरू में देहाती दवा

देकर किसी वैद्य के पास भेजा जा सकता है। इस तरीके से सेवक केवल रोगी की सेवा ही नहीं करेंगे उन्हें रोग के इलाज का साधारण ज्ञान भी दे सकेंगे। देहाती दवाइयों की खोज की कोई योजना बनायी जाय, तो अच्छा है, जिससे हम इलाज के साथ-साथ इलाज का साधारण ज्ञान देकर जनता को स्वावलम्बन की ओर बढ़ा सकेंगे।

क्रम के अनुसार कृषि और बागवानी का स्थान चौथा है। इससे तुम्हें कुछ आश्चर्य होगा। आश्चर्य की बात भी है। भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि ही यहाँ का उद्योग है। गाँव की आबादी के अधिकतर लोग इसी उद्योग के भरोसे जीवन धारण करते हैं। अतः सबसे पहले हमें कृषि-सुधार का काम करना चाहिए; ऐसा समझना स्वाभाविक है। जमीन की पैदावार बढ़े और खेती के तरीके में सुधार हो यह सभी का अभीष्ट है। लेकिन यह कार्यक्रम इतना व्यापक है और इसके लिए इतने साधन चाहिए कि यह काम हमारी शक्ति से बाहर है। संगठित रूप से खेती-सुधार का काम तो राष्ट्रीय सरकार के द्वारा ही हो सकता है। खेती-सुधार की योजना बनाने से पहले व्यापक रूप से ग्रामीण उद्योग धन्धों का संगठन तथा शिक्षा का प्रचार हो जाना चाहिए। मैंने उद्योग को भी सहयोग के सिद्धान्त पर ही चलाने की सलाह दी है। सहयोग के सिद्धान्त पर उद्योग का व्यापक प्रचार होने से जनता में व्यवस्था शक्ति तथा सहयोग-वृत्ति पैदा होगी। साथ ही आर्थिक उन्नति से साधनों की उन्नति करने की शक्ति प्राप्त होगी। इस प्रकार उद्योग और शिक्षा-योजना की सफलता से सम्मिलित खेती का आधार स्थापित किया जा सकता है और तभी उन्नत खेती की कोई स्थायी योजना बन सकती है।

कृषि और बागवानी

मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि अपनी संस्था की ओर से ग्राम-सेवा की जो योजना बनायी जाय उसमें खेती का कोई स्थान ही न हो। खाद की परिस्थिति और साधनों से जो कुछ भी सुधार हो सकता हो उस पर ध्यान देना आवश्यक तो है ही। बीज का सुधार पानी का प्रबन्ध

बैलों की नस्ल की उन्नति आदि छोटी-छोटी योजनाओं द्वारा जनता की दृष्टि खेती-सुधार की ओर आकृष्ट तो की ही जा सकती है। ऐसी छोटी योजनाओं को सहयोग के सिद्धान्त पर चलवाने की चेष्टा करके भविष्य की सम्मिलित खेती का आधार तैयार किया जा सकता है। इस ओर योजना बनायें वह कुछ इस प्रकार की हो सकती है :

चरखे का काम करने के साथ-साथ गाँवों में चरखा-समितियाँ स्थापित करने की सलाह मैं पहले ही दे चुका हूँ। ये ही चरखा-समितियाँ भविष्य में ग्राम-समितियों का रूप ले लेंगी यह भी कह चुका हूँ। इन्हीं समितियों द्वारा यदि एक छोटे बीज-गोदाम का संगठन किया जाय, तो क्रमशः समिति के सदस्यों के अलावा दूसरे भी इसीके बहाने हमारे संगठन में शामिल हो सकते हैं। इसके लिए प्रत्येक सदस्य से फसल में ५ सेर अनाज किस्त के रूप में जमा करके एक बीज-गोदाम-समिति कायम की जा सकती है। यह रकम इतनी थोड़ी है कि गाँव का करीब प्रत्येक किसान इसमें शामिल हो सकता है। बीज की समस्या ऐसी विषम रहती है कि इतना देने के लिए उन्हें राजी करना कठिन नहीं होगा। यह सच है कि शुरू में जब लोग ऐसे गोदाम के महत्त्व को नहीं समझेंगे और हमारे कार्यकर्ता का लिहाज करके किस्त का अनाज उसी तरह दे देंगे जिस तरह लोग पाठशाला आदि के लिए फसल के दिन अनाज का दान देते हैं। लेकिन क्रमशः जब उन्हीं के हाथों से गोदाम के आकार में वृद्धि होती जायगी और उसकी व्यवस्था में उन्हें प्रत्यक्ष भाग लेना पड़ेगा तो वे इसमें अधिक दिलचस्पी लेंगे। साथ ही उनमें व्यवस्था-शक्ति का विकास तथा सहयोग का अभ्यास होता रहेगा। इसी किस्म के छोटे-छोटे कार्यक्रमों से ही तो गाँव की जनता में संगठन-शक्ति का विकास होगा। आर्थिक दृष्टि से भी ८१ साल में यही बीज-गोदाम बढ़कर किसानों के बीज की समस्या हल करने में काफी मदद कर सकता है।

फैजाबाद में जब सरकारी विभाग द्वारा बीज-गोदामों की देखभाल

राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों की उग्र समालोचना करने लगता है। वह ऊपर-ऊपर से उन बुराइयों का कुछ कारण निकालकर उनके पीछे डंडा लेकर पड़ जाता है। उसे आगे-पीछे देखने की जरूरत ही नहीं है। समाज पर या जिनके हित के लिए हम रचना शुरू करते हैं, उन्हीं पर हमारे तरीकों का क्या असर पड़ेगा, इसका भी हम ख्याल नहीं करते। पर ग्राम-सुधार-कार्य में हमें बड़ी सावधानी से आगे बढ़ना होगा। मैंने जैसे बीज-गोदामों का प्रस्ताव किया है, वे गाँव के अभावरूपी समुद्र में एक बूँद के भी बराबर नहीं हैं। लेकिन हमारे सेवक इसीको केन्द्र बनाकर गाँव के बीच के मौजूदा कारबार के खिलाफ मोर्चा खड़ा कर सकते हैं। अतः हमें इस बात की सावधानी रखनी होगी कि आज जो महाजन बीज का लेन-देन करते हैं, वे हमारे काम को सन्देह की दृष्टि से न देखने लग जायें। यह सच है कि हमें उनके ढंग पसन्द नहीं हैं, गाँव के लिए वे हानिकारक भी हैं, सीधे-सादे गरीब किसानों की मजबूरी का वे बेजा फायदा उठाते हैं, लेकिन आज ग्रामीण आर्थिक स्थिति में उनका जो स्थान है वह नगण्य नहीं। आरम्भ से ही यदि वे लोग हमारी सेवाओं को सन्देह की दृष्टि से देखने लगें तो हम उनका कुछ सुधार करने के पहले ही अपने काम को असफल बना डालेंगे। अतः हमें उनसे मिलकर उन्हें यह महसूस करा देना होगा कि हमारा कार्यक्रम उनके फायदे का ही है। यथासम्भव बीज के प्रकार की उन्नति उनके हाथ की जाय। उनके शौक को सुधारने का हमें शक्तिभर प्रयत्न करना चाहिए।

खेती के सुधार का मुख्य साधन पानी है। हमारे देश में जितनी खेती होती है, उसमें केवल २ प्रतिशत खेती को सिंचाई से पानी मिलता है।

सिंचाई

यदि उस भूमि को जोता जाय, जो खेती लायक तो है पर अभी काम में नहीं आ पाती है, तो यह अनुपात बहुत कम हो जायगा। अतः पानी की सुलभता के लिए जो कुछ भी किया जाय थोड़ा है।

पानी की व्यवस्था का काम इतना व्यापक है कि बिना सरकारी

मन्द और ग्राम-सहयोग-वृत्ति के प्रसार के इस समस्या का हल सम्भव नहीं है। फिर भी हम अपनी प्रारम्भिक ग्राम-समितियों के द्वारा इस दिशा में थोड़ी चेष्टा तो कर ही सकते हैं। ३-४ साल में उद्योगादि का संघटन हो जाने से ग्राम-समितियों का इतना विकास हो सकता है कि स्थान-स्थान पर उमदा कुएँ खादकर सिंचाई का आयोजन किया जा सकता है। इसके अलावा मरठे का कार्यक्रम चलाकर तालाबों का पुनरुद्धार भी कर सकते हैं। तालाबों के द्वारा सिंचाई की समस्या हल करने की काफी गुंजाइश है। आज भी मद्रास प्रान्त की सिंचाई अधिकतर तालाबों से ही होती है। सरकारी कृषि-कमीशन की रिपोर्ट बताती है कि हिन्दुस्तान में जितना पानी बरसता है, उसका १५ बहकर समुद्र में चला जाता है। इस पानी को इकट्ठा करके सिंचाई का प्रश्न हल किया जा सकता है। हमें अपनी संस्थाओं द्वारा नहर की बात सोचना ही व्यर्थ है। नहर की कोई भी योजना सरकार के बिना नहीं हो सकती।

सिंचाई के बाद खेती की उन्नति के लिए खाद महत्त्व की चीज है। जहाँ कहीं भी चमड़ा पकाने का उद्योग जारी किया जाय उसके साथ हड्डी की खाद बनाने का काम जारी करना चाहिए। इसके जारी करने में सामाजिक प्रथा के कारण विशेष कठिनाई न होगी। थोड़ी संस्कारगत कठिनाई तो हमारे व्यापक रूप से कार्यक्रम शुरू करने के साथ ही समाप्त हो जाती है। उद्योगों के विकास के साथ-साथ उस प्रकार के संस्कार में स्वतः परिवर्तन हो जायगा। आज भी देहातों में लोग हड्डी बिन कर इकट्ठा करते हैं और उसे व्यापारियों के हाथ बेच आते हैं। ऐसे व्यापारी तमाम हड्डियों का सर विदेशों को भेज दिया करते हैं। मेरा कहना यही है कि गाँव-गाँव उन्हें इकट्ठा करवाकर उनकी खाद बनायी जाय। यह खाद बड़ी आसानी के साथ बन जाती है। चोट पत्थरों आदि से आग लगा देने से हड्डियाँ इस्तेमाल लायक हो जाती हैं। इसके लिए पत्ने भी खर्च नहीं चाहिए। हड्डी के ढेर के नीचे और ऊपर तीन-तीन इंच पत्ते न डाम लगाया जा सकता है। फिर खेती के या चूना बनाने के पत्थर के न्तन से चूर कर

लिया जा सकता है। हड्डी के अलावा दूसरी प्रकार की खाद भी बनाने की योजना आसानी से बन सकती है। गाँव में इधर उधर काफी कंगड़ पत्तवार आदि चीजें पड़ी रहती हैं। यदि स्थानीय समिति को प्रोत्साहन दिया जाय और युवकों का संघटन किया जा सके, तो उन्हें बटोरकर कम्पोस्ट (Compost) खाद बनाने का सिलसिला जारी किया जा सकता है। मैंने देखा है कि इस तरीके से बिना साधन के ही काफी खाद बढ़ायी जा सकती है। इससे दूसरा फायदा यह होगा कि गाँव की सफाई स्वतः हो जायगी। गावदान साफ करके उसका कीचड़ किस तरह से खाद बढ़ाने के काम आ सकता है, यह फैजाबाद के ग्राम-सुधार के प्रयोगों का विवरण लिखते समय लिख ही चुका हूँ। इस प्रकार उद्योग के साथ और अलग से भी थोड़ी पैदा की जाय तो कुछ खाद की वृद्धि तो हम ग्राम की स्थिति में भी कर सकते हैं। बापू ने अपने लेखों द्वारा इसका काफी प्रचार किया है कि मनुष्य के मल-मूत्र का किस तरह खेती के काम में इस्तेमाल किया जा सकता है। वास्तव में मैले की हानि हमारे राष्ट्रीय जीवन की सबसे बड़ी हानि है। चीन के किसान अपने मल-मूत्र का किसी तरह बेकार नहीं जाने देते। प्रत्येक किसान उसे अपने खेत में गाड़ देता है। वस्तुतः इस द्रव्य का खोना हमारे लिए एक प्रकार से सोने का खोना है। विशेषज्ञों की राय है कि एक आदमी की सालभर की टट्टी से ढाई मन खाद होती है। इसमें वनस्पति का कीमती खाद्य नाइट्रोजन (Nitrogen), पोटाश (Potash) तथा फास्फरिक एसिड (Phosphoric Acid) बहुत अधिक मात्रा में होती है। मल-मूत्र का यह उपयोग केवल खाद की समस्या हल करने में सहायक ही नहीं होगा, गाँव के स्वास्थ्य की दृष्टि से भी लाभदायक होगा।

लेकिन इस कार्यक्रम को जल्दी शुरू नहीं कर सकते। लोग अपने संस्कारों तथा आदतों से मजबूर रहते हैं। अतः संघटन की क्रिया में काफी प्रगति होने पर ही इसे आरम्भ किया जा सकता है। शुरू में ही हम साधारण ढंग से प्रचार करते रहें और कार्यकर्ता अपनी आदत में

परिस्थान कर सकें, तो क्रमशः इस दिशा में निश्चित कार्यक्रम भी बनाया जा सकता है। इस दिशा में काम के लिए विस्तृत क्षेत्र पड़ा है।

ऊपर बताये तरीके से हम खाद की वृद्धि के लिए कुछ-न-कुछ प्रयोग कर सकते हैं। खाद का मुख्य साधन देहात के पशु ही हैं। हम चाहे कितनी रासायनिक खाद तैयार करें हमें खाद के लिए गोबर और जानवरों के मूत्र आदि का भरोसा करना ही पड़ेगा। यह सही है कि गाँवों के लोग गोबर का अधिकांश भाग जला डालते हैं और मूत्र को गोशाला के नीचे जमा हो जाने देते हैं। फिर भी मैं ग्राम इस दिशा में विशेष चेष्टा करने की सलाह नहीं दे सकता। ग्राम-सेवक गाँव में जाते ही इस बात का प्रचार करने लगते हैं कि गाँववाले कैसे बेवकूफ हैं कि गोबर जला देते हैं। लेकिन प्रचार के जोश में वे भूल जाते हैं कि अगर गाँववाले गोबर न जलायें, तो ईंधन कहाँ से लायें? सदियों की उदासीनता तथा जनसंख्या-वृद्धि से उत्तरोत्तर खेती की वृद्धि के कारण आज गाँवों के आसपास जंगलों का कोई निशान भी नहीं रह गया। जहाँ आबादी है, वहाँ जंगल नहीं और जहाँ जंगल है वहाँ आबादी नहीं। नतीजा यह होता है कि आबादी के पास लकड़ी नहीं मिलती है और जंगलों के पास ईंधन-सामग्री बेकार जाती है। अतः गाँव में जाते ही गोबर न जलाने का बेकार प्रचार करने से क्या लाभ?

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि आज की मजबूरी की दशा में जानवरों के जरिये जितनी खाद मिल रही है, उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं हो सकती। खेती के अन्य कार्यक्रम जैसे थोड़ी मात्रा में आज हम कर सकते हैं उसी तरह इस दिशा में कुछ होना तो सम्भव है ही। यह काम कुछ इस प्रकार का हो सकता है :

(१) जिस स्थान पर मवेशियों को बाँधा जाता है, वहाँ के फर्श पर मिट्टी डाल दी जाय। बीच-बीच में उसे खोद निकालकर गड्ढों में डाला जा सकता है।

(२) जलाने के बाद जितना गोबर खाद के लिए रखा जाय

उससे भूर की उत्पत्ति की जाय। प्रायः देखा गया है कि लोग भूर के लिए बहुत गहरा गड्ढा खोदते हैं और बरसात का सारा पानी उसीमें चला जाता है। कहीं-कहीं तो गोबर को एक जगह ढेर करके रख देते हैं। इससे वर्षा के पानी से गोबर का बहुत सा कीमती हिस्सा बहकर नष्ट हो जाता है। अतः गाँवों में संघटन की थोड़ी प्रगति के साथ-साथ व्यापक रूप से भूर-सुधार का कार्य आरम्भ कर देना चाहिए। इसके लिए कम गहरा गड्ढा बनाकर चारों तरफ मेड़ बना देनी चाहिए। फिर उसे कूड़े के साथ गोबर का घोल मिलाकर भर देना चाहिए और ऊपर से बन्द कर देना चाहिए।

हमें बागबानी तथा ईंधन के लिए पेड़ लगाने की ओर जनता का ध्यान दिलाना चाहिए, क्योंकि जिस हद तक ईंधन की समस्या हल हो सकेगी, उसी हद तक खाद भी सुलभ होगी। इस कार्यक्रम को हम बहुत जल्दी शुरू कर सकते हैं। मैंने

बागबानी

देखा है कि गाँव में काफी ऐसे लोग मिलते हैं जो थोड़ी मदद से पेड़ लगाने के लिए तैयार हो जाते हैं। पेड़ लगाने का संस्कार प्राचीन है। इसलिए भी लोग आसानी से झुक जाते हैं। उत्साहित किया जाय तो इसके लिए बहुत से लोग तैयार हो जायँगे। पेड़ के चुनाव में खास ध्यान इस बात की ओर होना चाहिए कि वे मवेशियों की खुराक के भी काम आवें। ईंधन और फल के वास्ते निम्नलिखित पेड़ लगाये जा सकते हैं :

बबूल ढाक आम जामुन बेल गूलर बेर, अमरूद केला महुआ आँवला अनार, कटहल पपीता इमली नीबू, करौंदा आदि। ये नाम तो केवल उदाहरण के लिए हैं। वैसे तो स्थानीय परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के पेड़ लगेंगे। ईंधन के लिए मैंने प्रधानतः बबूल और ढाक की ही राय दी है। इसका कारण यह है कि इससे बहुत सी खराब जमीन भी काम में आ सकेगी और इनकी लकड़ी ईंधन के लिए अच्छी है। बबूल तो आर्थिक दृष्टि से भी फायदे का है। उसकी मोटी लकड़ी खेती सम्बन्धी औजार चक्की कोल्हू का सामान आदि बनाने के

काम आती है। इसके अलावा चमड़ा पकाने में इसकी छाल मुख्य सामग्री है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि आज की परिस्थिति में पेड़ लगाने की जगह कहाँ। खेत की भूख ने तो ग्रामीण देश की सारी जमीन हड़प ली है। यह सच है कि दिन-दिन हमारी आबादी घनी होती जा रही है और खेती की भूख बढ़ती ही जाती है। लेकिन आज की दशा में भी देहातों की निराशा और बेहोशी को हटाकर उत्साह तथा जीवन पैदा किया जा सके तो इस काम के लिए काफी बेकार जमीन मिल सकती है। जमीन की कमी नहीं चाहिए केवल हमारे कार्यकर्ताओं की सूझ और ग्राम्य समाज में उचित वातावरण। पेड़ लगाने के काम में पर्याप्त प्रगति हो जाने पर ही गोबर न जलाने का सफल प्रचार हो सकता है।

गोपालन

खेती और बागबानी के साथ हमारी दृष्टि गोपालन की ओर स्वभावतः आकृष्ट होती है। भारत-जैसे कृषिप्रधान देश में गोपालन का काम जितना भी किया जाय, थोड़ा है। गोमाता की पूजा शायद इसी देश की विशेषता है। लेकिन आज उसी गोमाता का क्या हाल है! हम जब देहातों में बकरी-जैसी छोटी अस्थिपंजरवत् गौओं को देखते हैं, तो सोचते हैं कि गोमाता की पूजा करनेवाले भारत की गो जाति का यही आकार और प्रकार है! आज हमारी दशा क्या है? अतः यह बात जरूरी है कि गोपालन के काम की बात हम गम्भीर रूप से विचार करें और हमें क्या और कितना करना चाहिए और कितना कर सकते हैं, इस पर ध्यान से सोचें। जमनालालजी जितने अधिक याद आ रहे हैं। उस दिन शाम को जब घूमने जा रहे थे तब आग्रह से कहने लगे "धीरेन! तुमसे मुझे काफी बातें करनी हैं। तुम्हारे प्रान्त में गो-सेवा का कितना काम हो सकता है! अपना [illegible] तुम [illegible] यहाँ [illegible] जाओ। दूसरे दिन [illegible] उठा। [illegible] के विचार बात की कि मैं उन्हें ग्राम-सेवा की बात कुछ सुनाऊँ। धीरे-धीरे उनसे काफी सुने लायक बात का रचना हो गया। मेरे ग्राम-सेवा

आश्रम गया। मालूम हुआ कि सेठजी खाना खाने तक आ जायेंगे। कुछ समय था मैं नालवाड़ी चला गया; विनोबाजी से मिलकर आने में मुझे कुछ देर हो गयी। लौटकर मालूम हुआ कि सेठजी अभी लौटे नहीं। मैंने देर तक प्रतीक्षा की। मगनवाड़ी आकर ग्राम उद्योग-संघ में कुमारप्पा साहब से अपने प्रांत के काम की बातें करने लगा। एकाएक किसी-मजदूर के एक भाई ने आकर खबर दी : "सेठजी का देहान्त हो गया!" खबर सुनकर हम दोनों स्तम्भित रह गये।

क्या बताऊँ, उस समय मगनवाड़ी न जाकर सीधे बजाजवाड़ी चला जाता, तो शायद मुलाकात हो जाती। लेकिन भवितव्य कुछ दूसरा ही था। आखिरी वक्त की यही बात रह-रहकर याद आती है—"तुमसे बहुत बातें करनी हैं। तुम्हारे प्रांत में गोसेवा का कितना काम हो सकता है।" उसके बाद थोड़े ही दिन बाहर काम कर सका था लेकिन जब-जब गो पालन की बात होती है, सेठजी याद आ जाते हैं। मगहर में गोरखपुर, बस्ती के लोगों से जब मैंने अपनी ग्रामोत्थान-योजना के लिए १ बीघा जमीन माँगी, तो वहाँ के लोगों ने ५ बीघे का एक बंगला रामनगर के पास दिलाया। जमीन देखते ही मैंने कहा— सेठजी होते तो मैं इसे गो सेवा और गोपालन का प्रयोग करता। ● ● ●

से दूसरी गाय खरीद लाते हैं। फौजी डेरीवाले भी अच्छी गाय छाँट और खरीदकर विदेशी साँड़ से मिश्रित करके उसे नष्ट कर देते हैं, क्योंकि विदेशी साँड़ के व्यवहार से एक-दो बार ही अच्छा दूध मिल सकता है। फिर बीमार पड़कर देशी गाय खत्म हो जाती है। इस तरह लगातार जब शहरवाले और मिलिटरीवाले गाँव की चुनी हुई अच्छी गायों को बाहर भेजते जायेंगे तो जो रद्दी किस्म की गायें बाकी बच जाती हैं, उन्हीं से न गाँव की गायों की नस्ल बनेगी! और खुराक! इस विषय पर कहना ही क्या है! गाँव के जानवर एक तरह से उपवास ही करते हैं। जहाँ आदमी भूखों मर रहे हैं, वहाँ जानवरों को कौन खाना देगा! आज जानवरों को खाने को मिलना कठिन है। आबादी इतनी घनी होती जा रही है कि अनाज बोने के लिए जमीन नहीं मिलती है फिर चरी के लिए परती कहाँ से छूट सकती है!

अच्छी नस्ल की गायों का अभाव

चरागाह के लिए प्रधानतः जंगली क्षेत्र में ही भूमि होती है। और तुम्हें मालूम ही है कि बहुत से क्षेत्रों में लोगों को जानवर चराने का हक हासिल ही नहीं है। स्पष्ट है कि अधिकांश मवेशियों को बिना चरागाहों के ही गुजर करनी पड़ती है।

चारे की कमी

चरागाह की ऐसी स्थिति के कारण हमारे अधिकांश जानवरों को बहुत थोड़े चारे से ही गुजर करनी पड़ती है। कुछ प्रान्तों में प्राण-धारण के लिए जितनी चाहिए, उतनी जमीन भी चरी के लिए नहीं छोड़ी जाती और यह स्थिति आबादी बढ़ने के साथ-साथ दिन-ब-दिन और भयंकर हो रही है। जब तक हम अपनी खाद्य सामग्री के लिए ऐसे अनाज न पैदा करें, जो बाजरे की तरह अनाज और चरी दोनों के काम आ सकें, तब तक हमारे पशुओं का बचाना कठिन है। यही कारण है कि हमारे यहाँ गाय-बैलों की मृत्यु-संख्या बहुत अधिक है।

जब जानवर मरने के करीब हो जाते हैं, तो कसाई को बेच दिये जाते

वाले घरों में ही होता है। गाँवों में दूध के लिए भैंस पालने का ही रिवाज है। ग्रामीण जनता को दूध की आवश्यकता घी बेचने के लिए ही होती है। भैंस के दूध में घी अधिक होता है इसलिए वे लोग भैंस पालना ही पसन्द करते हैं। वे गाय पालते अवश्य हैं, लेकिन सिर्फ बैलों के लिए। नतीजा यह होता है कि जब बछड़ा पैदा होता है, तो वे गाय को कुछ खिलाते भी हैं और दूध न दुहकर बछड़े के लिए छोड़ देते हैं, ताकि बैल उम्दे मिल सकें। जब बछिया पैदा होती है, तो वे न गाय को ही ठीक से खिलाते हैं और न बछिया के लिए ही दूध छोड़ते हैं। बछिया से उनको कोई दिलचस्पी नहीं। नतीजा यह होता है कि दिन-दिन हमारी गायों की हालत खराब ही होती जाती है। आखिर जो बछड़े पैदा होंगे वह इन्हीं गौओं से ही न होंगे? फलतः किसान दोनों से हाथ धो बैठते हैं न दूध मिलता है न अच्छे बैल।

दूध के लिए गोपालन प्रथा का ह्रास

गोपालन की योजना बनाने से पहले यह तय कर लेना होगा कि हमें किसलिए गोपालन करना है। अगर दूध के लिए भैंस पालकर खेती के लिए गाय पालेंगे तो कभी हमारा उद्देश्य सिद्ध न होगा। आवश्यकता इस बात की है कि हम दूध के लिए भी गोपालन का प्रचार करें। ऐसा करने से हमारा ध्यान गौओं की उचित सेवा की ओर जायगा जिससे अच्छे बैल मिलने रहेंगे। हम ऐसी नस्ल की गाय पैदा करें, जिसकी सन्तान दोनों कामों के लिए उपयोगी हो। यह तभी हो सकेगा जब हम गाय के दूध की ओर अधिक ध्यान दें और भैंस का पालना घटाने जायें और आखिर भैंसों की संख्या नाममात्र रह जाय।

गो-दुग्ध के प्रचार की ज़रूरत

आज 'नस्ल सुधार' एक प्रकार का नारा हो गया है। लेकिन यह नस्ल कैसे सुधारी जाय? अच्छे सांड गाँव-गाँव रखकर? सांड निर्वाचन ने पकड़ लिया है या फिर बढ़ना ही बचा? चारों ओर से आवाज उठ रही है— 'अच्छे सांड की व्यवस्था करो।" कुछ दिन

की असली स्थिति को समझकर ही समस्याओं का हल निकलना चाहिए। सांड बाहर से लायें और गाय भूखी, कमजोर और दुबली-पतली हो, तो अनन्त काल तक उन्नति नहीं हो सकती। नस्ल तभी सुधर सकती है, जब सांड और बैल उत्तरोत्तर अच्छे होते जायें। गाय अच्छी तभी रह सकती है, जब देहाती लोगों की प्रवृत्ति गो-सेवा की ओर हो। गो-सेवा की प्रवृत्ति पैदा करने के लिए गाय के दूध के प्रति किसानों की दिलचस्पी होनी चाहिए और यह दिलचस्पी तभी हो सकती है जब गाय के दूध और घी का बाजार हो। केवल 'गोमाता' कहकर सेवा-वृत्ति नहीं जगायी जा सकती। गोमाता का संस्कार तो हिन्दुओं का कल्पित संस्कार है और उस संस्कार को समाज-हित और रक्षा के लिए हम केवल परम्परा से भोगते आये हैं। हमारी असली माता भी जब बूढ़ी हो जाती है, तो हम तभी उसकी सेवा करते हैं जब उसके पास कुछ जेवर हो, कुछ रकम हो। धन से रहित माताओं की दुर्दशा हम देखते ही हैं। फिर यह कैसे उम्मीद की जा सकती है कि केवल गोमाता की भावना ही लोगों को गोसेवा की ओर प्रेरित करेगी। अतः गो-जाति की उन्नति के लिए सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि हमारी गोमाता के पास सम्पत्ति हो, अर्थात् आवश्यकता इस बात की है कि जो लोग गोमाता की सेवा करना चाहते हैं उन्हें अपनी गाय का दूध बेचकर पैसा मिले। जो लोग चाहते हैं कि भारत के लाख लाख गांवों की दुर्दशा दूर हो जो चाहते हैं कि हमारी खेती की उन्नति हो, जो चाहते हैं कि गो-जाति की नस्ल सुधरे, जो चाहते हैं कि गायों की हत्या न होने पाये वे गाय का दूध और घी इस्तेमाल करके उसकी मांग पैदा करें। हमारे देश में बहुत से अमीर भाई हिन्दुस्तान का नुकसान करके विलायती [illegible] घुसवाते हैं गोशालाओं में दान देते हैं। उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि यदि वे विलायती [illegible] भी घुसवायें और भैंस के दूध और घी के बजाय गाय का दूध और घी ही इस्तेमाल करें तो अधिक गो-सेवा कर सकेंगे। ऐसा न करके हजार विलायती [illegible] रखने पर भी गोरक्षा की दिशा में इंचभर भी आगे नहीं बढ़ सकते।

स्थानीय गौओं के लिए उपयोगी होंगे या नहीं। फिर उनसे जो बछड़े पैदा होंगे, वे स्थानीय जलवायु तथा खुराक कहाँ तक बरदाश्त कर सकते हैं, इसे देखना होगा। इस दिशा में मेरी सलाह यह है कि ग्राम-सेवक सांडों के लिए इधर उधर निगाह न दौड़ाकर जिस जिले में काम करते हैं उसी जिले में अच्छे सांडों की खोज करें। हम स्थानीय नस्ल की ढोरों का प्रयोग सही तरीके से, वैज्ञानिक ढंग से करें तो हमें दूधवाली गाय या हल जोतने के लिए मजबूत बैल मिल जायेंगे। इसके लिए सरकारी विशेषज्ञों से भी हम परामर्श करेंगे। सिर्फ हमारा दृष्टिकोण और हेतु भिन्न होगा। सरकारी विशेषज्ञों के अलावा देहातों में उन जातियों में जिनका पेशा प्राचीन काल से गोपालन रहा है, बहुत से प्रवीण लोग ऐसे मिलेंगे जो किसी विशेषज्ञ से कम नहीं हैं। बल्कि वे हमारे देहातों की आज की परिस्थिति में अधिक सही सलाह दे सकेंगे। हमारे कार्यकर्ताओं को उनसे भी मदद मिलेगी। शाही कृषि कमीशन कहता है, संयुक्तप्रांत के पनवार पंजाब के हरियानो और शाहिवाल, सिन्ध के थारपारकर, मध्यभारत के मालवी गुजरात के कांकरेज काठियावाड़ के गीर मध्य प्रांत के गौलाव मद्रास के अंगोलों के इतिहास की खोज की जाय तो मालूम होगा कि उनकी विशेषता का कारण वे पेशेवर जातियाँ हैं, जो पहले भारत में आम तौर पर घूमा करती थीं लेकिन कृषि की वृद्धि के साथ-साथ जो अब गोपालन का काम छोड़ती जा रही हैं। ग्रामीण जनता में वे ही जातियाँ थीं जो गोपालन का अच्छा ज्ञान रखती थीं और गाय और सांडों की खूबियों तथा उन्हें पालने की कला को न इतनी अच्छी तरह जानती थीं कि ऊँची नस्ल के जानवर पैदा कर सकती थीं।" आज भी मैंने देखा है कि पंजाबी बंजर जाति के लोग अच्छे किस्म के बैल हमारे प्रांत में घूम-घूमकर बेचते हैं। हमारा काम होगा इन जातियों को अच्छी गाय पालने के लिए प्रोत्साहन देना और देहातों में ग्राम-समितियों के द्वारा गोपालन का प्रचार करना। केवल ये खास जातियाँ ही हमारी सहायक होंगी यह बात भी नहीं। बल्कि सारी जनता हमें सिखाने का काम कर सकती है।

१ उसी गाँव की ग्राम-समिति की ओर से इन गायों के बीच एक अच्छा साँड़ रखवाने का प्रबन्ध किया जा सकता है।

सर्किल सोसाइटी अपने यहाँ सिर्फ घी बनाने की व्यवस्था करके मक्खन निकालने के बाद जो दूध बचेगा उसे उन्हीं सदस्यों के हाथ बेच देगी और घी की बिक्री का प्रबन्ध करेगी। इससे कम-से-कम मक्खन निकाला हुआ दूध तो सदस्यों के बच्चों को पीने के लिए मिल ही जायगा। इससे उनके स्वास्थ्य पर भी अच्छा असर होगा।

छोटे और कमजोर बैल

यहाँ देहातों की एक परिस्थिति का जिक्र करना लाभप्रद होगा। सभी जानते हैं कि कमजोर बैल से बहुत कम खेत जोता जा सकता है। इस कारण हमें जरूरत से अधिक बैल रखने पड़ते हैं। इसलिए हमारे यहाँ प्रति जानवर थोड़ा चरागाह और थोड़ी जमीन दाना के लिए पड़ती है। इस समस्या का हल यही है कि हमें अच्छे बैलों का प्रबन्ध करके घटिया बैलों की तादाद घटानी चाहिए। शाही कृषि-कमीशन का भी कहना है कि भारतीयों को देश के बैलों की संख्या घटाकर उनकी कार्यशक्ति बढ़ाने की चेष्टा करनी ही होगी। लेकिन ऊपर से देखने से यह समस्या जितनी आसान मालूम पड़ती है, वास्तव में उतनी आसान नहीं है। हमें तो मालूम ही है कि हमारे यहाँ खेती पर कितनी घनी आबादी गुजर करती है। इसका नतीजा यह हुआ है कि ठीक से गुजारा करने के लिए किसी के पास काफी खेत नहीं है। भारत की प्राचीन सम्मिलित परिवार की प्रथा भी तो अब रह नहीं गयी। खेतों के छोटे-छोटे टुकड़े अलग-अलग मालिकों के अधीन हो गये हैं। सहयोग की कोई भावना है ही नहीं। ऐसी हालत में प्रत्येक किसान को अपने अलग-अलग बैल की व्यवस्था करनी पड़ती है। इससे बैलों की तादाद अनिवार्यतः बढ़ गयी है। फिर थोड़ी जमीन के लिए छोटे कमजोर बैल काफी होते हैं। वे कम खुराक लेते हैं। हमारे छोटे किसानों को ऐसे बैल ही वारे के पड़ते हैं। इसी हालत में कमीशन के साथ सुर मिलाकर यह

कम देने से कैसे काम चलेगा कि भारत को बैलों की तादाद घटाकर कार्यशक्ति बढ़ानी चाहिए ! जब किसान के पास काम ही नहीं है, तो कार्यशक्ति बढ़ाकर क्या लाभ होगा और जब छोटे-छोटे स्वतन्त्र किसानों की तादाद इतनी अधिक है, तो बैलों की तादाद कम करने से उनका बँटवारा किस प्रकार होगा ! अतः यदि वस्तुस्थिति पर विचार किया जाय, तो हमारे गाँव में बैलों की उन्नति की या तादाद घटाने की गुंजाइश ही कहाँ है ! कहीं कोई सम्पन्न किसान अपनी खेती के लिए बड़े-बड़े बैल लाते जरूर हैं। पर कभी कोई बैल बीमार पड़ता या मर जाता है तो उसे क्षेत्र में जोड़ा मिलाना मुश्किल हो जाता है। अतः जो समझदार भी हैं, वे भी स्थानीय अच्छे बैलों से बढ़कर बड़े बैल लाने में घबराते हैं। हमें समझ लेना चाहिए कि देहातों के बैलों की संख्या घटाकर उनकी कार्यशक्ति बढ़ाना तभी सम्भव है, जब कम-से-कम उतनी खेती सम्मिलित व्यवस्था में हो जितनी एक जोड़ा उन्नत बैल को पूरा काम देने के लिए पर्याप्त हो। यह तभी हो सकेगा जब गाँव में सम्मिलित खेती का प्रबन्ध किया जा सके। हमारे कार्यकर्ताओं को समस्याओं की विशालता और जटिलता से न घबड़ाकर जो रास्ता सही है, उसी दिशा में प्रयोग करना होगा।

मृत पशुओं के चमड़े का उपयोग

गोपालन के कार्यक्रम के साथ-साथ हमारे सामने मृत जानवरों का प्रबन्ध करने का काम खड़ा हो जाता है। भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए मृत जाम-जैन की आर्थिक उपयोगिता के प्रति खास तौर पर ध्यान देना आवश्यक है, लेकिन दुःख की बात यह है कि इस उद्योग के प्रति हम दुनिया में सबसे ज्यादा उदासीन हैं। तुम्हें मालूम ही होगा कि संसार में जितने गाय बैल, भैंस आदि जानवर हैं उनके १ प्रतिशत केवल भारत में ही हैं और संसार में जितना चमड़ा होता है भारत का हिस्सा उसकी तिहाई से भी ज्यादा है। लेकिन हमारे देहाती इससे थोड़ा सा भी लाभ नहीं उठाते। जात-पाँत का ऐसा चक्कर बना हुआ है कि

जिनमें बुद्धि है, आर्थिक साधन हैं, कौशल है और समाज में प्रतिष्ठा है उनमें मृत पशुओं से कोई दिलचस्पी नहीं। मर जाने पर जानवर ऐसे लोगों के हाथ आकर पड़ते हैं जो हमेशा समाज में दलित होने के कारण शोषित हैं, दरिद्र हैं, जाहिल हैं। उनके पास न साधन है, न वह कौशल जिससे वे बुद्धिपूर्वक मृत पशु का उचित उपयोग कर सकें। नतीजा यह होता है कि जब कोई जानवर मरता है तो लोग किसी प्रकार उसका चमड़ा उधेड़कर किसी व्यापारी को नाममात्र दाम पर बेच आते हैं। उन्हें यह देखने की भी आवश्यकता नहीं होती कि चमड़ी निकालते समय कहीं कट न जाय, छेद न हो जाय या मांस लगा न रह जाय। वे इसका विचार ही नहीं करते कि ठीक ढंग पर चमड़ा निकालने से और ज्यादा दाम मिलेगा। उन्हें इस बात की फिक्र भी क्यों हो! एक तो ज्ञान के अभाव से वे इन बातों की बारीकियों को जान नहीं सकते। दूसरे सारा माल मुफ्त मिलता है। जो चमार उस चमड़े को पकाने का काम करते हैं वे भी साधन तथा ज्ञान के अभाव में उसे इस तरह पकाते हैं कि वह बाजार में अधकच्चे माल के नाम से घोषित होता है और विदेश जाकर वही पक्का माल बनकर हमारे यहाँ वापस आ जाता है। इस प्रकार हमारे यहाँ जितना माल होता है, उसका लगभग ४ प्रतिशत कच्चा और अधकच्चा के रूप में विदेश चला जाता है।

मृत पशु से दूसरी उपयोगिता की चीजें बनाने के प्रति तो लोग कतई उदासीन हैं। चमड़ा निकालकर मांस को वे गाँव की एक तरफ फेंक देते हैं और चील, गिद्ध, कुत्तों और कौओं का जमघट बराबर एक वीभत्स दृश्य पैदा करते हैं। दुर्गन्ध इस कदर इतनी असह्य होती है कि उधर से निकलना मुश्किल हो जाता है। हमें उस दृश्य से घृणा नहीं, उस दुर्गन्ध से घृणा नहीं, सारी घृणा चमड़ा छूने से है। इस घृणा के मामले में धर्म-नीति कानून भी अजीब उदाहरण है। इसीलिए मैंने चमड़ाघर का अनुभव करते समय देखा था कि किस तरह चमार बाँधे हुए जानवर का चमड़ा खींचकर निकालते। जबकि चमड़ा

पकाने में उस पर हाथ नहीं रखेगी क्योंकि ऐसा करनेवाले को जाति से निकलना पड़ेगा। नतीजा यह होता है कि जो चमार चमड़ा निकालता है उसे इस बात की फिक्र ही नहीं रहती कि किस तरह चमड़ा छीला जाय जिससे पकाने में अच्छा माल निकल सके। फलतः हम इस उद्योग में दूसरे देशों से इतने पीछे पड़ गये हैं कि घटिया चमड़े या कच्चे माल के व्यापारी मात्र रह गये हैं। मरे जानवर के और हिस्से की तो कोई बात ही नहीं!

अन्य वस्तुओं का निर्माण

इस ओर थोड़ा ध्यान देकर यदि कुछ अच्छा प्रबन्ध कर लिया जाय और देहाती जनता में इस ओर दिलचस्पी पैदा की जाय, तो मृत पशु की उपयोगिता बहुमुखी हो सकती है। सबसे पहले चमड़े का ही एक प्रधान और व्यापक उद्योग चल सकता है। मृत पशु की समस्या प्रत्येक गाँव की होने के कारण चरखा-जैसा यह उद्योग भी व्यापक रूप ले सकता है। हड्डी से बहुत उच्च कोटि की खाद बन सकती है। मांस से भी अच्छी खाद बनती है। प्रत्येक जानवर की सिर्फ चर्बी से ही १) के लगभग आमदनी हो सकती है। चमड़े के छीलन और टुकड़ों से लाखों रुपये का सरेस हम न केवल अपने काम के लिए ही बना सकते हैं बल्कि फालतू माल बाहर भी भेज सकते हैं। इसके अलावा सींग ताँत का काम आदि और बहुत से उद्योग चल सकते हैं। वास्तव में मृत पशुओं से ही हम देहातों को उद्योगमय बना सकते हैं। उनका ठीक से उपयोग न कर सकने से हमें बहुत भारी हानि होती है।

यह भयंकर हानि!

जहाँ तक गिनती की जा सकी है हमारे यहाँ हर साल दो करोड़ पचपन लाख जानवर मरते हैं। इनके चमड़े की ठीक व्यवस्था न होने से हमारे गाँवों का कम-से-कम प्रति वर्ष २) का नुकसान होता है। उसके अलावा प्रति जानवर मांस से आठ आने, हड्डी से एक रुपया चर्बी से एक रुपया सींग-खुर आदि से चार आने मिल सकता है। इस प्रकार हम आज प्रति जानवर

२) + ||) + ') + १) + |) यानी पौने पाँच रुपये हानि उठा रहे हैं अर्थात् हमको कुल ४|||) × २,५७ = १२,१८,१२) वार्षिक हानि होती है। *इतनी रकम तो हम केवल संगठित रूप से मृत देह की व्यवस्था करने से ही बचा सकते हैं। लेकिन यदि हम चमड़े का उद्योग चलाकर कुछ चमड़ों को पक्के माल के रूप में बेचें और उसकी खाद के कारण खेती की पैदावार की जो वृद्धि होगी, उसका हिसाब जोड़ें, विभिन्न प्रकार के उद्योगों में कितनी आमदनी होगी और कितनी बेकारी दूर होगी उसका विचार करें तो हमारी बचत कितनी गुनी बढ़ जायगी इसे तुम समझ ही सकती हो। इस तरह जब मृत पशुओं की कीमत काफी बढ़ जायगी तो आज जैसे बुड्ढे पशुओं को काट डालने के लिए विवश हो जाते हैं, वैसा नहीं होना पड़ेगा। दूसरे जब लोगों को मुर्दार चमड़े का उम्दा माल मिलता रहेगा, तो वे कत्ल किये हुए जानवर के चमड़े की माँग नहीं करेंगे। अतः हमारी योजना में गोपालन के साथ मृत जानवर के उद्योग की व्यवस्था होनी चाहिए। ● ● ●

---

* आज यह रकम ५ करोड़ रुपये होती है। —११ '५

यातायात और जल की व्यवस्था ६४

१४-४४

गाँव के रास्तों की दुर्दशा

उद्योग, शिक्षा और संस्कृति, सफाई और स्वास्थ्य, कृषि और बाग बगीचा तथा गोपालन के कार्यक्रमों का संघटन हो जाने पर गाँवों की स्थिति ऐसी होनी सम्भव है कि हम कुछ ऐसे कार्यक्रम भी शुरू कर सकें, जिनके लिए गाँवभर की सहयोग-वृत्ति तथा सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत त्याग की तैयारी की आवश्यकता हो। ऐसा काम है—गाँव की यातायात की समस्या हल करना। तुम जब रणीवाँ आयी थीं, तो तुम्हें आश्रम तक आने में रास्तेभर कितनी तकलीफ हुई थी। परेशान होकर वापस जाते समय तुमने पैदल जाना ही पसन्द किया था। फिर भी तुम ऐसे मौसम में गयी थीं, जब सूखा था। खेत खाली होने के कारण बैलगाड़ी चाहे जिस गाव में जा सकती थी। बरसात में तो पैदल चलने के अलावा दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। रणीवाँ आने में रास्ते का जो हाल तुमने देखा था, वह भी हमारे गाँवों के हिसाब से अच्छा था। अधिकांश गाँवों की उससे भी बदतर हालत रहती है। अधिकतर लोगों की राय है कि यातायात की सुविधा पहले होनी चाहिए, फिर उद्योगों का संघटन शुरू करना चाहिए। आज जो सरकारी तथा गैर सरकारी ग्राम-सुधार-काम हो रहा है उसमें सड़क बनाने और सुधारने का काम प्रथम और मुख्य माना गया है। देहात की सड़कों का दुरुस्त करना इतना महत्त्व का होने पर भी मैंने ग्राम-सुधार-योजना में यह कार्यक्रम सबसे अन्त में रखा है। इसका कारण यही है कि हम चाहते हैं कि ग्राम-सुधार का काम ग्रामीण जनता की शक्ति का विकास करके

करें। इसके लिए ऐसा कार्यक्रम बाद को ही रखना होगा। क्योंकि जब तक गाँव के लोगों में संघटन की प्रथा जारी न होगी, तब तक कोई सम्मिलित काम नहीं हो सकता। अभी जो सड़क आदि का काम होता है वह पैसे की मदद से एकाध सड़क मरम्मत कर देने का ही है। इस दिशा में कोई व्यापक योजना तो देहात की जनता की आर्थिक स्थिति, शिक्षा संस्कृति तथा संघटन शक्ति की उन्नति के साथ ही हो सकती है।

मैं कह रहा था कि यातायात की समस्या हल करने के लिए हमें चाहिए—गाँवभर का सम्मिलित प्रयास, संघटित परिश्रम और कुछ लोगों की उतनी जमीन, जो सड़क बनाने के लिए जरूरी हो। अब तक मैंने जितने कार्यक्रमों की चर्चा की है उनके बाद जनता में इतनी सामूहिक भावना पैदा होगी जिससे वे लोग खुशी से इतना त्याग सबके भले के लिए करेंगे, ऐसा मेरा अनुमान है। छानबीन की जाय तो मालूम होगा कि यहाँ जितनी त्याग की बात मालूम होती है, वस्तुतः जमीन छोड़ने के इस मामले में उतने त्याग की जरूरत न होगी। पहले तो सड़क निकालने की योजना ऐसी बनायी जाय, जिसमें अधिकतर हिस्सा परती जंगल आदि पड़े। इसके अलावा अगर पटवारी के नक्शों को देखा जाय, तो मालूम होगा कि अधिकांश गाँवों में ऐसा डहर मौजूद था, जो किसीकी व्यक्तिगत भूमि नहीं थी। उतना डहर छोड़ा जाता था यातायात की सुविधा के लिए। वह ग्राम-पंचायत के अधीन था और उसका संस्कार गाँववाले मिलकर करते थे। लेकिन गाँव का स्वाभाविक संघटन नष्ट हो जाने पर उस भूमि को आसपास के किसानों ने अपनी भूमि में मिला लिया। आज भी अगर जरीबी नक्शा निकाला जाय तो उतना डहर अलग मालूम हो जायगा। वह भूमि आज भी कानूनन सर्वसाधारण की सम्पत्ति है। हमारा ग्राम-संघटन पुनर्जीवित होने पर उन डहरों को फिर से सर्वसाधारण को वापस करना कठिन नहीं होगा। लेकिन इतने दिनों से उसका दखल भोग करते रहने पर अब किसान उसे अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही समझने लगे हैं। अब उसे छोड़ना किसानों का

उतना ही अखरेगा, जितना अपनी जमीन छोड़ना। चार साल पहले जब मैं फैजाबाद में इन सड़कों के पुनरुद्धार के काम में लगा था, तो किस तरह उनके कब्जेदार लोग झगड़ा करते थे और हमें अधिकारियों की मदद से भी कहीं-कहीं सफलता नहीं मिलती थी इसकी पूरी कहानी मैं पहले लिख चुका हूँ। अतः यद्यपि उस सर्वसामान्य सम्पत्ति को अपनी जमीन में मिलाना किसानों के लिए बेजा दखल है, फिर भी आज उसे फिर से सार्वजनिक काम में देना उनके लिए त्याग की ही बात होगी।

मार्गों का पुनरुद्धार

मार्गों के पुनरुद्धार का यह काम खूब सँभलकर करना होगा। इस विषय में जल्दबाजी करने पर गाँव में झगड़ा होने का डर रहेगा। गाँव की पंचायत में कई व्यक्ति होंगे। मान लो उनमें से दो व्यक्तियों की जमीन सड़क के लिए जरूरी है। ऐसी हालत में यदि कोई ऐसा प्रस्ताव हुआ कि अमुक-अमुक टुकड़े सड़क के लिए लिये जायें, तो झट वे दो आदमी समझ बैठेंगे कि *'यह प्रस्ताव अमुक व्यक्ति ने हमारी हानि करने की नीयत से किया है।'* इस तरह झगड़ा खड़ा होकर गाँव के संघटन की हानि हो सकती है। हमारे कार्यकर्ताओं को हमेशा ख्याल रखना चाहिए कि वे जो संघटन गाँव में कायम कर रहे हैं उनकी स्थिति बहुत नाजुक है। एक तो उनके संघटन पूर्णतः जनता की सद्भावना पर ही निर्भर हैं। दूसरी बात यह है कि हम अपने थोड़े साधनों से थोड़े ग्रामों में ही संघटन कायम कर सकेंगे। उनके अलावा आसपास चारों ओर विस्तृत क्षेत्र में लोग पुराने तरीके से जीवन बिताते होंगे। उनकी मनोवृत्ति का असर हमारे संघटन के अन्तर्गत देहातों पर पड़ना अनिवार्य है। उसके अलावा दूसरे गाँव के लोग जब देखते हैं कि अमुक गाँव उन्नति कर रहा है, तो वे हर तरह से कोशिश करते हैं कि बना हुआ संघटन टूट जाय। इस प्रकार दूसरे गाँवों की ईर्ष्या के कारण काफी अच्छा संघटन टूटने का अनुभव मुझे हुआ है। इसके अलावा अगर वह गाँव किसीकी जमींदारी में पड़ता है, तो जमींदार ऐसा मौका हमेशा ढूँढ़ा करता है,

जिससे झगड़ा हो जाय। इस तरह कितने ही लोग अपने-अपने ढंग से कोशिश करते हैं कि किसी प्रकार गाँववालों का स्वतन्त्र संघटन बनने न पाये। अतः सड़कों के लिए किसी किस्म का नक्शा बनाते समय परिस्थिति का ध्यान बहुत सावधानी के साथ रखना होगा। इसका क्रम कुछ इस प्रकार हो सकता है :

पहले तो गाँव के नौजवानों को सम्मिलित करके गाँव के उन रास्तों का संस्कार किया जाय जिन पर कोई खेती तो नहीं करता है, लेकिन जिनकी ऐसी हालत हो गयी है कि वे काम में नहीं आ सकते हैं। इन सड़कों के भी कई प्रकार हैं :

(१) ऐसी सड़कें, जो आम तौर पर तो ठीक काम लायक हैं, लेकिन कहीं-कहीं कटकर इतना गड्ढा हो गया है कि बरसात में उन पर चलना असम्भव हो जाता है।

(२) ऐसी जो अभी तक किसीके खास दखल में तो नहीं गयी हैं लेकिन लोगों ने अपने खेत की खाई बनाने के लिए उनकी मिट्टी खोद-खोदकर उनकी सतह इतनी नीची कर दी है कि अब वे सड़क न रहकर गाँवभर के पानी के निकास की नाली बन गयी हैं।

(३) कुछ ऐसी हैं कि अभी पूरे तौर पर खेतों के गर्भ में तो नहीं चली गयी है, लेकिन इतनी पतली हो गयी हैं कि उन पर बैलगाड़ी नहीं चल सकती। मालूम होता है, उन सड़कों पर केवल बैलों के निकास के लिए ही लोगों ने इतनी कृपा कर रखी है। हमें पहले दूसरे और तीसरे प्रकार की सड़कों की मरम्मत का काम क्रमशः अपने हाथ में लेना चाहिए, जिससे लोगों में धीरे धीरे बढ़ने का हौसला हो।

इन तीन प्रकार की सड़कों का जीर्णोद्धार होने के बाद नयी सड़क या डहर बनवाने की योजना बनानी चाहिए। उसका नक्शा ऐसा बनाना चाहिए जिसमें अधिकांश भाग परती ऊसर या जंगल जैसी जमीन पड़े जो खेती के काम में न आती हो जिससे खेत में से कम-से-कम हिस्सा लेना पड़े। जिन सड़क के लिए अधिकांश जमीन खेत में से

करने के कार्यक्रम को लेना है, क्योंकि दोनों ही ग्राम-सुधार-योजना की एक ही अवस्था में आरम्भ करने लायक हैं। आज

आज कल की व्यवस्था

अधिकांश गाँवों के कुओं की दशा ऐसी है कि तबीयत घबड़ा जायगी। कहीं-कहीं २ ४ अमीर घरों के सामने के कुएँ ऐसे होते हैं, जिनकी जगत बनी होती है। उनमें से भी ७५ प्रतिशत ऐसे होंगे जिनका पाट टूटा है और अन्दर पानी भरता है। बाकी जितने कुएँ हैं, उनमें किसी किस्म की जगत नहीं है। उनके

कुओं की दुर्दशा

किनारों की सतह इतनी नीची है कि बरसात में गाँव का पानी बहकर उनमें चला जाता है और पानी के साथ गाँवभर की गन्दगी भी उनके अन्दर जाती रहती है। आजकल लोग न नया कुआँ खुदवाते हैं और न पुरानों की मरम्मत कराते हैं। अधिकांश कुओं के कोठे धँस गये हैं और नौना लगकर घिस गये हैं। उनकी दरारों से किस्म-किस्म के पेड़ निकल पड़े हैं जिससे कुएँ के अन्दर रोशनी और हवा का भी रास्ता बन्द हो गया है। कोठे के अन्दर की यह स्थिति तो उन अमीर घरों के भी अधिकांश कुओं की है जिनकी जगत बनी हुई है।

ऊपर की कथा से पानी की समस्या की भयंकरता का तुम अन्दाज कर सकती हो। मैं समझता हूँ कि गाँव के कुएँ सुधारने का काम हम आज की परिस्थिति में भी व्यापक रूप से कर सकते हैं। मैंने देखा है कि थोड़ा संपर्क हो जाने पर और सामान सुलभ होने पर लोग उत्साह के साथ यह काम करते हैं। अतः मेरा विश्वास है कि उचित अवसर पर यह काम शुरू किया जाय तो गाँव की समितियों की मार्फत बिना बाहरी मदद के इसे बहुत हद तक सफल बनाया जा सकता है।

स्वावलम्बन के सिद्धान्तानुसार हमें समाज की बुनियाद से काम शुरू करना होगा। हमारा अन्तिम ध्येय जन-समाज को क्रमशः बढ़ाकर आदर्श

ग्राम-संगठन की रूपरेखा

स्थिति में उसे गम्य कर देना है। अतः हमारी व्यवस्था ऐसी हो जिससे समाज क्रमशः व्यक्ति-स्वातंत्र्य की ओर अग्रसर हो। यही कारण है कि हम

की होगी जिन्हें मैंने 'कुटुम्ब-उद्योग' कहा है। उन्हें तो व्यक्तिगत परिवार स्वतंत्र रूप से चलायेंगे। फिर क्या वे संघटन-हीन स्थिति में ही रहेंगे? मेरे विचार से उनमें अलग-अलग उद्योग चलानेवालों की अलग-अलग समितियाँ बन जायें, तो अच्छा होगा। जैसे लोहार-बढ़ई समिति, कागजी समिति तेलघानी समिति आदि। ऐसा विधान बनाया जा सकता है, जिससे विभिन्न सर्विस सोसाइटियों के समान ये समितियाँ भी केन्द्रीय यूनियन में शामिल हो सकें। हाँ, यह शर्त रखी जा सकती है कि इस प्रकार की शुद्ध उद्योग-समितियाँ यूनियन में केवल उद्योग-सम्बन्धी प्रश्नों पर ही अपनी राय दे सकें। समितियों के खर्च के लिए सदस्यों से उनसे उत्पादित सामान का कुछ अंश चन्दा रूप में लिया जा सकता है।

मैंने एक पत्र में पंचायत की मार्फत गाँव का झगड़ा तय करने के लिए जल्दी न करने की सलाह दी थी। समिति में जब हम उपयुक्त संघटन सफलता के साथ कर लेंगे तो गाँव के झगड़े रोकने आदि का कार्यक्रम ले सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि हमारी योजना पूरी होने में दस साल लग जायें तो दस साल तक हम गाँव के झगड़ों आदि की उपेक्षा ही करते रहें। जिन गाँवों में समिति पर जनता का विश्वास होने लगेगा उनमें समिति द्वारा झगड़ा आदि का निपटारा थोड़ा-बहुत तो होगा ही। जब किसी व्यक्ति या संस्था पर जनता का विश्वास होने लगता है, तो लोग स्वभावतः अपने मामले उसके पास ले आते हैं और उसके फैसला का सम्मान करते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे हमारा संघटन मजबूत होता जायगा, वैसे-वैसे अनुशासन-सम्बन्धी काम समितियों पर स्वतः आता जायगा। इस कार्यक्रम की स्वाभाविक प्रगति को हमारे कार्यकर्ता अपनी सहायता से आगे भी बढ़ा देंगे। मेरा कहना यही था कि आज जैसे गाँव में पहुँचते ही ग्राम-सेवक पंचायत के झगड़ों को कार्यक्रम के रूप में अपने हाथ में लेने लगते हैं वह तरीका गलत है। संघटित रूप से अनुशासन-सम्बन्धी व्यापक प्रश्न को हम ग्राम-संघटन का ढाँचा पूर्ण और मजबूत होने पर ही उठा सकते हैं। ऐसे समय हमारा काम आसान भी होगा क्योंकि तब तक

२५-४-३४

पहली तारीख को मैंने तुम्हें एक पत्र लिखा था। मिला होगा। आज से हमें बाहर सोने को मिलता है। यह पत्र मैं बाहर बैठकर ही लिख रहा हूँ। डेढ़ साल से ऊपर हो गया, रात को आसमान का तारा कैसा होता है, नहीं देखा था। आज नवरात्रों के लिए एक खास त्योहार का दिन है। सभी बैरकों के अहाते गुलज़ार दिखाई देते हैं।

पिछले पत्रों में मैंने कहा था कि ग्राम-सुधार का काम दो तरीकों से किया जा सकता है। एक अपनी संस्था द्वारा और दूसरा राष्ट्रीय सरकार द्वारा। मैंने सरकार के साथ 'राष्ट्रीय' शब्द जान-बूझकर ही जोड़ा है, क्योंकि विदेशी सरकार द्वारा ग्राम-सुधार योजना भला कैसे चल सकती है? विदेशी सरकार का हित ग्राम-उजाड़ में ही पूरा हो सकता है; वह ग्राम-सुधार कैसे कर सकती है? पंजाब में मि० ब्रायन अंग्रेज कर्मचारी थे। उनमें ग्राम-सुधार का शौक था। एक सरकारी उच्च कर्मचारी, उस पर अंग्रेज! अतः वे जितना चाहते थे उतना साधन सरकार से मिल सकता था। फिर भी अन्त में उन्हें कहना पड़ा कि 'ग्राम-सुधार का काम सरकारी महकमा और अफसरों द्वारा नहीं हो सकता।' इसका मतलब यह नहीं है कि किसी भी सरकार द्वारा नहीं हो सकता। चाहे वह ब्रायन साहब हों चाहे कोई दूसरे हों, जब तक सरकार का हित और जनता का हित परस्पर विरोधी है तब तक सरकारी महकमे कहने को ग्राम-सुधार के महकमे रहेंगे, लेकिन असलियत में वे ग्राम बिगाड़-योजना के एजेण्ट का ही काम करेंगे। उनकी योजना बड़े-बड़े सिद्धान्त-युक्त शब्दों से भरपूर रहेगी लेकिन उनका कार्यक्रम हमेशा

ग्राम सुधार
बनाम सरकार

देहाती जनों को उत्तरोत्तर पंगु बनाने का ही रहेगा। लेकिन कुछ लोगों का ख़याल ही ऐसा हो गया है कि किसी भी सरकारी महकमा द्वारा ग्राम-सुधार नहीं हो सकता; यह सही नहीं है। अगर ऐसा होता तो टर्की, रूस और जापान के कार्यक्रम सफल न हो पाते। सवाल सरकारी और गैर-सरकारी का नहीं है। सवाल यह है कि जो लोग सुधार-कार्य करेंगे, उनका ध्येय क्या है, उनका आदर्श क्या है और उनका हित किसमें है। स्वभावतः राष्ट्रीय सरकार का उद्देश्य और आदर्श नीतिपूर्ण होता है और उसका हित जनता के हित में ही है। फिर जब सरकार ही जनता की होगी, तो उसके कर्मचारियों को जनहित भक्त होना ही पड़ेगा।

मैं अब तक जिन्हें लिखता रहा उसमें संस्थाओं द्वारा काम करने की बात थी। इतने साल तक मैंने जो कुछ देखा, जो कुछ किया या जो कुछ सोचा सब अपनी संस्था के अन्तर्गत रहकर ही किया। इसलिए मेरा सारा अनुभव संस्था के माध्यम के मुताबिक काम करने का ही है। कांग्रेस सरकार के ज़माने में सरकारी महकमा की मारफ़त ज़रूर कुछ प्रयोग किया था, लेकिन उस समय हमारे मन्त्रियों का इतना अधिकार ही कहाँ था कि वे जन-हित की दृष्टि से ही सारी व्यवस्था करते। उस अनुभव से मुझे लाभ ज़रूर हुआ था फिर भी एक सही जनता की सरकार क्या कर सकती है उसका पूरा-पूरा अनुभव नहीं मिल सकता था। लेकिन साधारण रूप से देहाती समस्याओं को मैंने जितना समझा है और ग्रामीण जनता को जितना पहचान सका हूँ उसके आधार पर हम अपनी सरकार द्वारा किस प्रकार से और क्या-क्या कर सकते हैं उसकी कल्पना मात्र हो सकती है। इस पत्र में मैं उसकी कुछ झलक देने की चेष्टा करूँगा।

संगठन के दो भाग

मैंने पहले ही कहा है कि कोई योजना बनाने से पहले हमें जिस क्षेत्र के लिए कार्यक्रम बनाना है उसकी मौजूदा स्थिति का अध्ययन करना होगा। फिर हमें यह सोचना होगा कि हम कितने समय की योजना बनायें। हमें यह भी तय करना होगा

कि हमारा ध्येय क्या है ? फिर हमें इस बात पर विचार करना होगा कि हमारा मार्ग क्या होगा और संगठन का कल-पुरजा किस प्रकार का है। इस संगठन के दो विभाग होंगे : (१) सरकारी व्यवस्था-सम्बन्धी और (२) देहाती समिति आदि का। एक निरीक्षण तथा सहायता के लिए और दूसरा संगठन तथा व्यवस्था के लिए होगा।

मैं लिख चुका हूँ कि सरकार द्वारा भी जो ग्राम-सुधार का काम होगा उसका सिद्धान्त तथा तरीका वही होगा जो हम अपनी संस्थाओं में करते हैं। अन्तर केवल यही होगा कि जिन समस्याओं को हमने अपने साधन के बाहर समझकर छोड़ दिया है, उन्हें भी इस योजना में सम्मिलित करना होगा और हमने जैसे मूल उद्योग चरखा लिया है, उसी प्रकार सरकारी योजना में मूल उद्योग 'खेती' लेकर शेष उद्योगों को उसीसे सम्बद्ध करना होगा। उद्योग के सिलसिले में एक और बात का ध्यान रखना जरूरी है। हमें पहले ही तय करना होगा कि किस उद्योग को विकेन्द्रित ग्राम-उद्योग के रूप में चलाया जाय और किस उद्योग को केन्द्रीय उद्योग के रूप में। इनकी सूची बनाना कठिन है। इस समय कुछ सिद्धान्तों पर विचार करना पर्याप्त होगा।

पिछले एक पत्र में मैंने ग्राम-उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँटा है। इस बँटवारे में मैंने एक सिद्धान्त निश्चित किया था। ग्राम-उद्योग तथा केन्द्रीय उद्योग के बारे में भी हमें उसी तरह के सिद्धान्त के आधार पर निश्चय करना होगा। मैं

मौलिक आधार

पहले से ही कहता आ रहा हूँ कि यथासम्भव हमें आवश्यक सामान ग्राम-उद्योग के जरिये यानी विकेन्द्रित प्रणाली से प्राप्त करने की चेष्टा करनी है। लेकिन कुछ उद्योग ऐसे हैं, जिनके लिए प्रकृति ने हमें कच्चा माल केन्द्रित रूप से ही दिया है या जिनके उत्पादन में दूर-दूर के साधनों की आवश्यकता हो या जिनकी उत्पत्ति में खतरा अधिक हो या जिनकी उत्पत्ति के लिए इतनी ज्यादा शक्ति की आवश्यकता हो जो मनुष्यों या पशुओं के परिश्रम से प्राप्त होना सम्भव नहीं है। उन्हें हमेशा केन्द्रीय

हमें इसी ८७ प्रतिशत आबादी के भविष्य की बात सोचनी है। इस
प्रान्त के गाँवों की आबादी में प्रत्येक १ पुरुष
लगभग तथा में ६५४ स्त्रियाँ हैं। इस हिसाब से औसत प्रति गाँव
म.आबादी की आबादी ४० पड़ती है। प्रति गाँव की जन
संख्या का बँटवारा इस प्रकार है :

अवस्था	कुल	स्त्री	पुरुष
बूढ़े (६ से ऊपर)	२९	१५	१४
प्रौढ़ (१६ वर्ष से ६ तक)	२५३	१२४	१२९
लड़के (७ वर्ष से १५ तक)	१२२	६	६१
बच्चे (जन्म से ६ तक)	६६	३२	३४

इससे मालूम होगा कि हमारा प्रान्त खेती-प्रधान प्रान्त है। सरकारी रिपोर्टों से मालूम होता है कि इस प्रान्त की कुल आबादी की ७१ प्रतिशत खेती से गुजारा करती है। यानी देहाती जनसंख्या के साढ़े सिरासी प्रतिशत लोग खेती पर भरोसा करते हैं। अगर ५ व्यक्ति का परिवार माना जाय तो प्रति गाँव की बस्ती ९४ परिवारों की होती है। इसमें साढ़े अठहत्तर परिवार खेती करते हैं। बाकी परिवार क्या करते हैं, इसका हिसाब ठीक-ठीक मैं नहीं दे सकता। मैं समझता हूँ, इनमें अधिक से-अधिक २ या ३ परिवार कुछ उपयोगी काम करते होंगे और बाकी बैठकर साढ़े अठहत्तर किसान परिवारों पर बोझ बने हुए हैं। जो लोग उपयोगी काम में लगे हैं, उनमें कुछ तो नाऊ नाई धोबी आदि सेवा का काम करते हैं और बाकी कुछ न कुछ उद्योग में लगे हुए हैं। लेकिन उद्योग के नाम से गाँव में है ही क्या? प्राचीन ग्रह-उद्योग में जो कुछ थोड़ा-बहुत किन्हा रह गया है, वह सब बाजार की सहूलियत के कारण शहर और कस्बों में ही केन्द्रित हो गया है। यहाँ तक कि सार्वजनिक आवश्यकता का उद्योग—बुनाई भी कस्बों और शहरों में ही सीमित है। गाँवों में जो बुनकर थे उनमें अधिकांश खेती में चले गये हैं या खेती के साथ कुछ लोग अक्सर-सवेरे कभी-कभी बुनाई भी कर लेते

है। इसके अलावा देहातों में मामीरा आवश्यकता के लिए कहीं-कहीं कुछ लोहार, बढ़ई, कुम्हार, चर्मकार बसे हुए दीख पड़ते हैं। लेकिन उनके काम को हम उद्योग न कहकर किसानों की सेवा कहें, तो शायद अधिक सही होगा।

वस्तुतः भारत के लोगों की औसत आमदनी क्या है, इसका हिसाब अर्थशास्त्री अब तक शायद ही ठीक से कर पाये हैं। इस मामले में भिन्न-भिन्न पण्डितों का भिन्न-भिन्न मत है। कोई १) सालाना करता है, तो कोई ७) तक बताता है। लखनऊ के 'हिन्दुस्तान साप्ताहिक' में (११ अप्रैल १९४४) श्री राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि भारत के ग्रामीण परिवारों की औसत आमदनी ६) प्रति परिवार मासिक है। ५ व्यक्ति का परिवार मानकर उनके हिसाब से प्रति व्यक्ति आमदनी १८) होती है। यह आमदनी गृहस्थों की है अगर इसमें मजदूर आदि शामिल की जाय तो और कम हो जायगी। मध्यप्रान्त की कांग्रेस सरकार ने भी कुमारप्पा की प्रधानता में एक कमेटी मुकर्रर की थी। उन लोगों ने ६ ६ गांवों की सम्पूर्ण जांच की थी। उनका कहना है कि मध्यप्रान्त के गांवों की औसत सालाना आमदनी लगभग १२) है। अगर यह मान लें कि मध्यप्रान्त हमारे सूबे से गरीब है और श्री कुमारप्पा तथा श्री मुकर्जी की रिपोर्टों पर विचार करें तो हम आसानी से यह मान सकते हैं कि युक्तप्रान्त की ग्रामीण जनता की औसत आमदनी १५) वार्षिक प्रति व्यक्ति है।

अब देखना यह है कि इतनी कम आमदनी में वे गुज़र किस तरह करते हैं। क्या खाते हैं क्या पहनते हैं और कैसे घर में रहते हैं। लेकिन

१ [illegible] के अनुसार [illegible]

२ [illegible] (१००) [illegible] है।

३ [illegible]

इसमें देखना ही क्या है ! मकान की बात तो पूछो मत, एक लम्बी दीवार;

रहन-सहन

उस पर फूस का या ईख के सूखे पत्ते का छप्पन, सो भी चारों ओर खुला रहता है। दरवाजा बाँस की कन्नों का एक टट्टर। वस्त्र तो नहीं के बराबर है ! गाँव में किस तरह लोग जाड़े में रातभर आग के सामने बैठकर और दिन में धूप खाकर दिन काटते हैं, उसका हाल मैं लिख चुका हूँ। भारत के औसत कपड़े की खपत ११ गज में से शहरवालों का हिस्सा निकाल देने से गाँव की औसत शायद ८ या ९ गज प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष की हो और इस प्रांत की हालत इससे कुछ भिन्न तो है नहीं। अब रह गया भोजन। जहाँ व्यक्ति की कुल सालाना आमदनी १५) मात्र है, वहाँ के लोगों के भोजन का क्या हिसाब लगाया जाय ! तुम भी इसका अन्दाज नहीं कर सकती कि इतने में परिवार का भोजन किस तरह हो सकता है। अगर १४ रास्ते अन्य आवश्यकताओं में खर्च हों, तो भोजन के लिए १) मासिक भी तो नहीं पड़ता है। हमारे पढ़े-लिखे भाई-बहन गाँव की गन्दगी देखकर कहने लगते हैं कि गन्दगी के बीच रहकर लोग बीमार होकर मर क्यों नहीं जाते ? गाँव के लोग जिन्दा रहते हैं, इसी पर आश्चर्य होता है। अगर उन शिक्षित भाइयों को भोजन की स्थिति मालूम हो जाय तो मारे डर के गाँव को जाना ही नहीं चाहेंगे क्योंकि उन्हें विश्वास ही नहीं होगा कि गाँव में जो लोग दीख पड़ते हैं, वे जीवित मनुष्य हैं। उन्हें यह शक होगा कि ये कहीं मृत मानवात्मों की प्रेतात्मा तो नहीं हैं। क्योंकि ये जीवित मनुष्य होते तो क्या खाकर जिन्दा रहते !

देहात के लिए अन्न और दूध का औसत

अगर सारे भारत के अनाज का हिसाब देखा जाय तो हमारी कुल उत्पत्ति ६-७ करोड़ टन के करीब होगी। इसमें जितना विदेश चला जाता है, जितना बीज के लिए रखा जाता है, जितना यातायात में नष्ट होता है, जितना पशुओं के लिए अलग किया जाता है, उनको घटा दिया जाय तो ५ करोड़ टन से भी कम बचेगा। अगर कम-से-कम

घर के आगे-पीछे तथा अगल-बगल की गलियों की हालत तो और बुरी है। घर बनाने का तरीका ऐसा है कि जमीन की सतह कभी समतल नहीं रह पाती। स्वाभाविक ढाल न होने से नाबदान का पानी निकल नहीं पाता और वह भीतर-भीतर सड़ता तथा कीचड़ पैदा करता है। पुरवा किस्म के छोटे-छोटे गाँवों में आबादी की कमी के कारण फिर भी गनीमत है। लेकिन पुराने गाँवों की तो अजीब हालत है। जब एक परिवार के लड़के अलग होते हैं, तो अक्सर पैतृक मकान के भी टुकड़े कर लेते हैं। इन घरों के बीच मुश्किल से चलने फिरने लायक गलियाँ रह जाती हैं। जब उन्हीं गलियों में लगातार नाबदान के पानी के साथ कूड़ा सड़ता रहता है तो एक अजीब हालत पैदा होती है। ऐसी गलियों में तो जगह-जगह बच्चों की टट्टियों के बेल-बूटे काढ़े रहते हैं। घर के दूर और गड्ढों का मैं कई बार जिक्र कर चुका हूँ। इन गड्ढों में गाँव-भर की टट्टी और भोजन का मैला पानी जमा होता है, उसीमें लोग आबदस्त लेते हैं, बदन मौंजते हैं, धोबी का कपड़ा धुलता है, सूअर लोटते हैं और पशुओं को पानी पिलाया जाता है। कभी-कभी आदमी भी उसीमें डुबकी लगाकर नहा लेते हैं। गड्ढों की हालत पश्चिमी जिलों से पूर्वी जिलों में ज्यादा भयानक है, क्योंकि पश्चिमी इलाकों में पानी सूखकर जैसाख-जेठ की धूप तो लग जाती है।

गड्ढों के सड़े पानी में

ऐसे घरों में कितना सामान होगा इसका अन्दाज लगाना कठिन नहीं होना चाहिए। बर्तनों में जिनके पास कुछ सामान पीतल का हो, तो वे अच्छी दशा में हैं ऐसा कहा जा सकता है। नहीं तो मिट्टी के बर्तन ही काफी हैं। ग्राम-उद्योग के भक्तगण जो लोग गाँवों में जाते हैं, वे प्रायः गाँव के लोगों के जेवर-प्रेम के खिलाफ खूब जोरों से प्रचार करते हैं। लेकिन क्या सोच तो करो, उनके पास जेवर नाम से है क्या चीज। सोने का जेवर तो किसीके पास है ही नहीं। किसीके पास एकाध चाँदी का जेवर है। वे लोग भाग्यशाली कहलाते हैं। बाकी लोगों

वस्तुतः देहात की स्थिति का मतलब खेती-बारी की ही स्थिति है। पहले ही मैंने कहा है कि साढ़े सितासी प्रतिशत लोग खेती पर भरोसा करते हैं। इस खेती की हालत क्या है, उसे भी देख लो। पैंजाब के भी डार्लिंग साहब के हिसाब से इस प्रान्त के प्रति किसान की ढाइ एकड़ भूमि पड़ती है।

खेती-बारी

१९४१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार इस प्रान्त की ५७ १ प्रतिशत जमीन खेती लायक है। जितनी जमीन खेती लायक है, उसका ६१·९ प्रतिशत पर आजकल खेती हो रही है। खेती लायक जमीन के २१·९ प्रतिशत पर दो बार अनाज बोया जाता है। इस हिसाब से प्रति गाँव में औसत १४७·८ एकड़ पर खेती होती है और १२ १ एकड़ खेती लायक जमीन बेकार पड़ी है। युक्तप्रान्त सरकार की खेती संघटन कमेटी १९४१ के लोगों ने कुछ ऐसी जमीन का भी हिसाब किया है, जिसको कोशिश करने से खेती के काम में लाया जा सकता है। उन्होंने खेती लायक लेकिन खेती नहीं होती है ऐसी जमीन को दो हिस्सों में बाँटा है। एक ऐसे ऊसर, जिन्हें काम में लाया जा सकता है दूसरा मामूली। उनके हिसाब से पड़ी हुई जमीन इस प्रकार है :

मामूली जोतने लायक ६८,११ ४५२ यानी १९ १ एकड़ प्रतिगाँव।

ऊसर जोतने लायक ५१ ६२१ यानी ४६·८ एकड़ प्रतिगाँव।

दोनों हिसाब मिलाकर हम अपने प्रान्त की खेती लायक जमीन का इस प्रकार बँटवारा कर सकते हैं। मैं प्रायः प्रति गाँव की औसत लगाकर ही बताने की चेष्टा करूँगा जिससे समझने में आसानी हो।

प्रति ग्राम की औसत

कुल रकबा ११४ १ एकड़

परती आसानी से खेती होने लायक १२ १ एकड़

खेती होती है १४७·८ एकड़

जिन्हें खेत बनाया जा सकता है १४ एकड़

ऐसे ऊसर, जिन्हें खेत बनाया जा सकता है ४६·८ एकड़

क्या ? लगान कानून के कारण भी अधिकांश किसानों को जमीन की पैदावार बढ़ाने में दिलचस्पी नहीं है। इन नाना बाधाओं से किसानों को गुजरना पड़ता है।

खाद

खेती का मुख्य साधन खाद है। हमारे गाँवों में अधिकांश गोबर का कंडा बनाकर जला देते हैं। युक्तप्रान्त पुराना देश है। भारतीय इतिहास के प्रथम युग से ही इसी गंगा-यमुना के तट पर लोग रहते आये हैं। अतः स्वभावतः इस भूमि पर जंगल बहुत कम रह गया है। जमीन के उपजाऊ होने तथा नदी-तट पर होने से यहाँ की आबादी भी घनी है। इस कारण लोगों ने अधिक-से-अधिक जंगल काटकर खेत बना लिये हैं। अब आबादी के अन्दर कोई जंगल रह ही नहीं गया है। जिन इलाकों में लकड़ी है, वहाँ आबादी नहीं, जहाँ आबादी है, वहाँ लकड़ी नहीं। अतः आग जलाने के लिए केवल गोबर का कंडा ही रह गया है। गाँव में आज गोबर का मुख्य उद्देश्य कंडा हो गया है। ग्रामवासी केवल उतने ही दिन गोबर खाद के लिए रखते हैं जितने दिन कंडा पाथना सम्भव नहीं होता। अगर बरसात में गोबरौली लगने का डर न होता, तो शायद लोग छप्पर के नीचे कंडा पाथने की व्यवस्था करते।

कंडा कितने दिन पाथा जाय, उसका एक नियम पुराने जमाने से चला आता है। भातृ-द्वितीया के दिन स्त्रियाँ गोधन कूटती हैं। तुमने बनारस में रहते समय देखा होगा। उस दिन वे गोबर का एक लम्बा पिंडा बनाती हैं, फिर उसकी छोटी-छोटी बत्ती बनाकर सब अपने घरों ले जाती हैं। उसके बाद की एकादशी के दिन 'देवोत्थान एकादशी से कंडा के लिए गोबर जमा करने का विधान है। फिर होली से पहले ही कंडा पाथकर सुखा लेना है और गाँव में जो मन्दिर-जैसे ऊँचे-ऊँचे ढेर दिखाई देते हैं, वैसा बना डालना। इसका मतलब यह है कि होली के कम-से-कम १५ दिन पहले ही कंडा पाथना बन्द करना जरूरी है। इस प्रकार कार्तिक सुदी एकादशी से लेकर फाल्गुन की अमावस्या तक यानी

भी जितनी खेती होती है, उसके थोड़े हिस्से में ही सिंचाई हो पाती है। जितनी जमीन जिस प्रकार से सींची जाती है, उसका ब्योरा यों है :

सिंचाई का जरिया	रकबा सिंचाई का एकड़ में	
सरकारी नहर से	१७,६२,१११	कुल जोड़ २,१६ १७,५८७ यानी जितनी जमीन पर खेती होती है, उसका ११ १ प्रतिशत
खास नहर (व्यक्तिगत नहर) से	११ ४११	
खास तालाबों से	५८,२२२	
कुआं से	११,५८, ५१	
दूसरे जरियों से	२५, १,६१	

ऊपर के हिसाब से मालूम होगा कि हमारे यहाँ सिंचाई के ४ जरिये हैं : (१) नहर, (२) कुआँ (३) खास तालाब और (४) झील नाला आदि। नहरें अधिकतर पश्चिमी जिलों में हैं। इधर ५-६ साल से फैजाबाद जिले में भी नहर बनी है। कुछ सिंचाई प्राइवेट नहरों से भी होती है।

हम जब रसीदों से जाफिरपुर गाँव जा रही थीं, तो रास्ते में कुछ सूखे कुएँ देखकर पूछा था कि लोग इनको ठीक क्यों नहीं कर लेते हैं। उस पर साथ में गाँव के जो दो भाई थे उन्होंने कहा था कि वे अब इतने गरीब हो गये हैं कि मठा हुआ कुआँ खोदना उनके लिए सम्भव नहीं है। पुराने जमाने में हमारे यहाँ बहुत कुएँ थे। गाँव की सार्वजनिक अवनति के साथ-साथ कुएँ भी हजारों की तादाद में मठ गये। खेती का छोटे-छोटे हिस्सों में बँटना भी कुओं के भठने का एक कारण है। नये कुएँ भी बने हैं, लेकिन बनने की तादाद मठने की संख्या से बहुत कम है। अब इस प्रान्त में कुल १४ कुएँ रह गये हैं। उनकी भी हालत बहुत अच्छी नहीं है। सच पूछो तो अधिकांश सिंचाई को सिंचाई न कहकर छिड़काव कहा जा सकता है। ऐसा छिड़काव करने पर भी प्रति कुआँ औसत पाँच ही एकड़ सिंचाई पड़ती है। कुओं में पानी बढ़ाया जाय और रहँट की सिंचाई हो तो एक कुएँ से २ एकड़ जमीन की अच्छी सिंचाई हो सकती है।

प्रान्त के तालाबों की हालत कुओं से भी खराब है। पहले जमाने में तालाब आबपाशी का बहुत बड़ा ज़रिया था। उसका महत्त्व कुओं से भी ज्यादा था। पूर्वी ज़िलों में हर मील में ४-६ तालाब दिखाई देंगे। लेकिन सब पट गये हैं। कुएँ तो फिर भी लोग बहुत कुछ कायम रखे हुए हैं नये भी बनवाये हैं, लेकिन तालाबों की ओर तो ध्यान ही नहीं। दिन दिन उनके अस्तित्व के चिह्न लुप्त होकर खेतों में मिलते चले जा रहे हैं। आज जितने तालाब हैं भी, वे इतने छिछले हैं कि उनसे मुश्किल से मटर की एक सिंचाई लोग कर पाते हैं। इस प्रान्त में तालाबों की संख्या मालूम नहीं लेकिन जितने तालाब हैं, अगर उनकी हालत अच्छी होती तो आज जितनी सिंचाई तालाबों से होती है उससे ७-८ गुनी सिंचाई हो सकती थी। फैज़ाबाद ज़िले में ही आज की हालत में भी झील-तालाब आदि से १ १५ १२ एकड़ की सिंचाई होती है।

इसके अलावा हमारे प्रान्त के पच्छिमी ज़िलों में बिजली के ट्यूबवेल का प्रचार भी इधर कुछ सालों से हो रहा है।

गाँव के पशुओं की स्थिति मैं पहले लिख चुका हूँ। आज युक्तप्रान्त में ६२ ११ गायें और ४ ८२ भैंसें मिलकर १ २७४ ५८ मन दूध देती हैं। यानी औसत प्रति पशु ६ मन ९६ सेर प्रति वर्ष दूध होता है। एक सेर एक छटाक प्रति दिन का औसत! यद्यपि हमारा प्रान्त दूध-घी के लिए खास प्रान्त कहा जाता है पर यह औसत बहुत कम है।

गाँव में दूध की पैदावार प्रान्त के औसत से बहुत कम होगी। शहर के ग्वाले देहातों से छाँटकर अच्छे पशु ले जाया करते हैं। इस तरह शहर में चुनी हुई अच्छी दूध देनेवाली गाय-भैंसें ही रहती हैं। दूसरी बात यह है कि शहर के ग्वाले बिना दूधवाला पशु रखते ही नहीं वे एक बार लाकर दूध ले लेने के बाद उसे बेच देते हैं। उन्हें या तो मार दिया जाता है या देहातों को फिर भेजा जाता है। इस प्रकार बिना दूध देनेवाली गाय-भैंसों के न होने से भी शहर की औसत पैदावार बहुत

अधिक बढ़ जाती है। अगर हिसाब लगाया जाय, तो गाँव की गाय-भैंस शायद ही औसत १ पाव प्रति दिन से अधिक दूध देती होंगी।

यह हुई दूध देनेवाले जानवरों की हालत। अब जरा बैलों की कहानी सुनो। इस मामले में हमारे प्रान्त के दो हिस्से हैं। पूर्वी जिलों का और पश्चिमी जिलों का हिसाब इस प्रकार है :

इलाका	प्रति हल भूमि जुताई	मवेशियों की खुराक के लिए कुल भूमि का अनुपात	१ दूध देनेवाले जानवरों के लिए चारा की भूमि
	एकड़	प्रतिशत	एकड़
पश्चिमी जिले	८५६	१६५	७१२८
पूर्वी जिले	५ २४	१५	५ २४

— खेती-सुधार कमेटी यू० पी० १९४१

इन अंकों से मालूम होगा कि आज हमारे प्रान्त में मवेशियों के लिए कितनी कम जमीन पर खुराक पैदा करते हैं। ऐसी हालत में वे कम काम करेंगे इसमें संदेह ही क्या है। यद्यपि पश्चिमी जिलों की हालत कुछ अच्छी है, फिर भी मिस्र आदि देशों की तुलना में यह इलाका भी बहुत पीछे है। इसके अलावा हमारे प्रान्त में चरागाह केवल ५२ लाख एकड़ ही है। इस ५२ लाख एकड़ पर १ ११५, गाय-भैंस और ८,७९ ४ भेड़-बकरियों चरने के लिए हैं। इतना कम चरागाह भी सारे प्रान्त में समान बँटा हुआ नहीं है। इस चरागाह का अधिकांश जंगल के पास और नदी के किनारों पर ही है। इसलिए अधिकांश देहातों में चरागाह नहीं के बराबर ही है। जब पशुओं की खुराक इतनी कम है और दूध के लिए गाँव का कोई महत्त्व नहीं तो लोग गौओं को कसाई के हाथ बेच दें इसमें आश्चर्य ही क्या है। फलतः सारे प्रान्त में हर साल ४,८ , गौओं की मांस के लिए हत्या की जाती है।

हमारे प्रान्त के जंगल प्रधानतः हिमालय की तराई विन्ध्य गिरिमाला बुन्देलखंड आदि इलाके में ही हैं। प्रान्त के कुल क्षेत्रफल का ४८ हिस्सा

कैसा है। अब तक इस प्रान्त के जंगलों का इस्तेमाल केवल लकड़ी के लिए

जंगल — ही है। उद्योग के लिए जंगलों से क्या-क्या कच्चा माल मिल सकता है इसकी पूरी जाँच भी नहीं हुई है।

पिछले एक पत्र में मैंने लिखा था कि हमारे प्रान्त में शिक्षा कितनी कम है। गाँवों में ढूँढ़ने से एक मिडिल पास आदमी मिलेगा स्त्रियों की तो

शिक्षा — कोई बात ही नहीं। इस प्रान्त में कुल ४ ६७,४ पुरुष और १,१ ८७ स्त्रियाँ साक्षर हैं। कुल आबादी के पुरुष तथा स्त्रियों का अनुपात क्रमशः १ ८ और २ १ है। कुल साक्षरता का अनुपात सम्पूर्ण आबादी का ८४ प्रतिशत है। यह अनुपात भारत के औसत से भी कम है।

प्रान्तभर में स्कूलों में पढ़नेवाले १ साल से २२ साल तक की उम्र के लड़के-लड़कियों की संख्या १ १६,८४ ४५१ है। यानी इस उम्र की आबादी के ९ प्रतिशत लड़के स्कूल में पढ़ते हैं। तुम्हें मालूम ही है कि पढ़ाई अधिकतर शहरों में ही होती है। अगर शहर की आबादी घटाकर जोड़ें, तो यह अनुपात ४ प्रतिशत से भी कम हो जायगा। यह पढ़ाई भी ऐसी है कि लड़के दुनिया का कुछ सीख नहीं पाते हैं। लड़कियों की तो कोई बात ही नहीं। रामायण महाभारत की कहानी तक वे नहीं जानती हैं।

खेती-प्रधान प्रान्त होने पर भी यहाँ खेती-शिक्षा की विशेष व्यवस्था नहीं है। जो है भी वह सब सरकारी महकमा के कर्मचारी बनाने की मशीन मात्र है। साधारण किसान श्रेणी के लोगों की शिक्षा तो हो ही नहीं पाती। इस प्रान्त में कृषि-शिक्षा के लिए तीन ही स्थान हैं: कानपुर, बुलन्दशहर और गोरखपुर। इन तीनों शिक्षालयों के प्रति विद्यार्थी के लिए प्रति वर्ष केवल सरकारी खर्च ही इस प्रकार है :

१ कानपुर कॉलेज ६९४)
२. बुलन्दशहर स्कूल ३६१)
३. गोरखपुर स्कूल ४२७)

} इसके अलावा छात्रों का अपना खर्च भी होता है

इतने खर्चे से कितने खेतिहरों की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है, तुम समझ सकती हो।

ग्राम-उद्योग की शिक्षा का तो कोई केन्द्र आज है ही नहीं। हम लोगों ने रखीलों में कुछ प्रबन्ध किया था, पर उसे तो सरकार ने ८ अगस्त के प्रस्ताव के बहाने खतम ही कर दिया।

बेकारी

आज संसार में अगर कोई एक चीज सारे राजनीतिज्ञों, अर्थशास्त्रियों समाजसेवियों साहित्यिकों, कवियों, पण्डितों, पादरियों और जितने सज्ञान लोग हैं, उन सबको परेशान करती है, तो वह है बेकारी की समस्या। सारे भारत में १९२१ में प्रति १ आबादी में २९१ खेतीहीन मजदूरों की संख्या थी वह बढ़कर सन् १९११ में ४ ७ हो गयी थी। श्री राधाकमल मुखर्जी का कहना है कि हमारे प्रान्त में सन् १९११ में सन् ४४,५२ ४१ मजदूर खेतों मे मजदूरी करते थे और सन् '२१ में ४ ११,८८०७ मजदूर काम करते थे। इसका मतलब यह हुआ कि प्रति १ साल में ११ १ सैकड़ा मजदूर खेत में काम करने से वंचित होते जा रहे हैं। लेकिन इस प्रकार के हिसाबों से असली स्थिति का पता नहीं चल सकता। अगर हमें ठीक ठीक हिसाब लगाना हो, तो उतने से ही काम नहीं चलेगा। हमें यह भी देखना है कि गाँव की आज की आबादी की शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार गाँवों में कितनी खेती होती है उनमें कितने आदमी लगने चाहिए और उससे ज्यादा आदमी अगर मजबूरन उसमें पड़े हैं, तो उन्हें बेकारों मे गिनना चाहिए। इधर जेल में खाली बैठे-बैठे मैंने इसका कुछ हिसाब निकाला था। इस हिसाब में मनुष्य और पशुओं के श्रम की गति आज की गति के अनुसार रखी है। मेरा अनुभव पूर्वी जिलों का ही है। इसलिए मैंने यह गति पूर्वी जिलों के हिसाब से रखी है। अगर पूरे प्रान्त का हिसाब लिया जाय तो औसत गति मेरे हिसाब से ज्यादा ही होगी।

आज जितनी खेती होती है, उस पर काम के दिन का हिसाब इस तरह निकलता है। लेकिन इस हिसाब से भी बेकारी का अन्दाज लगाना शायद ठीक न हो। जिस तरह की खेती के आधार पर काम की हाजिरी जोड़ी गयी है, वह उन खेतिहरों की है, जो सुखहाल हैं और जिनके पास खाद-पानी का साधन है। लेकिन तुम्हें मालूम है कि हमारे प्रान्त में अधिकांश किसान गरीब और साधनहीन हैं। न तो वे जमीन को इतनी बार जोत सकते हैं और न उतना पानी ही सींच सकते हैं। ८८·४% जमीन पर तो पानी की सिंचाई की व्यवस्था ही नहीं है। केवल ११·६% जमीन पर, जिसके लिए सिंचाई का प्रबन्ध है भी, गरीब किसान अनुपात से कम पानी सींच पाते हैं। फिर मैंने सारी जमीन की सिंचाई की मजदूरी कुएँ के हिसाब से जोड़ी है। लेकिन हकीकत यह नहीं है। तालाब से सिंचाई में मजदूरी बहुत कम लगती है। नहर की और पहाड़ या तराई के इलाकों की सिंचाई में तो मजदूरी नहीं के बराबर लगती है। परिस्थिति समझने के लिए तुम ऊपर बताये दिनों में से १५ प्रतिशत दिन निःसंकोच घटा सकती हो। खेती के काम पशु चराने आदि के अलावा गृहस्थी के और काम भी रहते हैं। उन्हें भी जोड़ लेना चाहिए। खेती के काम में १५ प्रतिशत घटाकर और अन्य कार्यक्रमों को जोड़कर काम के दिन इस प्रकार होंगे :

श्रम	दिन			
	पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
खेती	८५	५६	४६	८६
पशु चराना	१६	१	५६	
स्कूल			१४	
मकान तथा अन्य निर्माणों की मरम्मत	६	४	४	
मेंड़ बँधाई	८		४	
लकड़ी काटना-चीरना	४		४	२
अनाज ढोवाई बाजरा की	१			१८
वाणिज्य		१२	५	--
त्योहार	७	१	७	
बीमारी शुश्रूषा	१	१	१	
मकान की सफाई	१	८	५	
अनाज सफाई अलग से	--	७		
प्रसूति		१		
फुटकर काम	६	१५	१	
बैलगाड़ी	१	--	१	४
कंडा पाथना		२		
	१५०	९८	१७६	६१

बेकारी के दिन

पुरुष	स्त्री	किशोर	बैल
२१० ६ माह।	१८२ ६ माह।	१८६ ६ माह।	२७० ६ माह।

अगर पुरुषों का एक माह का समय दीगर काम के लिए निकाल लिया जाय तो पुरुष आसामी ६ माह बेकार रहती है।

यह बेकारी तो केवल उन ७८ परिवारों के लोगों की है जो खेती पर गुजर करते हैं। इसके अलावा प्रति ग्राम में ६४ परिवार में से और

१५।। परिवार बचते हैं। उनकी हालत पर भी विचार करना आवश्यक है। इनमें से १४ परिवार तो नाई, धोबी, कँहार, लोहार, बढ़ई, कुम्हार आदि के रूप में वहीं ७८।। अवभूले परिवारों से नोचकर किसी प्रकार गुजारा करते हैं। वे भी किसी-न-किसी काम में लगे रहते हैं, ऐसा मान लो। इस प्रकार विभिन्न कामों के लिए साढ़े पाँच परिवारों को पचाने पर भी १ परिवारों के लिए एकमात्र काम 'जय सीताराम' भजना ही है।

उपर्युक्त हिसाब से सारे प्रान्त की ग्रामीण जनता की बेकारी किस प्रकार होगी, उसका अन्दाज लगा सकते हो। अगर प्रति ग्राम की बेकारी को प्रान्तभर के १ २१८८ ग्रामों से गुणा किया जाय, तो परिस्थिति इस प्रकार होगी :

७८।। परिवारों के १ २ ,८१,७८४ प्रौढ़ पुरुष ६ माह यानी ६ ४ ८९२ प्रौढ़ पुरुष सम्पूर्ण बेकार रहते हैं।

१,१६ ७२ २१२ प्रौढ़ स्त्रियाँ ६ माह यानी ५८,३६,१११ प्रौढ़ स्त्रियाँ सम्पूर्ण बेकार रहती हैं।

४० ६,८१८ किशोर ६ माह यानी २१ ५४,६२४ किशोर सम्पूर्ण बेकार रहते हैं।

यानी कुल संख्या २ ८४ ११ ८६४ में कुल १,४२,११,६१२ आदमी सदा बेकार रहते हैं।

जो दस परिवार राम-भरोसे पड़े हैं, उनमें १५×१ २१८८ यानी १५,१५,८२ प्रौढ़ पुरुष १८४×१ २१८८=१४ ७४,१८० प्रौढ़ स्त्रियाँ और ५८×१ २१८८ ५,६१ ८९ किशोर हैं। अर्थात् उनमें कुल सक्षम प्रकार आबादी की संख्या ३६ ८ ५७ है। इस तरह हमारे प्रान्त की देहाती जनता में १,०८,१५,९८९ श्रम करने लायक आबादी साल में ११५ दिन बेकार बैठी रहती है। यानी श्रम करने लायक कुल आबादी के ६२ प्रतिशत के करीब लोग खाली रहते हैं। इतना ही बस नहीं। इन पर बैलों का खाली समय भी जोड़ना है। हमारे

१-५-'४४

गत महीने की २५ तारीख को एक लम्बा पत्र लिखा था मिला होगा। आज फिर लिखने बैठ गया। पिछले पत्र में मैंने अपने प्रान्त की वर्तमान स्थिति पर कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की थी। वस्तुतः ग्राम-निर्माण की दृष्टि से अगर परिस्थिति को जानना ही हो, तो हर प्रश्न पर जाँच करना जरूरी है। आज उसकी सुविधा तो है नहीं। मैंने कुछ सरकारी रिपोर्टों से और कुछ अपने अनुभव से स्थिति को देखने की कोशिश की है। मैंने जो हिसाब निकाला है, वह अधिकतर अनुभव के आधार पर ही बनाया गया है। आज सरकारी रिपोर्टों में जो आँकड़े निकलते हैं, मेरा हिसाब उनसे कम प्रामाणिक नहीं है।

मानव की मौलिक आवश्यकताएँ

अन्न, वस्त्र तथा आश्रय मनुष्य की तीन बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। सबसे पहले हमें इन्हीं तीन पर विचार करना है। इनका हल हम कर लें तो पूरी तरह सुखी हो सकते हैं। हमें यह देखना है कि सारी आबादी के स्वस्थ जीवन धारण के लिए कितने और किस प्रकार के भोजन की आवश्यकता है और उसमें कितना अनाज कितना दूध-घी, कितना नमक-मसाला आदि चाहिए। साथ ही हमें यह भी देखना है कि भोजन के अलावा मवेशियों के लिए बीज के लिए, रिजर्व के लिए और दूसरी दूसरी मदों के लिए कितनी और सामग्री चाहिए। आज से जो बढ़ती सामग्री की आवश्यकता होगी वह कहाँ से आयगी? आज जितनी जमीन है उसी पर फसलों की पैदावार बढ़ाकर कुल आवश्यक अन्न आदि सामग्री पूरी हो जायगी क्या? अगर पैदावार बढ़ायी जा सकती है, तो किस हद

बिना बदला नहीं जा सकता हो या हमारी खेती की स्थिति को देखते हुए उन्हें बदलना श्रेय न हो, तो मौजूदा औजारों में क्या-क्या परिवर्तन करना होगा ?

मजदूरों की समस्या क्या है ? खेती मजदूरों से करायी जाय या खुद किसान काम करें ? अगर मजदूर चाहिए, तो किस स्थिति में और किस अनुपात से ? ऐसे मजदूरों की मजदूरी क्या होनी चाहिए ?

हमारा प्रान्त गाय भैंस के लिए काफी मशहूर है। हमें सोचना है कि जितने बैल और भैंसे ग्राम जोताई के लिए हैं, वे काफी हैं या उन्हें बढ़ाना होगा। किस तादाद में बढ़ाना है या इनकी नस्ल सुधारकर इनकी कर्मशक्ति को बढ़ाना है ? ऐसा

साधनों का सवाल

सुधार किस तरीके से किया जा सकता है ? उम्दा बैलों के एक जोड़ा से कितने एकड़ खेत जोता जा सकेगा ? उस हिसाब से कितने बैल चाहिए ? अगर कम चाहिए, तो किस उपाय से यह तादाद पूर्ण की जा सकती है ? बैलों की नस्ल सुधारने के लिए अनिवार्यता गौओं के प्रति ध्यान देना होगा। इस प्रकार जो गौओं की संख्या बढ़ेगी उनका क्या करना होगा ? अगर रखना है तो भैंसों के उपरान्त ही रखना होगा क्या ? इस समस्या पर हमें भलीभाँति विचार करना है, क्योंकि आज घी के लिए भैंस ही पसन्द की जाती है। अगर भैंसों की तादाद बढ़ानी पड़े तो भैंस के उपरान्त गौओं को किस प्रकार रखा जा सकता है ? दोनों को रखने के लिए हमारे पास काफी चारा हो सकेगा क्या ? बढ़ते दूध का बाजार हमें मिल सकेगा क्या ? अगर चारे का साधन नहीं है और दूध का बाजार नहीं है तो गाय और भैंसों में किसे तरजीह देनी है ? इस प्रश्न पर आर्थिक, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सभी दृष्टियों से विचार करना होगा। पशुओं को कितनी खुराक चाहिए ? आज जितना चारा है उससे अधिक चारा कैसे पैदा हो ?

केवल साधन के प्रश्न हल होने पर ही खेती की समस्याओं का हल नहीं हो जाता। आज जो प्रति ग्राम ७०% परिवार खेती में लगे हैं क्या

मैंने कहा है कि खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए खाद और पानी का उचित प्रबन्ध करना हमारा सर्वप्रथम कार्य होगा। सवाल यह है कि उन्हें किस तरह प्राप्त किया जा सकेगा। खाद के लिए हड्डी, टट्टी आदि चीजों का इस्तेमाल ग्राम की सामाजिक परिस्थिति में कहाँ तक सम्भव हो सकेगा? इनके लिए क्या-क्या बाधाएँ हैं; उन्हें पार करने का क्या उपाय है? रासायनिक खाद काम में लानी चाहिए क्या? अगर चाहिए, तो फिर हद तक? कहाँ तक उनका प्रचार ठीक होगा? पानी के लिए नहर, बिजली द्वारा चालित ट्यूबवेल, कुआँ, तालाब नदी, नाला आदि साधनों का स्थान क्या है? कहाँ किस प्रकार की व्यवस्था ठीक होगी? इन प्रश्नों पर इतना मतभेद है इतने गलत ख्यालात हैं कि पूर्णरूप से विचार किये बिना किसी प्रकार की योजना आरम्भ करने का मैं पक्षपाती नहीं हूँ।

खेती की समस्याओं पर विचार करने के बाद हमें यह देखना होगा कि भोजन-सामग्री और किन उपायों से प्राप्त की जा सकती है? मछलियों की खेती कैसे बढ़ायी जा सकती है? अंडे आदि मांसाहारों का सामान कितना और किस तरह पैदा किया जा सकता है? मांस के लिए पशुओं को पालना कहाँ तक उचित और सम्भव होगा?

वस्त्र की समस्या हमारे लिए अन्न-समस्या जितनी ही महत्त्व की है। हमें इस बात का विचार कर हिसाब लगाना होगा कि हर आदमी को कितना कपड़ा चाहिए? इतना कपड़ा कहाँ से आयेगा? उसके लिए रुई कहाँ से प्राप्त होगी? आज कताई की कला मृतप्राय है। उसे बढ़ाने का क्या उपाय है? कला-विशेषज्ञ कहाँ से आयेंगे? कौन बिनेगा? कौन बिनावेगा? क्या सब लोग कातेंगे या खास लोगों के लिए सिर्फ कताई का ही काम मुकर्रर किया जायगा? इन सब प्रश्नों का उत्तर संतोषजनक रूप से अपनी योजना में होना चाहिए।

रहने के लिए घर-द्वार कैसा हो? आज के घर आवश्यकता की दृष्टि से नाकाफी हैं। जो हैं वे गन्दे ढंग से बने हुए हैं कि स्वास्थ्य की

की आवश्यकता है, जिसकी उत्पत्ति कभी होती ही नहीं थी और अब उसके लिए नये उद्योग की सृष्टि करनी होगी। यह भी तय करना होगा कि कौन-कौन उद्योग पहले शुरू करने हैं और किस क्रम से दूसरे उद्योगों का प्रचार किया जाय। ग्राम-उद्योग की योजना के लिए यह आवश्यक है कि हम यह जान लें कि सारी उत्पत्ति के लिए क्या-क्या कच्चा माल चाहिए और उसे कहाँ से प्राप्त किया जाय। कितनी खेती और बाग से पैदा करना होगा, कितना और क्या-क्या सामान प्रान्त के अन्दर के जंगलों से प्राप्त किया जा सकेगा, कितना प्रान्त के बाहर से मँगाना होगा।

गाँव में उत्पन्न हुए माल में से देहात की आवश्यकता पूरी करने के बाद जो माल बचेगा उसकी बिक्री का क्या प्रबन्ध होगा? सहयोग-समितियाँ बनेंगी या बनियों को बेच देना होगा। अगर बनियों की मार्फत बेचना होगा, तो उन पर कुछ अनुशासन होगा या नहीं? अगर अनुशासन रखना है, तो कौन इसकी जिम्मेदारी ले—सरकार या उत्पादन-समितियाँ।

मैंने पिछले पत्र में बताया है कि बेकारी की स्थिति कितनी भयानक है। हमें इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा कि कितनी आबादी है उसे किस तरह काम में लगाया जाय। कितने परिवार खेती में लगेंगे, वे जमीन पर पूरा काम पा सकते हैं क्या? अगर खेती से पूरा काम सम्भव नहीं है, तो खाली समय में किसान क्या करें? खेती में लगने के बाद बाकी आबादी के लिए क्या-क्या व्यवस्था सम्भव है? कितने ग्राम-उद्योगों में लगेंगे और कितने नौकरी-चाकरी में कितने जंगल की व्यवस्था में लगेंगे और कितने बड़े-बड़े केन्द्रीय उद्योगों में काम करेंगे! मजदूरों की मजदूरी का क्या सिद्धान्त हो? उस सिद्धान्त से चलने पर काम चलेगा या नहीं? इन सब बातों का पूरा-पूरा विचार करना होगा।

स्वास्थ्य की क्या-क्या समस्याएँ हैं? ग्रामीण जनता का सुधार किस तरह हो सकेगा? नाबदान कैसा बने? गलियों का संस्कार कैसे हो?

शिक्षा, उसके लिए विद्यालयों का प्रबन्ध करना होगा या कुछ शिक्षा ग्रामीण कार्यों के साथ-साथ होती रहेगी? इसके लिए गाँव का वातावरण किस प्रकार का बनाना होगा? अनुष्ठानादि की मार्फत भी सांस्कृतिक शिक्षा हो सकती है। उन्हें किस तरह संघटित किया जा सकेगा? इतने विस्तृत पैमाने में शिक्षा का प्रसार करने के लिए जितने शिक्षकों की आवश्यकता होगी, उनके लिए आज की पढ़ी हुई जनता की तादाद काफी है क्या? अगर काफी नहीं है, तो किस तरह शिक्षा-प्रसार की व्यवस्था की जाय? अगर तादाद काफी है, तो क्या उनकी शिक्षा तथा दृष्टिकोण हम जिस प्रकार की शिक्षा का प्रस्ताव करते हैं, उसके अनुकूल है? अगर नहीं है, तो उन्हें अपने तरीके की शिक्षा देने के उपयुक्त बनाने का क्या प्रबन्ध हो सकता है? ग्रामीण सामाजिक जीवन का संघटन किस प्रकार का किया जा सकता है? उसकी रूपरेखा क्या होगी? नाटक-समाज, भजन-मण्डली, ग्राम-समिति आदि संस्थाओं का संघटन किस प्रकार होगा?

देहातों में सड़कों का प्रायः पूर्णरूप से अभाव है। अगर हमें आवश्यक सामान ग्राम-उद्योग से ही प्राप्त करना है और सांस्कृतिक विकास करना है, तो यातायात की सुविधा होनी अनिवार्य है। इसके लिए हमें सड़कें किस प्रकार की बनानी हैं और कितनी सड़कें बनानी हैं? हमारे गरीब देश की परिस्थिति में उन्हें बनवाने का क्या तरीका हो सकता है?

गाँव के झगड़े-फसाद कौन तय करेगा? उसके लिए पंचायतों का संघटन किस तरह हो सकता है? पंचायत सम्बन्धी आज की परिस्थिति किस प्रकार बदली जा सकती है? इस दिशा में जो त्रुटियाँ या गमी हैं उन्हें किस तरह दूर किया जा सकता है?

आज गाँव की आर्थिक स्थिति जैसी है, उसके रहते हुए हम किस तरह संघटन चला सकते हैं? आज जिस प्रकार लोगों पर कर्ज लदा हुआ है, उससे किस तरह छुटकारा मिल सकता है? भविष्य में कर्ज

४१ '४४

पिछला पत्र लिखे एक माह से अधिक हो गया है। अब तक तुमने उसमें लिखे प्रश्नों पर विचार कर लिया होगा। आज के पत्र में मैं अपनी बतायी समस्याओं पर कुछ लिखने की चेष्टा करूँगा।

आवश्यक भोजन-सामग्री

सबसे पहले हमें भोजन के प्रश्न पर ही विचार करना है। यह सभी जानते हैं कि हमारे यहाँ खाना सबको नहीं मिलता है। इस प्रान्त को लोग हिन्दुस्तान का अनाज-गोदाम कहते हैं। फिर भी यहाँ की जो स्थिति है, वह पहले के पत्र में लिख चुका हूँ। भारत में केवल १९% लोगों को पेटभर खाना मिलता है। बाकी ४१% को थोड़ा खाना मिलता है और २ % तो आधा अनशन में ही काटते हैं। यह राय मेरी नहीं है, बल्कि मेजर जनरल सर मेगा की है, जो इंडियन मेडिकल सर्विस के डाइरेक्टर जनरल थे।* यह हिसाब शहर और गाँव दोनों का है। केवल गाँव का हिसाब अगर अलग जोड़ा जाय, तो हालत इससे भी खराब होगी। अपने प्रान्त की ही स्थिति को अगर लिया जाय तो मालूम होगा कि यहाँ अनाज की कितनी कमी है। युक्तप्रान्त की सरकार ने खेती की जाँच करने के लिए १९३९ में एक कमेटी बनायी थी। उसका कहना है कि हमारे प्रान्त में २ १५, १, मन अनाज और दाल की कमी है, जब कि यह हिसाब लगाने के लिए प्रति व्यक्ति की खुराक मानी गयी है ८ छटाक अनाज और १ छटाक अन्य सामग्री। लेकिन यह सब हिसाब, आज साधारणतः जो भोजन का प्रकार है, उसी पर लगाया गया है।

* यह रिपोर्ट ११ साल पहले की है। आज तो २० % लोगों को आधा अनशन करना पड़ता है।

हिस्सा नहीं है। खाद्य-सामग्री के तबीयत के अनुकूल करने के लिए जरूरी है कि हम जो कुछ खायें रुचि के साथ खायें। अतः हमारे भोजन का क्रम ऐसा होना चाहिए, जिससे हमारी जनता अपनी आदत के अनुसार पसन्द भी करे। इन सारी बातों का विचार करके मेरे खयाल से इस प्रान्त की देहाती जनता के लिए निम्नलिखित हिसाब से भोजन-सामग्री चाहिए। इसमें शक्तिमान, स्वाद, आदत सबका उचित खयाल रखा गया है :

आवश्यकता

ब्यौरा सामान	प्रति बालिग १५ से ऊपर	किशोर व बालक ५ से १५ साल	प्रति बच्चा से ५ साल तक
आटा	एक पाव	ढाई छटाँक	एक छटाँक
चावल	एक पाव	ढाई छटाँक	एक छटाँक
अन्य अनाज	आध पाव	डेढ़ छटाँक	आधा छटाँक
दाल	डेढ़ छटाँक	एक छटाँक	आधा छटाँक
तरकारी	चार छटाँक	छः छटाँक	दो छटाँक
मसाला	½ तोला	¼ तोला	×
नमक	डेढ़ तोला	डेढ़ तोला	आधा तोला
तेल	आधा छटाँक	आधा छटाँक	डेढ़ तोला
घी	डेढ़ तोला	डेढ़ तोला	आधा तोला
पूर्ण दूध	आध पाव	तीन छटाँक	ढाई पाव
अपूर्ण दूध	डेढ़ पाव	डेढ़ पाव	आध पाव
मीठा	एक छटाँक	एक छटाँक	एक छटाँक
तम्बाकू	आधा तोला	चौथाई तोला	×
फल	आध पाव	तीन छटाँक	एक छटाँक
सुपारी	आधा तोला	चौथाई तोला	×
पकाने के लिए	लकड़ी [illegible] सेर	डेढ़ सेर	तीन पाव

नोट—पौने चार छटाँक दूध के स्थान पर एक छटाँक गोश्त मछली या अंडे से काम चल सकता है।

जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिए प्रथमतः तीन उपाय बताये जाते हैं : (१) पुराने तरीके के हल आदि औजारों को तब्दील करके आज कल की मशीनों द्वारा खेती का काम करना, (२) आज जो छोटी-छोटी टुकड़ियों में जमीन बँटी है, उन्हें मिलाकर चकबन्दी करना और (३) खाद तथा पानी की माकूल व्यवस्था करना।

ग्राम-सेवा के काम के सिलसिले में मैंने जितने लोगों से बात की है, प्रायः सबका ही कहना है कि "इस तरह पुराकालीन हल आदि से जमीन को बिना ठीक से जोते हुए किस तरह खेती सुधर सकती है। आज की वैज्ञानिक दुनिया में जो कुछ उन्नत मशीनों का आविष्कार हुआ है, उन्हें इस्तेमाल किये बिना हमारा उद्धार नहीं हो सकता है।" हमारे देश की स्थिति का अमेरिका और यूरोप की खुशहाली से मिलान करके लोगों का ऐसा सोचना स्वाभाविक ही है। लेकिन किसी चीज पर एकांगी विचार करना ठीक नहीं। हमारे यहाँ की परिस्थिति और समस्या मौलिक है और हमें समाधान के लिए मौलिक रीति से विचार करना होगा।

पश्चिमी देशों से हमारी परिस्थिति की भिन्नता

वस्तुतः केवल पैदावार के अनुपात से ही खेती के तरीकों की अच्छाई या बुराई का फैसला करना गलत होगा। पैदावार केवल जमीन की जोत पर ही निर्भर नहीं है। भूमि के प्रकार, जलवायु तथा जमीन की प्राचीनता और नवीनता पर भी पैदावार निर्भर रहती है। इसके उपरान्त किसानों के साधन और स्थिति भी उपज के मामले में महत्त्व का स्थान रखती है। किन्हीं दो देशों या दो जमीनों की तुलना करते समय अनेक बातों का ध्यान रखना होगा। स्पेन में चावल की प्रति एकड़ उपज अमेरिका की तिगुनी है लेकिन कौन नहीं जानता कि यांत्रिक खेती अमेरिका में कहीं ज्यादा उन्नत है। अपने यहाँ ही एक जिले से दूसरे जिलों की पैदावार में भिन्नता हो जाती है। इसका मतलब यह नहीं कि जिले-जिले में हल भिन्न हैं या किसानों की योग्यता में कमी-बेशी है। हाँ, मालूम

उपज अधिक होने के और भी कारण हैं

है कि अमेरिका के कैलिफोर्निया के बागवान बड़े योग्य और उनके ढंग बिलकुल वैज्ञानिक हैं। क्या वे हमारे देश के मुकाबले आम की फसल पैदा कर सकते हैं? मैंने सुना है कि अमेरिका में गेहूँ की दो फसलें एक ही भूमि में होती हैं। हमारे देश की बरसात की तर्ज और आब-हवा इस प्रकार की है कि एक फुट क्या दस हाथ खोदकर जमीन बनाने पर भी एक रबी के अलावा दूसरे किसी मौसम में गेहूं नहीं पैदा हो सकता। ज्यादा खुदाई की बात भी शिक्षित जनता की एक प्रकार की माया ही है। कहीं-कहीं अधिक गहरी जोताई से लाभ के बजाय हानि होती है। बम्बई की अधिकतर भूमि ऐसी है कि अगर तीन-चार इंच से अधिक जोताई की चेष्टा की जाय, तो पत्थर और कंकर ही मिलेगा और थोड़ी जोताई से जो कुछ फसल मिल सकती है, उससे भी हाथ धोना पड़ेगा। फिर जमीन की प्राचीनता और नवीनता पर भी पैदावार निर्भर रहती है। हर किसान जानता है कि अगर उसके पास इतनी जमीन हो कि बारी-बारी से कुछ हिस्सा तीन-चार साल में एक बार परती छोड़ सके, तो बिना मेहनत के पैदावार बढ़ सकती है। यह बात तो सर्वमान्य है कि भारत और चीन संसार के सबसे प्राचीन कृषिप्रधान देश हैं। अतः यहाँ की भूमि की उर्वरा शक्ति का अत्यधिक ह्रास स्वाभाविक है। चौधरी मुख्तारसिंह जो युक्तप्रान्त सरकार की खेती-सुधार कमेटी के चेयरमैन थे कहते हैं कि 'जो लोग भारत की पैदावार की आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड अमेरिका आदि देशों की पैदावार से तुलना करते हैं वे भूल जाते हैं कि इन मुल्कों की जमीन को खेती के लिए तोड़े अभी एक शताब्दी भी नहीं हुई है, अतः यहाँ अधिक पैदा होना आश्चर्य की बात नहीं।" ('बरस इंडिया' पृष्ठ ११)

उपर्युक्त बातों के अलावा किसानों की आर्थिक स्थिति भी पैदावार घटाने का कम कारण नहीं है। शाही कृषि कमीशन ने अपनी रिपोर्ट के ७५४ पृष्ठ पर लिखा है—"यह स्पष्ट है कि कहीं जमीन पर की बढ़ती आबादी के दबाव के कारण किसानों को खराब जमीन जोतने के लिए मजबूर हो जाना पड़ता है वहाँ की औसत उत्पत्ति में कमी हो जाती है।"

मैंने देखा है, किसान कितने ही स्थानों पर, निदान ऊसर पर ही, अनाज बो देते हैं। ऐसी खेती हमारे प्रान्त में लाखों बीघे की है। कम खेती होने के कारण खेती के प्रकार में भी फर्क हो जाता है। विदेशी औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था के कारण हमारी देहाती जनता के पास खेती के सिवा दूसरा कोई धंधा नहीं रह गया है। अतः उन्हें थोड़ी जमीन से ही अपना सारा काम चलाना पड़ता है। उनके पास विभिन्न अनाजों के लिए विभिन्न प्रकार की जमीन तो है नहीं। इसलिए वे एक ही जमीन पर कई प्रकार के अनाजों की खिचड़ी बनाकर बो देते हैं। इससे खाने के लिए न सही कम-से-कम देखने के लिए कुछ अन्न तो हर मौसम में मिल जाता है। और जब हमारे अधिकांश किसानों के पास दो एकड़ से कम जमीन है, तो प्रायः सभी जमीन पर ऐसा अनाज बोना पड़ता है, जैसा उस जमीन पर बोना नहीं चाहिए था। इस कारण भी हमारी औसत पैदावार बहुत थोड़ी हो जाती है। फिर यहाँ खाद-पानी की कितनी कमी है, यह तुम्हें मालूम ही है। बाहरी मुल्कों से तुलना करते समय इन बातों को भूलने से कैसे चलेगा? विदेशों में किसानों के पास कितनी जमीन है, उसका कुछ हिसाब देखना चाहती हो, तो नीचे की तालिका पर एक दृष्टि डाल लो—

हमारे किसानों की विशेषताएँ

इंग्लैण्ड और वेल्स में—

प्रति किसान की जमीन का परिमाण	कुल किसानों का अनुपात
१ एकड़ से ५ एकड़ तक	११ प्रतिशत
२ एकड़ से २ एकड़ तक	५ प्रतिशत
२ एकड़ से ५ एकड़ तक	१७ प्रतिशत
५ एकड़ से १ एकड़ तक	१६ प्रतिशत
१ एकड़ से १५ एकड़ तक	१४५ प्रतिशत
१५ एकड़ से १ एकड़ तक	२९ प्रतिशत
१ से ऊपर	२४७ प्रतिशत

और भारत में—

१ एकड़ से कम	२१ प्रतिशत
१ एकड़ से ५ एकड़ तक	३१ प्रतिशत
५ एकड़ से १ एकड़ तक	२ प्रतिशत
१ एकड़ से ऊपर	२४ प्रतिशत

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि इस दिशा में दूसरे देशों से हमारी कोई तुलना ही नहीं की जा सकती।

फिर क्या यह बात सच है कि हमारे यहाँ की पैदावार इतने भयानक रूप से कम है? श्री चौधरी मुख्तारसिंह ने हमें एक तुलनात्मक हिसाब बताया है। उससे तुम जान सकोगी कि जिस कम पैदावार के लिए लोग इतना हल्ला मचाया करते हैं, वह कहाँ तक सही है। उनकी तालिका यों है: (१ बुशेल = ५६ पौण्ड)

नाम मुल्क	गेहूँ बुशेल में	अन्य अनाज बुशेल में	जौ बुशेल में
हिन्दुस्तान	११·४	१३·६	१६·२
कनाडा	१६·१	४४·१	२५·४
अमेरिका	११·६	२७·८	२४·८
रूस	१ १	१७·४	१२·८
आस्ट्रेलिया	९·८	१६·५	९·४

श्री राय आदि की १५ वर्षीय योजना में सन् १९३९ ४ की गेहूँ की पैदावार प्रति एकड़ इस प्रकार बतायी गयी है:

देश	गेहूँ टनों में
अमेरिका	१७ टन
कनाडा	·५२ टन
आस्ट्रेलिया	·४२ टन
भारत	१२ टन

कनाडा अमेरिका रूस और आस्ट्रेलिया में मशीन की वैज्ञानिक

खेती की पराकाष्ठा है। भूमि की नवीनता, वर्षा की समता और साधन की अधिकता के होते हुए भी यदि मशीन की खेती का नतीजा भारत की तुलना में इतनी ही भिन्नता रखता है, तो मैं कहूँगा कि हमारे किसानों को तालीम देने के लिए विदेशी योग्यता की आवश्यकता नहीं है। परम्परा से खेती करते हुए भारत के किसानों में अनुभव के आधार पर खेती-कला के ज्ञान का संस्कार-सा बन गया है। वर्षा की असमानता, सिंचाई की कमी, जमीन के टुकड़ों में बँटे होते हुए भी जिस निपुणता से यहाँ के लोग खेती करते हैं, उसे देखकर विदेशी विशेषज्ञ चकित हो जाते हैं। गाय की खेती सम्बन्धी जिन उक्तियों का लोग मजाक उड़ाते थे, वर्षों की वैज्ञानिक खोजों के बाद उन्हें आज सही बताना पड़ रहा है। इन बातों से समझा जा सकता है कि दूसरे देशों में यदि कुछ अधिक पैदावार है भी तो वह मशीन की जोताई के कारण नहीं है बल्कि उचित मात्रा में खाद-पानी की व्यवस्था तथा जमीन और फसल के उचित बँटवारे के कारण है। नयी जमीन की विशेषतायें तो पशुए में भी डाल सकती हो।

वैज्ञानिक खेती बनाम यांत्रिक खेती

मशीन की खेती की बाबत हमारी पढ़ी-लिखी जनता में बड़ी गलतफहमी है। वे लोग वैज्ञानिक खेती और यांत्रिक खेती में कोई फर्क नहीं करते हैं। वैज्ञानिक खेती बिलकुल अलग चीज है। वैज्ञानिक खेती का अर्थ है—खाद पानी की मात्रा और जमीन की स्थिति (जिस पर खाद पानी आदि पौधों के उपयोगी पदार्थ कायम रह सकें) आदि के ज्ञान के साथ खेती। मशीन की खेती तो खेती की विभिन्न प्रक्रियाओं को जल्दी करने का उपाय मात्र है पैदावार बढ़ाने का नहीं। हम बिना मशीन के वैज्ञानिक खेती कर सकते हैं और मशीन से अवैज्ञानिक खेती भी हो सकती है। मशीन की जोताई में विशेष लाभ न होने पर भी पश्चिम के देशों में उत्तरोत्तर मशीनों की वृद्धि ही होती जा रही है। इसका वास्तविक कारण पैदावार बढ़ाना नहीं है, बल्कि मजदूरी को कम करना है। हम अपने यहाँ मजदूरों को कम करने की बात तब सोचेंगे, जब हम बेकार

आजमियों के काम में लगने के बाद भी काम बाकी रह जायगा। तब तक तो हमें मौजूदा औजारों से संतोष करके उन साधनों की पूर्ति में सारी शक्ति लगा देनी है, जिनके न होने से किसान इच्छानुसार खेती करने से मजबूर हो जाते हैं।

मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमें अपने हल आदि औजारों में सुधार करने की आवश्यकता नहीं है। सुधार की चेष्टा तो करनी ही है। मेरा कहना केवल इतना ही है कि हमें आँख मूँदकर विज्ञान के नाम पर दूसरे देशों में इस्तेमाल होनेवाले औजारों की नकल नहीं करनी है। हमें अपनी देश की सारी परिस्थिति से सामंजस्य रखकर अपने प्रयोग तथा शोध के काम चलाने होंगे।

हमारे यहाँ वर्षा काफी होने पर भी सारी बरसात थोड़े दिनों में समाप्त हो जाने के कारण बहुत-सा पानी बहकर समुद्र में चला जाता है।

विदेशी हल और यहाँ की भूमि

नतीजा यह होता है कि दूसरे मौसम में जमीन की नमी बनाये रखना हमारी खेती की एक विशेष समस्या है। जिन देशों में पानी सालभर में बँटकर बरसता है और हिम के कारण दूसरी ऋतुओं में भी जमीन को नमी मिलती रहती है, उन देशों में गहरी जुताई करके जमीन को उलटनेवाला हल फायदे का होता है। लेकिन हमारे देश में जहाँ बरसात थोड़े दिन होती है और बाकी मौसम की आबहवा काफी रूखी होती है, वहाँ सीधी और थोड़ी गोड़ाई से भी लाभ हो सकता है। यहाँ उलटनेवाले हल से लाभ के बजाय हानि ही होगी। रही जमीन को भुरभुरी बनाने की बात। यहाँ आदमी और बैल बेकार बैठे रहते हैं, वहाँ एक बार के बजाय कई बार जोतने से जमीन उतनी ही भुरभुरी हो जाती है जितनी उलटनेवाले हल से हो सकती है। इस तरह किसान जमीन को इच्छानुसार भुरभुरी बनाकर भूमि की नमी कायम रखते हैं। केवल बेकार आदमी और बैलों को काम में लगे रहने की ही बात नहीं है, बल्कि रबी के लिए खेत जोताई का मौसम ऐसा होता है कि जमीन में नमी पहुँचाकर उसे बनाये रखने के लिए

भी बार-बार जोतकर उस पर बेलन या हेंगा चलाना आवश्यक होता है। कार्तिक के महीने में संध्या से रात तक जोतकर रातभर की ओस पड़ जाने के बाद सुबह सूर्योदय से पहले ही बेलन या हेंगे से प्रतिदिन खेतों को दबाते हुए तुममे देखा ही होगा। ऐसा करने से काफी नमी जमा हो जाती है। साथ ही खेत काफी भुरभुरा भी हो जाता है।

गेहूँ के खेत को यहाँ के किसान इतना नरम बना देते हैं कि यह कहावत मशहूर है कि बने खेत पर भरा हुआ घड़ा गिरने से अगर टूट जाय, तो समझना चाहिए कि खेत तैयार ही नहीं हुआ है। तुम कह सकती हो कि अगर सिंचाई का पूरा प्रबन्ध हो जाय, तो सींचकर उलटनेवाले हल से जोतकर भी तो जमीन को उतना ही नरम बनाया जा सकता है और साथ ही नमी भी काफी कायम की जा सकती है। लेकिन सींचकर जोतने से वह बात पैदा नहीं हो सकती है। सिंचाई से जमीन में नमी के साथ सर्दी भी आ जायगी जो कि रबी के बीज के लिए लाभदायक नहीं होती। उसे तो नमी के साथ-साथ गर्मी भी चाहिए और उस गर्मी को कायम रखने के लिए आज के तरीके सर्वोत्तम हैं। हाँ, बरसात के दो माह जोतने के लिए उलटनेवाले हल से लाभ होता है। वर्षा के दिनों में बार-बार उलटने पर काफी दूर तक जमीन सड़ जाने से लाभ हो सकता है। लेकिन एक तो साल में दो माह का समय इतना कम है और उन दिनों में जोतने के लिए बैल इतने कम खाली होते हैं कि इतने थोड़े लाभ के लिए किसान से कई प्रकार के औजारों के रखने की आशा करना बेकार है। यही कारण है कि शाही कृषि-कमीशन ने राय दी है कि 'यद्यपि भारत की जमीन पर कभी-कभी उलटनेवाला हल चलाने से लाभ होना निस्सन्देह है, तथापि उनको अधिक समय तक ऐसी जोताई की आवश्यकता है, जिससे जमीन की नमी बनी रहे। अतः यहाँ आर्थिक कारणों से दो हल रखना सम्भव नहीं है, यहाँ सर्वोत्तम हल वही है, जो जमीन को गोड़ता है, लेकिन उलटता नहीं। अतः हमें यदि औजारों की उन्नति भी करनी है, तो हमें समस्याओं का ध्यान में रखकर करनी होगी। लेकिन किसी भी

हालत में अपनी योजना में बड़ी-बड़ी मशीनों की नकल करने की सलाह मैं नहीं दे सकता। सारी स्थिति पर विचार करते हुए हमें अपनी योजना में खेती के वर्तमान तरीकों को कायम रखते हुए उनकी उन्नति का कार्य क्रम रखना ही श्रेय होगा।

बस आज यहीं समाप्त करता हूँ। अगले पत्र में खेती की पैदावार की कमी के जो दूसरे कारण बताये जाते हैं, उन पर कुछ प्रकाश डालने की चेष्टा करूँगा। अपना कुशल-समाचार देना। नमस्कार। ● ● ●

समस्याओं का समाधान—२   ६८

१२.६.'४४

पिछले पत्रों में मैं इसका विचार कर रहा था कि जमीन की पैदावार किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है। खेती के तरीकों को बदलने की बाबत मैं प्रकाश डाल चुका हूँ। अब अलग-अलग टुकड़ियों को मिलाकर जमीन की चकबन्दी से खेती की उन्नति करने के प्रश्न पर विचार करूँगा। वस्तुतः जमीन की छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँटी रहने की समस्या केवल भारत के सामने ही नहीं, बल्कि सारे संसार के किसानों के सामने है और सब देश के लोग इस समस्या का हल निकालने में वर्षों से लगे हुए हैं। यह सच है कि जमीन छोटी-छोटी टुकड़ियों में भिन्न-भिन्न मालिकों के पास बँटी रहने से फसल का उचित बँटवारा नहीं हो पाता है। नतीजा यह होता है कि विभिन्न प्रकार का अनाज गलत भूमि पर पककर पूरी तरह से पुष्ट नहीं हो पाता। भारत के किसी भी प्रान्त के देहातों में चले जाओ तुमको प्रायः एक ही बात सुनने में आवेगी—"पहले खेती की पैदावार इतनी अच्छी होती थी कि पेटभर खाना तो मिल जाता था। अब तो धरती माता हमारे प्रति विमुख है। ये सब दुःख का एक ही कारण 'हाय मार फसल!!' कहकर लम्बी साँस लेकर चुप हो जाते हैं। बेचारे क्या जानें कि उनके दुःख के कारण एक नहीं, हजार हैं। यह ठीक है कि जमीन पुरानी होने से उसकी ताकत घटती है। लेकिन यही एक कारण नहीं है।

पहले धरती से अनाज अधिक मिलता था उसका एक प्रधान कारण यह है कि उस समय जमीन की व्यवस्था उचित प्रकार से हो पाती थी।

भारत के प्राचीन काल से जमीन का स्वामित्व किसी व्यक्ति का नहीं था, बल्कि ग्राम-पंचायत का था। यह सही है कि जमीन की व्यवस्था और जोताई-बोआई ग्राम के समाजवादी तरीके से नहीं होती थी। जमीन परिवारों को खेती करने के लिए दी जाती थी और ये परिवार काफी बड़े-बड़े होते थे।

प्राचीन काल की भूमि-व्यवस्था

उस समय हमारा समाज बड़े-बड़े एकात्मवर्ती सम्मिलित परिवारों की ही समष्टि था। भारत के ग्राम-उद्योग भी बहुत उन्नत हालत में थे। इस कारण भी आबादी की एक बड़ी संख्या उद्योग में लगी हुई थी। इससे खेती पर बोझ भी कम था। इसलिए गांव का सारा खेत थोड़े से संयुक्त परिवारों के हाथ में होता था। एक-एक परिवार के पास बड़े-बड़े भूखंड होते थे। एक परिवार के सब लोग जमीन पर अपनी-अपनी अलग मिल्कियत नहीं सोचा करते थे, बल्कि परिवार के सभी लोग सम्मिलित रूप से काम करते थे और सम्मिलित रूप से उसका फल भोग करते थे। एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत काफी जमीन होने से किसान शान्ति से विचार कर सकते थे कि किस भूमि में कौन फसल बोने से पैदावार अच्छी हो सकती है और वे फसल का बँटवारा उसी ढंग से करते थे। विस्तृत भूखंड अपने पास होने से सिंचाई के लिए कुओं तालाब आदि का भी उचित प्रबन्ध करना आसान था। एक साथ बड़े क्षत्र में परती छोड़ने के कारण पशु पालन आसानी से हो पाता था और इस कारण हमेशा गोबर की खाद का प्राचुर्य बना रहता था।

दुर्भाग्यवश आज किसानों की ऐसी हालत नहीं रह गयी है। अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ यूरोप के व्यक्तिगत स्वार्थभाव का भी आगमन इस देश में हुआ। क्रमशः लोगों में स्वार्थ की वृद्धि होने लगी। इस कारण परिवारों का बँटवारा होने लगा। अंग्रेज पैसा करने के लिए परिवार के सदस्यों को उत्साहित भी करने लगे। अंग्रेजी कचहरी और अंग्रेजी विचारकों के फैसले भी इसी दिशा में प्रगति करने की दृष्टि से होने लगे।

इस तरह बड़े बड़े परिवार और उनके साथ बड़ी-बड़ी जमीन के चक टूटकर काँच के टुकड़े-जैसे बिखर बिखर हो गये।

इसके उपरान्त अंग्रेजी सत्ता की साम्राज्यवादी नीति ने जिस निर्मम विधि के साथ हमारे देश के ग्रामीण उद्योगों को दबाकर पीस डाला, इसकी करुण कहानियाँ आज साधारण जनता की आम सम्पत्ति हो गयी हैं। उद्योगों के ह्रास के साथ सारी आबादी का क्रमशः खेती की ओर झुकना पड़ा। यह देखकर रोना आता है कि १८८१ से १९३१ तक की अर्ध-शताब्दी के अन्दर किस प्रकार खेती पर बोझ क्रमशः बढ़ता गया है। तब सारे भारत में खेती पर गुजर करनेवालों की संख्या कुल आबादी की ५८ प्रतिशत थी। यह संख्या बढ़कर १८९१ में ६१.१, १९०१ में ६६.५, १९११ में ७१ १९२१ में ७२.८ और १९३१ में ७५ प्रतिशत हो गयी। इस कारण भी क्रमशः खेती के हिस्सेदार बढ़ते ही गये।

हमारे प्रभुओं को इतने से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जमींदारी और काश्तकारी कानून ऐसे ढंग से बनाये कि जमीन भी नमक-मिर्चवाले पंसारी के दूकान का सौदा जैसी हो गयी। जमींदार

जमीन के टुकड़े

भी सम्मिलित परिवार टूटने पर बँटवारे के कारण छोटे छोटे भूमिखण्डों के मालिक रह गये थे। वे उन्हें भी टुकड़ों में तोड़कर काश्तकारों को किराये पर उठाने लगे। काश्तकार उन टुकड़ों को भी तोड़कर शिकमी काश्तकार बनाने लगे। फिर हर विभाजन के समय ऐसा नहीं होता कि एक तरफ से हिस्सा बना दें। थोड़ी जमीन होने से हर व्यक्ति यह चाहता है कि उसे हर प्रकार की जमीन थोड़ी-थोड़ी मिले, जिससे वह दैवी खतरों से बचकर दो कौर अन्न हर साल पा सके। अतः जब कभी जमीन का बँटवारा होता है तो हर टुकड़े का हिस्सा हुआ करता है। इस तरह जमीन इतने छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गयी कि किसी-किसी पर हल भी नहीं चल पाता। अगर जमींदारों के बाद काश्तकारों के हाथ में जमीन रह पाती तो स्थिति अत्यन्त दुरवस्था की होने पर भी

इतनी भयावह न होती, जितनी आज है। काश्तकार शहर में शिकमी काश्तकार को जमीन नहीं देते हैं। वे स्वयं जमीन खुद जोतना चाहते हैं। लेकिन ऐसा नहीं हो पाया। जमीन पर बोझ बढ़ने के कारण जमींदारों के लिए जमीन की आमदनी से काम चलाना मुश्किल हो गया। ऐसी हालत में महाजन की तादाद बढ़ने लगी और क्रमशः जमीन भी उनके हाथ में आने लगी। महाजनों को काश्तकारी से दिलचस्पी न थी और न वे अपनी जमीन के पास रहते थे। अतः जमीन की व्यवस्था के लिए ठेकेदारी या दलाली-प्रथा की सृष्टि हुई। धीरे धीरे ठेकेदारी दर ठेकेदारी का क्रम बढ़ता ही गया। इस प्रकार अंग्रेजी सरकार की भूमि-नीति ने खेती की हालत ऐसी बना दी कि किसी प्रकार की उन्नति असम्भव हो गयी। पहले सम्मिलित परिवारों की जमीन में कुएँ और तालाब थे उनका बँटवारा सम्भव नहीं था। अतः वे किसी एक की दिलचस्पी या अधिकार के बाहर की चीज होने के कारण क्रमशः नष्ट हो गये। परती छोड़ने की असमर्थता के कारण पशु-पालन कठिन हो गया और इस प्रकार उचित मात्रा में खाद का पाना भी दुर्लभ हो गया।

इधर जमीन की चकबन्दी के लिए जो आन्दोलन चला हुआ है, वह अच्छा ही है। आज शायद ही कोई चिन्ताशील व्यक्ति इसका विरोध करेगा। अब प्रश्न यह है कि चकबन्दी हो कैसे? सन् १९१८-१९ में कांग्रेसी सरकार ने जो चकबन्दी कानून बनाया था उसके अनुसार मैंने भी इसके लिए कोशिश की थी। लेकिन मैं किस तरह असफल हुआ था उसकी कहानी तो तुम्हें आगरा जेल से लिख ही चुका हूँ। ऐसा करना रोग के कारण की ओर न जाकर ऊपरी दर्द को शान्त करने की चेष्टा मात्र है। हमें अगर चकबन्दी की समस्या हल करनी है, तो उसके सफल न होने का बुनियादी कारण ढूँढ निकालना होगा। इस प्रश्न को जड़ से हल करने की चेष्टा न होने के कारण जितने प्रयत्न इस दिशा में होते हैं प्रायः सभी असफल हो जाते हैं। इस प्रश्न पर गहराई से विचार करने से पहले यह देखना है कि आज साधारणतः लोगों की धारणा क्या है?

और व कहाँ तक ठीक हैं ? फिर हमें यह देखना होगा कि चकबन्दी के लिए जो उपाय बताया जाता है, वह सफल क्यों नहीं होता ?

जमीन टुकड़ों में रहने देने के विरुद्ध प्रमाणतः निम्नलिखित बातें कही जाती हैं :

१ छोटे-छोटे टुकड़े अलग करने के कारण मेंड़ की जो अधिकता होती है, उससे बहुत जमीन बेकार चली जाती है।

२ किसानों को अपना हल-बैल लेकर दूर-दूर की टुकड़ियों में जाने में समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है।

३ लगातार खेत न होने से ठीक से सिंचाई नहीं होने पाती।

इन कठिनाइयों को देखते हुए यह प्रस्ताव किया जाता है कि ऐसा कानून बनाया जाय, जिससे किसानों और जमींदारों को आपस में खेतों का बदलाबदल करके चकबन्दी करा दी जा सके। अब देखना चाहिए कि ये बातें कहाँ तक सही या व्यावहारिक हैं। मेंड़ के कारण काफी जमीन फँसती रहती है, ऐसा सोचना सिर्फ कल्पना है। आखिर मेंड़ों में कितनी जमीन रुकती है ? फिर चकबन्दी हो जाने से क्या बिना मेंड़ के काम चल जायगा ? तुमने देहातों में देखा होगा कि एक ही आदमी विस्तृत चक रखते हुए भी मेंड़ बाँधकर छोटी-छोटी क्यारियाँ बनाता है। वस्तुतः अलग-अलग किसानों की जमीन की हद के लिए, सिंचाई की सुविधा के वास्ते, समतल क्यारियाँ बनाने के लिए और बरसात का पानी रोकने तथा खेतों की खाद बहने न देने के लिए मेंड़ों का होना आवश्यक है। हमारे प्रान्त के खेती-विशारद घाघ के जमाने में जमीन के टुकड़े की समस्या इतनी कठिन नहीं थी फिर भी उनके वाक्यों की पंक्तियों में 'ऊँचा बाँधो मेंड़' की वाणी भरी पड़ी है। हाँ यह हो सकता है कि चकबन्दी हो जाने पर कहीं-कहीं एक आध मेंड़ कम कर दी जा सके। लेकिन उससे कितनी जमीन निकलेगी ? अगर कुछ निकलेगी भी, तो नगण्य होगी।

किसानों के समय के अपव्यय का प्रश्न भी विशेष महत्व का नहीं

मालूम होता है। आज किसानों के समय का मूल्य ही क्या है? लोग तो वैसे ही खाली रहते हैं। घर पर बैठ तम्बाकू न पीकर हल लेकर खेत-खेत घूमना तो अच्छा ही है। न कुछ हो, तो मेंड़ों के कारण झगड़ा-फसाद में कुछ कमी हो ही सकती है। आलस्य भी कुछ कम होगा। अतः यह कठिनाई भी कठिनाई में शुमार करना व्यर्थ है।

हाँ, सिंचाई की कठिनाई का प्रश्न विचारणीय है। सिंचाई का पानी ले जाने के लिए रास्ते के सवाल पर फौजदारी हो जाना देहात के लिए कोई नयी बात नहीं है। लेकिन चकबन्दी से सिंचाई का फायदा किस अनुपात से होगा? हमारे प्रान्त की कुल खेती के केवल एक-तिहाई भाग पर ही सिंचाई हो पाती है। उनमें काफी बड़ा हिस्सा उन जमींदारों का है, जिनके पास बड़ी-बड़ी सीर (खुदकाश्त) की जमीन है। अगर उन्हें निकाल दिया जाय, तो बाकी खेतों में से लगभग २५ प्रतिशत जमीन पर ही सिंचाई की व्यवस्था होगी। आपस में अदलाबदल करके चकबन्दी तो वही किसान कर सकते हैं, जिनकी कुल जमीन एक चक लायक हो। ऐसे किसानों की संख्या भी तो बहुत थोड़ी है। सिंचाई की सुविधा भी केवल उन्हींको होगी न? इस तरह सुविधा का अनुपात प्रान्त की कुल जमीन का १ या २ प्रतिशत से अधिक न होगा। इससे प्रान्त की पैदावार में जो वृद्धि होगी उससे हमारी समस्याओं का कुछ भी हल नहीं हो सकता।

वस्तुतः अगर जमीन की चकबन्दी करनी है तो जमींदारी-प्रथा के कारण जो काश्तकार को कभी एक किस्म की जमीन नहीं मिल पाती उसका प्रबन्ध करना होगा। जिस देश में प्रति व्यक्ति एक एकड़ भी भूमि नहीं है, वहाँ अधिकांश काश्तकारों के पास १ या १॥ एकड़ से अधिक खेत नहीं हो सकता। उनकी सारी जमीन ही दस-एक टुकड़ों में फैली है। कुछ लोगों के पास २-४ एकड़ का हिस्सा होगा, ऐसा समझ लें। इन लोगों को चाहे जितने फायदे की बात कहिए वे चकबन्दी करना नहीं चाहेंगे।

कि हमारी सम्मिलित खेती का रूप कैसा हो। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि हमारे संघटन की इकाई ग्राम-समिति होगी। ग्राम-समिति के अलावा विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग समितियाँ बन सकती हैं। खेती का काम सबसे अधिक व्यापक होने पर भी वह एक उद्योग ही है। अतः किसानों की एक खेतिहर समिति की कल्पना हम कर सकते हैं। उस समिति में हरएक सदस्य की जमीन उसका हिस्सा होगा। इन्हीं हिस्सों की समष्टि समिति की पूँजी होगी। जो जितना श्रम करेगा, उसका दाम चुकाने के बाद बचत की रकम अपने-अपने हिस्से के अनुपात से बाँट लेंगे। इस प्रकार सहयोग-समितियों के संघटन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि समिति के सदस्य पूँजी का जो हिस्सा समिति को दें, उसके वे मालिक हों। आज जिस प्रकार की जमींदारी और काश्तकारी मौजूद है, उसके रहते हुए इसका होना सम्भव नहीं है। सहयोग के आधार पर अगर खेती का प्रबन्ध करना है और काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बनना है तो इस बात की आवश्यकता होगी कि आज की जमींदारी-प्रथा का अन्त हो या दूसरे शब्दों में जमींदारी-प्रथा को सार्वजनिक बना देना होगा यानी सब जमीन के जोतनेवालों को जमींदार ही बनाना पड़ेगा।

उत्पादक ही जमीन का मालिक होगा

मैंने कहा है कि काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बना देना पड़ेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं आजकल की काश्तकारी-प्रथा का समर्थक हूँ। वस्तुतः जिन प्रान्तों में जमींदारी-प्रथा नहीं है, वहाँ की हालत कुछ बेहतर नहीं है। मेरे सामने काश्तकार और जमींदार के प्रकार में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल यह है कि एक बड़ा है और एक छोटा। जमींदार तो बदनाम ही हैं, लेकिन काश्तकारों की भी मानसिक वृत्ति कम जमींदाराना नहीं है, उनके पास भी जब कुछ ज्यादा खेत हो जाता है, तो वे शिकमी किसानों को जमीन उठाकर उसी तरह व्यवहार करते हैं, जैसा जमींदार अपने

असामियों के साथ करते हैं। वे मजदूरी से अपनी खेती कराकर उन पर उसी तरह अत्याचार करते हैं, जिस तरह एक जमींदार करता है। दूसरी तरफ छोटे-छोटे गरीब जमींदारों की दशा काश्तकारों से भी खराब है। उनके स्त्री-पुरुष-बच्चे मेहनत करके भी दाने-दाने को मुहताज रहते हैं। गरीब जमींदार के बच्चे और स्त्रियों को भी पन्जाबी काश्तकार के खेत पर मजदूरी करते देखा जाता है। अतएव मैं जिस चीज का अन्त करने को कहता हूँ वह है न जमींदारी-प्रथा और न काश्तकारी-प्रथा। मैं अन्त करना चाहता हूँ दूसरों की मेहनत से पेट पालने की प्रथा का। पूंजीवादी समाज-व्यवस्था के कारण दलाली या ठेकेदारी-प्रथा का जो प्रसार हो गया है, उसका स्थान स्वावलंबी समाज-व्यवस्था में कहीं नहीं है। स्वावलंबी समाज में उत्पत्ति के साधन तथा उत्पादित सामान का मालिक उत्पादक स्वयं ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। अतः भावी योजना में अगर मेरे बताये हिसाब से सारी आबादी के लिए काम की स्थायी व्यवस्था करनी है ग्राम की जमीन की पैदावार बढ़ानी है, टुकड़ा जमीन के स्थान पर चकबन्द जमीन पर ही खेती करनी आवश्यक है और अगर इसके लिए सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती की व्यवस्था करनी जरूरी है तो ग्राम के जमीन-कानून का आमूल परिवर्तन करना होगा। आज जितने किस्म के काश्तकार हैं उनका अन्त करके एक ही प्रकार के किसान को रखना पड़ेगा। वे होंगे—जमीन पर खुद परिश्रम करनेवाले किसान। यह ठीक है कि ऐसा करने में हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

मेरी प्रस्तावित योजना में जमीन उन्हीं के जिम्मे रहेगी, जो उस पर खुद मेहनत करें। अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी व्यवस्था में मजदूरी के लिए मजदूरी का कोई स्थान है या नहीं? किसानों को प्रत्येक हाथ से करने पर भी कुछ ऐसा काम तो आ ही जाता है जिसके लिए मजदूरी की आवश्यकता होगी। यह ठीक है कि जब सब लोग परिश्रम करेंगे तो प्रत्येक खेती मजदूर की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन खेती का काम

क्रान्तिकारी कदमों की आवश्यकता

अतः चकबन्दी के मसले को हल करने के लिए हमें मौलिक तथा क्रान्तिकारी कदम उठाना पड़ेगा। आखिर चकबन्दी हम करना क्यों चाहते हैं? इसलिए कि खेती के बेढंगे तरीके के बदले व्यवस्थित तरीका काम में लाया जा सके। फसल का बँटवारा उचित ढंग से हो, सिंचाई की व्यवस्था हो। परती जमीन से कोड़ी जा सके इत्यादि। अगर हरएक अपने-अपने 'सवा-डेढ़ बीघा' खेत लेकर 'चोंचों-कोदव-धान-उर्द-अरहर' की खिचड़ीवाली खेती करता रहे, तो खेती-सुधार किस तरह होगा? खेती की उन्नति के लिए हमें सारी जमीन की निश्चित योजना बनानी होगी। गाँव में कितनी और कौन-कौन जमीन में गेहूँ अच्छा हो सकता है, धान अच्छा हो सकता है, आम अच्छा हो सकता है इत्यादि बातों की खोज करनी पड़ेगी। यह देखना होगा कि किस ढाल कितनी और कौन-कौन जमीन को सहूलियत से परती छोड़ा जा सकता है। गाँव का स्वाभाविक ढाल किधर है, इसकी जाँच करके हमें यह तय करना होगा कि कुआँ-तालाब आदि कहाँ-कहाँ रखा जाय। लेकिन इस तरह एकपाख जमीन आवे कहाँ से? क्या फिर पुराने तरीके के बड़े-बड़े कुटुम्ब पैदा हो सकेंगे? वैसा परिवार तो टूट चुका है। बापू का कहना है, "आज की अपनी स्थिति केवल कौटुम्बिक जीवन की है। ग्राम-सुधार का आधार कौटुम्बिक जीवन को गाँव तक पहुँचाने पर निर्भर है" अर्थात् हमें सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती की ही व्यवस्था करनी होगी।

सम्मिलित खेती

सम्मिलित खेती दो प्रकार से हो सकती है: (१) खेत सम्मिलित करके या (२) खेती सम्मिलित करके। खेत सम्मिलित करने का मतलब यह है कि सरकार सबके खेत लेकर पंचायत को दे दे, पंचायत उसकी जोताई-बोआई आदि की व्यवस्था करे। गाँव के लोग उसकी मजदूरी करें। मजदूरी देने के उपरान्त व्यवस्था-व्यय काटकर जो अनाज बचे, उसे मजदूरी के अनुपात से सबमें बाँट दिया जाय। खेती सम्मिलित करने से मेरा मतलब यह है कि खेत

जो उसका अपना हो, केवल खेती करने के लिए वे सब मिलकर सहयोग-समितियाँ कायम करें। इस प्रकार के सहयोग के दो रूप हो सकते हैं: (१) सारे गाँव की एक इकाई और (२) छोटी-छोटी कई इकाइयाँ। मेरी राय में इन्हीं दो में से कोई एक प्रकार की व्यवस्था हमें चुननी है। सम्मिलित खेती के प्रकार से प्रत्येक आदमी अपने को निम्न समझने के कारण जमीन से अपनी दिलचस्पी नहीं रख सकेगा। फिर इससे विभिन्न प्रकृतिवालों को अपनी व्यक्तिगत रुचि के अनुसार व्यवस्था का रूप बनाने के लिए ज्यादा गुंजाइश नहीं रहेगी।

यह ठीक है कि व्यवस्थित संगठन में अगर व्यक्तिगत रुचि ही चलने लगे, तो कोई काम आगे नहीं बढ़ सकेगा। लेकिन हरएक चीज की एक हद होती है। हर व्यवस्था तथा संगठन में अनुशासन के साथ एक खास जगह अगर मनुष्य प्रकृति की विभिन्न रुचियों का स्वतंत्र संचालन करने के लिए खाली नहीं छोड़ा जायगा, तो लोगों की भावनाओं का आन्तरिक झपट उस व्यवस्था और उस संगठन को तोड़कर ही बाहर निकलेगा। हमारी व्यवस्था और संगठन तो केवल मनुष्य-समष्टि है। फिर हम यह चाहते भी नहीं कि लोगों के सारे जीवन पर केन्द्र-व्यवस्था का ही अधिकार हो। अतः भविष्य के संगठन तथा उन्नति के लिए सम्मिलित खेती की ही भावना बनाना श्रेय होने पर भी इस बात का प्रयास करना होगा कि इस प्रकार के सम्मेलन की इकाई कितनी बड़ी हो, जिससे मनुष्य तथा पशुओं को कम-से-कम श्रम पड़े और पैदावार अधिक-से-अधिक हो। इस सिद्धान्त का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। कुछ लोग समझते हैं कि कम-से-कम १ परिवारों का सम्मेलन ठीक होगा। कोई ४ या ५ बताते हैं। मेरे ख्याल से विभिन्न क्षेत्रों में जमीन के प्रकार और अन्य परिस्थितियों के हिसाब से इस इकाई का रूप विभिन्न होगा।

प्रश्न यह है कि गाँव की परिस्थिति में सम्मिलित खेती हो सकती है क्या? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें यह मान लेना होगा

कि हमारी सम्मिलित खेती का रूप कैसा हो। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि हमारे संगठन की इकाई ग्राम-समिति होगी। ग्राम-समिति के मातहत विभिन्न उद्योगों के लिए अलग-अलग समितियाँ बन सकती हैं। खेती का काम सबसे अधिक व्यापक होने पर भी वह एक उद्योग ही है। अतः किसानों की एक खेतिहर समिति की कल्पना हम कर सकते हैं। उस समिति में हरएक सदस्य की जमीन उसका हिस्सा होगा। इन्हीं हिस्सों की समष्टि समिति की पूँजी होगी। जो जितना श्रम करेगा, उसका दाम चुकाने के बाद बचत की रकम अपने-अपने हिस्से के अनुपात से बाँट लेंगे। इस प्रकार सहयोग-समितियों के संगठन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि समिति के सदस्य पूँजी का जो हिस्सा समिति को दें, उसके वे मालिक हों। आज जिस प्रकार की जमींदारी और काश्तकारी चालू है उसके रहते हुए ऐसा होना सम्भव नहीं है। सहयोग के आधार पर अगर खेती का प्रबन्ध करना है और काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बनाना है तो इस बात की आवश्यकता होगी कि आज की जमींदारी-प्रथा का अन्त हो या दूसरे शब्दों में जमींदारी-प्रथा को सार्वजनिक बना देना होगा यानी सब जमीन के जोतनेवालों को जमींदार हो जाना पड़ेगा।

उत्पादक ही जमीन का मालिक होगा

मैंने कहा है कि काश्तकारों को अपनी जमीन का मालिक बना देना पड़ेगा। इसका मतलब यह नहीं है कि मैं आजकल की काश्तकारी-प्रथा का समर्थक हूँ। वस्तुतः जिन प्रान्तों में जमींदारी-प्रथा नहीं है वहाँ की हालत कुछ बेहतर नहीं है। मेरे सामने काश्तकार और जमींदार के प्रकार में कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल यह है कि एक बड़ा है और एक छोटा। जमींदार तो बदनाम ही है, लेकिन काश्तकारों की भी मानसिक वृत्ति कम जमींदाराना नहीं है, उनके पास भी जब कुछ ज्यादा खेत हो जाता है, तो वे शिकमी किसानों को जमीन उठाकर उसी तरह व्यवहार करते हैं जैसा जमींदार अपने

असामियों के साथ करते हैं। वे मजदूरी से अपनी खेती कराकर उन पर उसी तरह अत्याचार करते हैं, जिस तरह एक जमींदार करता है। दूसरी तरफ छोटे-छोटे गरीब जमींदारों की दशा काश्तकारों से भी खराब है। उनके स्त्री-पुरुष-बच्चे मेहनत करके भी खाने-दाने को मुहताज रहते हैं। गरीब जमींदार के बच्चे और स्त्रियों को भी पड़ोसी काश्तकार के खेत पर मजदूरी करते देखा जाता है। अतएव मैं जिस चीज का अन्त करने को कहता हूँ, वह है न जमींदारी-प्रथा और न काश्तकारी-प्रथा। मैं अन्त करना चाहता हूँ दूसरों की मेहनत से पैदा खाने की प्रथा का। पूँजी-वादी समाज-व्यवस्था के कारण दलाली या ठेकेदारी-प्रथा का जो प्रसार हो गया है, उसका स्थान स्वावलंबी समाज-व्यवस्था में कहीं नहीं है। स्वावलंबी समाज में उत्पत्ति के साधन तथा उत्पादित सामान का मालिक उत्पादक स्वयं ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं। अतः भावी योजना में अगर मेरे बताये हिसाब से सारी आबादी के लिए काम की स्थायी व्यवस्था करनी है, ग्राम की जमीन की पैदावार बढ़ानी है, फुटकर जमीन के स्थान पर चकबन्द जमीन पर ही खेती करनी आवश्यक है और अगर इसके लिए सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती की व्यवस्था करनी जरूरी है तो ग्राम के जमीन-कानून का आमूल परिवर्तन करना होगा। ग्राम जितने किस्म के काश्तकार हैं उनका अन्त करके एक ही प्रकार के किसान को रखना पड़ेगा। वे होंगे—जमीन पर खुद परिश्रम करनेवाले किसान। यह ठीक है कि ऐसा करने में हमें असीम कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

मेरी प्रस्तावित योजना में जमीन उन्हींको मिल सकेगी, जो उस पर खुद मेहनत करें। अब प्रश्न यह उठता है कि हमारी व्यवस्था में खेती के लिए मजदूरों का कोई स्थान है या नहीं। किसानों को अपने हाथ से जोतने पर भी कुछ ऐसा काम तो आ ही जाता है जिसके लिए मजदूरों की आवश्यकता होगी। यह ठीक है कि जब सब लोग परिश्रम करेंगे, तो प्रायः बाहरी मजदूर की आवश्यकता नहीं होगी। लेकिन खेती का काम

ऐसा है कि किसी-किसी मौसम में अत्यधिक व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। जिस क्षेत्र में चावल की ही अधिक उत्पत्ति है, वहाँ रोपनी कटिया आदि काम के लिए स्थानीय कुल आबादी भी काफी नहीं होती है और बाहर से हजारों की तादाद में मजदूर उन स्थानों में पहुँचते हैं। अतएव खेती के काम के लिए किसानों के अलावा भी स्वतन्त्र मजदूर का स्थान रहेगा ही। तुम कह सकती हो कि इस तरह से खेती-सहयोगी समिति के सदस्य कम-से-कम मेहनत करके क्रमशः अधिक-से-अधिक मजदूरों से काम कराकर अनुचित लाभ उठा सकेंगे। लेकिन हमारी योजना के अनुसार व्यवस्था करने से इसकी गुंजाइश न रहेगी। मजदूरों से अनुचित लाभ तभी उठाया जा सकता है, जब आबादी का कुछ हिस्सा बेकार रहे। अगर तुम खेती में जितना परिवार लगा सको, उतनों को ही जमीन देकर बाकी के लिए ऐसे धन्धों की व्यवस्था कर सको, जिनसे वे अपनी गुजर तुम्हारी धारणा के अनुसार ही कर सकें तो कोई दूसरों के लाभ का शिकार क्यों बनने जायगा। हमारी योजना में 'खेती के मजदूर' नाम की कोई अलग श्रेणी नहीं रहेगी। मैं जो प्रस्ताव करना चाहता हूँ, उसमें गाँव की कुल आबादी के लिए निर्दिष्ट उद्योग होगा। हर उद्योग में खाली तथा भीड़ के दो मौसम हुआ करते हैं। ऐसे खाली और भीड़ के मौसम सभी कामों में एक ही साथ नहीं आयेंगे। एक के लिए जो समय खाली होगा, वही दूसर के लिए भीड़ का समय होगा। ऐसी हालत में खेती में जो बाहरी मजदूर काम करेंगे वे सम्भवतः दूसरे उद्योग के उत्पादक होंगे। फिर किसानों की खुद कम मेहनत करके मजदूरों से काम कराने की वृत्ति इसलिए भी नहीं हो सकेगी कि हमारी योजनानुसार हर काम करनेवालों की मजदूरी 'जीवन-वेतन' के सिद्धान्त के अनुसार ही देनी पड़ेगी। अगर किसान खुद परिश्रम न करके दूसरों के श्रम से खेती कराना चाहेगा, तो वह जमीन की पैदावार से अपनी गुजर नहीं कर सकेगा। उसकी सारी उपज मजदूरी देने में ही खतम हो जायगी। अतः इस दिशा में डरने की आवश्यकता नहीं है।

खेती की पैदावार बढ़ाने के लिए परम आवश्यक वस्तु है—खाद और पानी की व्यवस्था। हमारे प्रान्त में जितने पशु हैं, उनका गोबर अगर न जलाया जाय तो कुल २,६४ १८, २ मन खाद सालाना मिल सकती है। यह सत्य है कि यहाँ लोग कुछ गोबर जला डालते हैं, वहाँ वे जानवरों के पेशाब, घास-फूस आदि से भी कुछ खाद बनाते रहते हैं। इस तरह आज हमें खेती के लिए सब मिलाकर उतनी खाद मिल ही जाती है, जितनी कुल गोबर से हो सकती थी। मामूली तौर से अच्छी खेती के लिए प्रति एकड़ कम-से-कम १० ० प्रति वर्ष खाद की आवश्यकता होती है। उस हिसाब से हमें १ ,६६ ६७,६ मन खाद की आवश्यकता प्रतिवर्ष होगी। अर्थात् हमारे प्रान्त की खेती के लिए हर साल ७०१ ४ करोड़ मन खाद की कमी पड़ती है। यानी आज यहाँ प्रति ग्राम हमें केवल २८,७११० मन खाद मिलती है, वहाँ पूरी खेती के लिए अर्थात् १४७८ एकड़ के लिए १ ४ २४ ० मन खाद की आवश्यकता होगी। अगर हम लगभग २ प्रतिशत जमीन प्रति वर्ष परती छोड़ दें, तो भी ७८,२५५ऽ मन खाद की आवश्यकता तो होगी ही; अतः हमें इतनी खाद जुटाने की व्यवस्था करनी होगी। इसके लिए पहले यह देखा जाय कि हम भिन्न-भिन्न उपायों से खाद की उत्पत्ति कर सकते हैं। खाद के लिए प्रधानतः निम्नलिखित चीजें काम में लायी जा सकती हैं :

खाद की व्यवस्था

१ गोबर की खाद। २ मवेशियों का पेशाब। ३ बकरे तथा भेड़ों की टट्टी-पेशाब। ४ वनस्पति की सड़न। ५. शोरा कालीन नमक। ६ जानवरों की हड्डी तथा मांस। ७ सनई आदि हरी खाद। ८. तेलहन की खली। ६. मनुष्यों की मैली। १ रासायनिक खाद (अमोनियम सल्फेट आदि)।

भारत में प्राचीन काल से ही गोधन उत्तम धन माना गया है। इस कारण लोग अधिक संख्या में गोपालन किया करते थे। अतः हमारे यहाँ गोबर की खाद ही प्रधानतः इस्तेमाल हुआ करती है। क्रमशः संसार

के विभिन्न देशों में नाना प्रकार की खादों का आविष्कार होता गया।

गोबर की खाद

लेकिन संसार के सभी विशेषज्ञों का कहना है कि जमीन की नमी कायम रखने में तथा उसकी उर्वरा-शक्ति को अधिक दिन टिकाऊ रखने के लिए गोबर की खाद ही सर्वोत्तम है। लेकिन ग्राम की परिस्थिति में हम पशुओं की आबादी को जरूरत से ज्यादा बढ़ा नहीं सकते हैं। आज प्रति ग्राम के मवेशियों की संख्या २६२ है और हमें अपने काम के लिए पुष्टि और जुताई के लिए चाहिए केवल २६१ जानवर। अतः आज जितना गोबर मिलता है, भविष्य में उससे अधिक गोबर पाने की सम्भावना नहीं है। अतएव गोबर से प्रति ग्राम केवल १२६ – मन खाद मिल सकेगी।

मवेशियों के पेशाब का अधिकांश भाग व्यर्थ चला जाता है। उनका संचय करने का उचित प्रबन्ध करके हम खाद की वृद्धि कर सकते हैं।

मवेशियों का पेशाब

गोशालाओं का फर्श पक्का करके उस पर धान का पोआल, गन्ने के पत्ते, बाग के बटोरे हुए पत्ते, चावल की भूसी, मूँगफली का छिलका, मेथी का डंठल आदि ऐसी चीजें डाल देनी चाहिए, जिसमें पेशाब जज्ब होकर उसे अच्छी तरह सड़ा दे। फिर उसे अलग घूर में डालकर खाद बना लेनी चाहिए। इसी खाद भी हम काफी मात्रा में तैयार कर सकेंगे। मेरा अन्दाज यह है कि इस प्रकार सालभर में प्रति ग्राम जितनी खाद बनेगी, वह कम-से-कम ८ – मन गोबर की खाद के बराबर होगी।

मैंने प्रति ग्राम ५ बकरियों और १ भेड़ों की जरूरत बतायी है। बकरियों की लीद-पेशाब की मात्रा खाद की दृष्टि से नगण्य है,

बकरी तथा भेड़ की लीद-पेशाब

लेकिन भेड़ की लीद-पेशाब जमीन के लिए बहुत मुफीद बताते हैं। प्रान्त में लोग भेड़ों के झुण्ड को रातभर खेत पर बैठा देते हैं। इससे जमीन की जो उर्वरा-शक्ति बढ़ती है, उससे गोबर की खाद से दुगुनी पैदावार बढ़ती है, ऐसा ग्राम किसानों का अनुभव है। किसानों का हिसाब यह है कि

१ भेड़ की तीन दिन की बैठाई एक एकड़ के लिए उतना ही फायदा करती है, जितना १ मन गोबर से लाभ हो सकता है। यानी १ भेड़ से प्रतिदिन कम-से-कम १० मन गोबर के बराबर जमीन के लिए खाद मिल सकती है। यह सही है कि हर मौसम में खेतों में भेड़ें नहीं बैठायी जा सकतीं। लेकिन उचित प्रबन्ध से इनकी टट्टी-पेशाब एकत्र की जा सकती है। ऐसी संचित खाद से उतना लाभ न होगा, जितना उन्हें खेतों पर बैठाने से होता है। फिर भी खेत पर बैठाने और संचित खाद की औसत २ मन प्रतिदिन के बराबर हो ही जायगी। इस हिसाब से भेड़ों के द्वारा हमें लगभग ७२ मन खाद मिल सकेगी।

वनस्पति की खाद

गाँवभर का कूड़ा साफ करके उस पर नाबदान का पानी, गोबर का पानी और खारा पानी छिड़ककर तथा उसे समय-समय पर उलट कर कम्पोस्ट खाद बन सकती है। इसके लिए गाँव के जंगल, घास तथा जंगल के पत्तों का इस्तेमाल किया जा सकता है। इस जरिये से भी काफी खाद मिल सकती है। मेरा अन्दाज यह है कि जब लकड़ी और पत्तों के लिए हम पेड़ लगाये होंगे तो इस प्रकार वनस्पति की खाद करीब १२ मन गोबर की खाद के बराबर पैदा हो सकती है।

शोरा जातीय नमक

हमारे प्रान्त में शोरा की मिट्टी प्रचुर परिमाण में मौजूद है। आज भी हजारों मन शोरा इस प्रान्त में बनता है। अगर शोरे की खास व्यवस्था की जाय तो इस जरिये से हमें काफी खाद मिल सकती है। युक्तप्रान्त की सरकारी खेती-सुधार कमेटी का कहना है कि "शोरा में १५ प्रतिशत नाइट्रोजन है और बाकी हिस्सा पोटाश भी जमीन की खुराक का अच्छा साधन है।" यह सभी जानते हैं कि नाइट्रोजन वनस्पति का एक प्रधान भोज्य पदार्थ है। सरकार को पहले इसकी सम्भावनाओं की जाँच करनी होगी और किसानों को इनके द्वारा खाद बनाने के लिए उत्साहित करना होगा।

हमने रेल के सफर में स्टेशनों पर जानवरों की हड्डियों का ढेर जगह

खेत की घास, घी और बहुत सी वनस्पतियाँ मिलेंगी, जिन्हें खाद के लिए बोया जा सकता है।

भारत में तेलहन की प्रचुर उत्पत्ति होती है। खलों से सरसों, तिल अलसी, रेंड़, बर्रे आदि के अलावा जंगलों में महुआ, साल, नीम आदि

तेलहन की खली

का बीज करोड़ों मन पैदा होता है। इनमें से कुछ की खली मनुष्य तथा पशुओं की खाद्य-सामग्री में शामिल हो सकती है। बाकी से ऊँचे दर्जे की खाद तैयार हो सकती है। इस देश के किसान नीम की खली को फसल के लिए घी के बराबर मानते हैं। इससे केवल जमीन की ताकत ही नहीं बढ़ती इसके इस्तेमाल से दीमक आदि बहुत से हानिकारक कीटाणु भी मर जाते हैं। दुर्भाग्यवश इस प्रान्त में प्रायः जितना बीज नीम का पैदा होता है, उसके २ प्रतिशत ही का तेल निकाला जाता है बाकी पड़े-पड़े पेड़ के नीचे सड़ जाते हैं। ग्राम-स्वावलम्बन-योजना में हमें खाने के अलावा जलाने के लिए साबुन तथा अन्य उद्योगों के लिए प्रचुर परिमाण में तेल की आवश्यकता होगी। अतः इनकी खली से भी हमें काफी खाद मिल सकेगी। नाइट्रोजन वनस्पति का प्रधान खाद्य है। किस खली में नाइट्रोजन का कितना अनुपात है, यह मालूम होने पर तुम समझ सकोगी कि खाद के लिए खली की कीमत क्या है? नीचे तेलहन की खली में नाइट्रोजन की मात्रा की तालिका दे रहा हूँ। इसे गौर से देखना—

नाम खली	नाइट्रोजन मात्रा प्रतिशत	नाम खली	नाइट्रोजन मात्रा प्रतिशत
मूँगफली	७·१६	अलसी	५.१
तिल	६·१	नीम	५.४
बर्रे	६.१४	रेंड़ी	४.५
कपास का बीज	४·२६	गरी	३·६०
राई व सरसों	४·२८	बिनौला (छिलका उतारकर)	६.१८
महुआ	२.०२		

बापू के शब्दों में "मनुष्यों का पाखाना खेतिहर के लिए मानो सोना है।" इस विषय के विशेषज्ञ सर अलबर्ट हावर्ड का कहना है कि

मनुष्य की टट्टी

मनुष्य की सालभर की औसत टट्टी से २ पौंड खाद होती है, जिसमें १५ पौंड नाइट्रोजन, ४ पौंड पोटाश और ५ पौंड फोरिक एसिड रहता है। संयुक्तप्रान्तीय खेती-सुधार कमेटी की १६४१ की रिपोर्ट में बताया गया है कि अगर आठ आदमियों का पाखाना जमा किया जाय, तो एक एकड़ गन्ने की खेती में उत्तम-से उत्तम दर्जे की फसल उत्पन्न होगी। तुम्हें शायद मालूम होगा कि गन्ने की खेती वैसे ही कुछ ज्यादा खाद माँगती है। अगर इस दर्जे की उत्पत्ति करनी है, तो कम-से-कम ४ ऽ मन खाद एक एकड़ के लिए चाहिए। इस हिसाब से एक आदमी का पाखाना ५ मन खाद के बराबर ताकत देनेवाली चीज है। प्रान्त के प्रति ग्राम की आबादी ४७ की है। अगर २ बच्चों को छोड़ दिया जाय तो भी ४५ आदमी का पाखाना २२५ खाद के बराबर होगा। हम मान लें कि कितना भी प्रबन्ध किया जाय, कुल पाखाने का सम्पूर्ण इस्तेमाल सम्भव नहीं होगा। मनुष्य की आदत संस्कार आदि बातें भी इन मामलों में असर करती ही हैं। फिर भी मेरा विश्वास है कि इस दिशा में उचित संगठन करने पर लगभग १२ ऽ खाद के समान लाभ तो हम पाखाने से उठा ही सकते हैं।

पाखाने के इस्तेमाल के विषय में भारत में सबसे अधिक अनुभव बापू का ही है। पाखाने से ज्यादा-से-ज्यादा लाभ उठाने के लिए जमीन में गड्ढा करके ढँक देने का संगठन गाँव-गाँव में करना होगा। बापू ने पाखाने के इस्तेमाल के सिलसिले में कहा है— "इस पाखाने को बहुत नीचे गड्ढे में नहीं गाड़ना चाहिए। धरती के ६॥ इंच तक की परत में बेशुमार परोपकारी जीव बसते हैं। उनका काम उतनी गहराई में जो कुछ हो उसकी खाद बना डालने और सारे मैले को शुद्ध करने का होता है। सूर्य की किरण भी भारी सेवा करती है। इस नियम से गाँव में हर

जमीन जो खेत परती छोड़ी जाय उस पर पाखाना बनाने का प्रबन्ध ग्राम समिति को या पंचायत को करना होगा।

रासायनिक खाद

तुम्हें इस बात से थोड़ा आश्चर्य होता होगा कि मैंने रासायनिक खाद का स्थान अन्त में क्यों रखा है। आजकल शिक्षित जनता में रासायनिक खाद की तारीफ की जो धूम मची हुई है उसे देखते हुए शायद इसका सबसे पहला स्थान रखना ही ठीक जँचता। लेकिन खेतिहरों का रासायनिक खाद का व्यवहार करते मैंने देखा है। उसके असर की भी कुछ जाँच करने की चेष्टा की है। मैंने रासायनिक खाद से एकाएक पौधों को बढ़ते भी देखा है। इसके असर से कुछ पैदावार भी बढ़ती है। लेकिन लगातार कुछ दिन अध्ययन करने से मुझे ऐसा लगा कि पौधों के लिए गोबर आदि की खाद और रासायनिक खाद में उतना ही फर्क है, जितना मनुष्य के लिए पुष्टिकर भोजन और शक्तिवर्धक औषधों में है। नियमित रूप से परिमित भोजन करने से शरीर पुष्ट और टिकाऊ होता है और अगर रासायनिक शक्तिवर्धक औषधि से शरीर में पुष्टि लाई जाय तो तत्काल शक्ति देने का काम तो वह करेगी, लेकिन आगे चलकर स्वास्थ्य की दृष्टि से वह हानिकारक होती है। उसी तरह रासायनिक खाद का लगातार व्यवहार जमीन के लिए हानिकारक होगा। यद्यपि पश्चिमी ढंग से खेती के वैज्ञानिक विशेषज्ञ रासायनिक खाद की बड़ी तारीफ किया करते हैं, लेकिन जिनको भारत की खेती की विशेष जानकारी है, वे इसका इस्तेमाल करने की सिफारिश तो करते हैं लेकिन कुछ दबी जबान से। सन् १९१९ में कुल भारतीय खेती-सुधार के लिए जो कमेटी सरकार ने बनायी थी उसमें कुछ वैज्ञानिक विशेषज्ञ और कुछ अनुभवी खेतिहर भी थे। तीन साल तक सारी परिस्थितियों की जाँच करके उसने सरकार को सन् १९४२ में जो रिपोर्ट दी, उसमें कहा है—' ... रासायनिक खाद से वनस्पति को फौरन खुराक मिल जाती है लेकिन इसका व्यवहार थोड़ी मात्रा में हो सकता है क्योंकि अधिक मात्रा में लगातार इसका इस्तेमाल किया जाय

तो उससे जमीन को नुकसान ही पहुँचेगा। एमोनियम सल्फेट के विस्तृत और काफी अर्से तक व्यवहार से जिन जमीनों में चूने की आवश्यकता नहीं है, उनमें अम्ल पदार्थ पैदा हो जाता है। रासायनिक खाद से जमीन में नमी नहीं के बराबर पैदा होती।" अतः हमें यदि रासायनिक खाद का इस्तेमाल करना होगा, तो उतनी ही मात्रा में हम उसे काम में लायेंगे, जितना मनुष्य की बल-वृद्धि के लिए टॉनिक का इस्तेमाल किया जाता है।

पानी वनस्पति की जान है। जहाँ भी नमी होगी वहाँ स्वतः कुछ-न कुछ सब्जी पैदा हो ही जायगी। खाद न हो और पानी खूब मिले, तो पौधे उग ही जायेंगे भले ही खाद के बिना वे पुष्ट न हो सकें। पानी बिना चाहे जितनी खाद डालो, पौधे उगेंगे ही नहीं। अतः खेती के लिए पानी ही सबसे महत्त्व का उपादान है। इतनी आवश्यक सामग्री होने पर भी हमारे खेतों के सिंचाई हिस्सों में ही पानी पहुँचता है। अतः इस दिशा में हमें विशेष प्रबन्ध करना पड़ेगा। प्रश्न यह है कि पानी की प्राप्ति के लिए हमारा ढंग क्या हो ?

सिंचाई की व्यवस्था

संसार में सिंचाई का काम ४-५ जरियों से किया जाता है—(१) नहर, (२) ट्यूब वेल, (३) कुआँ, (४) तालाब और (५) नदी नाला झील आदि।

नहर के मामले में मेरी राय तुम्हें मालूम ही है। नहर से फायदा अवश्य है, लेकिन उससे नुकसान भी इतना है कि किसी योजना में नहर का प्रस्ताव करते समय हर पहलू पर गम्भीर विचार कर लेना चाहिए। नहर की व्यवस्था अनिवार्यतः केन्द्रीय सरकार के अधीन रखनी होगी, जिसका अर्थ किसी दूसरे पर निर्भर रहना होगा। अगर हम मौलिक स्वावलम्बन के सिद्धान्त को फिलहाल छोड़ भी दें, तो भी कई व्यावहारिक हानियाँ भी नहर से होती हैं। नहर से जो पानी आता है, उसकी गहराई काफी नहीं होती और बहाव को कायम रखने के लिए जगह-जगह उसे

भरने का रूप दिया जाता है, जिससे सारा पानी नीचे की तरह तक आलोड़ित हो जाता है। फलतः जितनी बालू नदी से बहकर नहर में जाती है, वह नीचे बैठने नहीं पाती और क्रमशः खेतों में जाकर उन्हें बालूमय कर देती है। इस तरह बालू की अधिकता से खेतों को नुकसान होता है।

बालू भरने से फिर भी कुछ पैदावार हो जाती है लेकिन जब यह पानी उन इलाकों से होकर आता है, जहाँ रेह और अन्य हानिकारक क्षार की अधिकता है, तो वे क्षार बहकर खेतों में जमा होते रहते हैं और क्रमशः उन्हें ऊसर बनाकर ही छोड़ते हैं। श्री चौधरी मुख्तारसिंह इस विषय के विशेषज्ञ माने जाते हैं। तभी तो युक्तप्रान्तीय सरकार ने उन्हें कृषि-सुधार कमेटी का अध्यक्ष चुना था। उन्होंने अपनी पुस्तक 'रूरल इंडिया' में कहा है कि "बम्बई और दूसरे प्रान्तों के कई स्थानों में प्रचुर परिमाण की भूमि पर की खेती नहरों के कारण ही नष्ट हो गयी है।" (पृष्ठ १६९)

नहर द्वारा एक दूसरी बड़ी समस्या पानी रुकने की पैदा होती है। हमारे देश की वर्षा थोड़े दिन की होती है। वह इतनी मात्रा में होती है कि सारा पानी जमीन में जज्ब नहीं हो पाता और अधिकतर पानी बहकर समुद्र में वापस चला जाता है। इस कारण विशेष आवश्यकता इस बात की है कि इस देश में पानी बह जाने का रास्ता जारी हो, ताकि अतिरिक्त पानी का उचित निकास हो। जब से रेल लाइनों की सृष्टि हुई, तब से जहाँ-तहाँ पानी रुकने के कारण स्वास्थ्य की समस्या तो खड़ी ही हो गयी थी, नहरों के कारण यह समस्या और भी जटिल होती गयी। रेलवे की समस्या जगह जगह पुलियाँ बनाकर हल की जा रही है। ये पुलियाँ काफी चौड़ी होने के कारण उनके नीचे से पानी की बहाव गति कायम रखना आसान है। लेकिन नहर के नीचे से पानी के लिए जो सुरंग बनायी जाती है, वह तो ऑंखू पोंछनेभर के लिए ही जारी होती है। इस प्रकार पानी रुककर बड़े-बड़े क्षेत्र में रुका रहता है और सारे वायुमंडल का स्वास्थ्य खराब करता है। केवल आदमी और पशुओं का स्वास्थ्य

खराब करता है, यह बात नहीं। पौधे भी इनके कारण ठीक से बढ़ नहीं पाते। जहां कहीं हमेशा पानी जमा रहेगा, उसके आसपास की जमीनों में हमेशा नमी बनी रहेगी। ऐसी सीलवाली जमीन पर कितनी पैदावार होती है, इसका बयान करके तुम लोगों की बुद्धि और अनुभव का अपमान न करना ही अच्छा होगा। अगर हम मान भी लें कि नहर के कारण पैदावार बढ़ती है, तो भी इस बात का कौन हिसाब लगावेगा कि जमीन से अधिक अनाज मिलने के कारण हम अपनी स्वास्थ्य की जितनी उन्नति करते हैं, बीमारी के कारण अवनति उससे अधिक होती है या नहीं।

पानी रुकने से एक दूसरी हानि और होती है। तुमने देखा होगा कि जहाँ कहीं भी थोड़ी देर पानी रुक जाता है उस पर बारीक मिट्टी के कण जमा होकर पपड़ी पड़ जाती है। इससे जमीन की सतह के छिद्र बन्द हो जाते हैं। नतीजा यह होता है कि पानी छनकर नीचे बैठने नहीं पाता। इस तरह पानी के न छन सकने से जमीन की सतह पर खार पैदा हो जाता है और वही खार क्रमशः फैलकर आसपास के खेतों को खराब करता है। इस प्रकार पानी रुकने से जो जमीन नम होती रहती है वह क्रमशः बंजर होती जाती है।

अभी भी टाटा, बिन्ला आदि ने जो १५ वर्षीय योजना बनायी है, उसमें उन्होंने बताया है कि नहर का खर्च प्रति एकड़ सत्तर रुपया होता है और प्रान्तीय सरकार की खेती-सुधार कमेटी ने इस प्रान्त में २ एकड़ जमीन सींचने लायक कुओं-रहँट के औसत खर्च का जो हिसाब बताया है वह इस प्रकार है—

कुओं बनाने का खर्च ४)
उमत रहँट २)
६)*

---

* नाप के हिसाब से नहर बनाने का खर्च १) प्रति एकड़ और ११) कुएं रहँट का पड़ता है।

मानो कुएँ की सिचाई के लिए प्रति एकड़ १) की लागत लगानी पड़ती है। इस तरह नहर के लिए ढाई-तीन गुनी पूँजी की आवश्यकता है।

अतः मेरा कहना यह है कि हमें नहर का प्रबन्ध उन्हीं स्थानों पर करना चाहिए, जहाँ कुओं बनाना प्रायः असम्भव हो। यानी जहाँ कुओं बन ही नहीं पाता हो या बने, तो उसके लिए हद से ज्यादा खर्च हो जाय या पानी इतने नीचे हो कि निकलना प्रायः असम्भव हो। अतः जिन इलाकों में नहर बननी भी हो, वहाँ का पूरा 'सर्वे' करके स्वाभाविक निकासों का नक्शा पहले ही बना लेना चाहिए।

हमारे प्रान्त की परिस्थिति के अनुसार जितनी जमीन पर सिंचाई का प्रबन्ध करना है उसके २५ प्रतिशत से अधिक के लिए नहर की आवश्यकता न होगी। प्रान्त की जो खेती-सुधार योजना बनायी जाय, उसमें निम्नलिखित हिसाब से सिंचाई करना ठीक होगा—

कुल जमीन जिस पर खेती होती है १,५६,१६,२ एकड़।

परिमाण जमीन जिसकी सिंचाई होती है १,१६,१७,५८७ एकड़।

जमीन, जिसकी सिंचाई की व्यवस्था करनी है २ १७ १,६११ एकड़।

अर्थात् हमें प्रति ग्राम २११७५ एकड़ जमीन की सिंचाई की व्यवस्था करनी होगी। इनमें २५ प्रतिशत की सिंचाई नहर से ६१ प्रतिशत की कुएँ से और ८ प्रतिशत की तालाब आदि से करना व्यावहारिक होगा। ६ प्रतिशत जमीन कछार आदि की ऐसी है जिस पर सिंचाई की आवश्यकता नहीं है।

नहरें हमको सारी नयी बनवानी होंगी लेकिन कुएँ कुछ पुराने मरम्मत तथा उन्नत करने से काम चल जायगा, कुछ नये बनवाने पड़ेंगे। आज प्रान्तभर में ५५,५४ ५१ एकड़ जमीन पर १४ कुओं से खेती होती है। यानी प्रति ग्राम ५.८१ एकड़ जमीन पर १.१७ कुओं से सिंचाई होती है। अर्थात् प्राय एक कुएँ से ४ एकड़ जमीन की सिंचाई होती है।

कुएँ की उन्नति करते समय कई बातों का खयाल रखना होगा।

केवल गणित से समस्या का हल नहीं होगा। एक तो यह कि बहुत से कुओं की हालत ऐसी है कि उनकी मरम्मत करने से अच्छा होगा कि नये कुएँ खोदे जायें। यानी वे मरम्मत के काबिल ही नहीं हैं। दूसरे यह कि कुछ कुएँ ऐसे हैं, जिनकी उन्नति करके अधिक जमीन की सिंचाई की जा सकती है लेकिन वे इतने पास हैं कि उस क्षेत्र में अधिक जमीन सिंचाई के लिए बाकी ही नहीं है। उन्हीं क्षेत्रों के कुओं का सुधार करना है, जहाँ पानी की कमी के कारण आसपास की जमीन सिंचाई से रह जाती है। बाकी क्षेत्र में नये कुएँ बनवाने होंगे। इस दृष्टि से हिसाब लगायें तो प्रान्तभर के लिए हमें ६,२४,६६७ कुओं की मरम्मत तथा रहँट की व्यवस्था करनी होगी और २,८६,७९५ कुएँ नये बनवाने होंगे।

तालाब के मामले में अधिक संख्या में नये तालाब बनाने की गुंजाइश इस प्रान्त में नहीं है। बरसात का पानी रोककर सिंचाई के लिए निम्नलिखित उपायों को ही काम में लाना होगा :

१ जितने तालाब करीब भठकर बेकार पड़े हैं, उनकी मरम्मत तथा खुदाई करानी होगी।

२ ईंट के भट्ठे के सिलसिले में कुछ तालाब बन सकते हैं।

३ प्रान्त में बहुत ही ऐसी नीची जमीन है, जो न तालाब है और न खेत। बरसात का पानी कुछ जमता जरूर है, लेकिन फिर सूखकर दलदल बना रहता है। ऐसी नीची जमीनों के बीच के हिस्सों को खोदकर छोटे-छोटे सागर बन सकते हैं और उनमें से निकाली मिट्टी के चारों ओर की कम नीची जमीन को पाटकर खेत भी निकाला जा सकता है। अपनी योजना में ऐसी जमीनों का उपयोग करने का कार्यक्रम रखना होगा। नहरों से हमें ५१,२८,२६५ एकड़ नयी जमीन की सिंचाई की व्यवस्था करनी है। नहर बनवाते समय पानी के स्वाभाविक निकास का सर्वे करके ठीक-ठीक नक्शा बना लेना होगा और पानी निकास के मार्ग इस प्रकार से बनाने होंगे, जिससे हमेशा साफ रखा जा सके। नहर

बनाते समय और एक बात की ओर भी ध्यान रखना जरूरी है। हमारे प्रान्त में नदियों के बहाव इस ढंग से हैं कि यातायात के लिए जल-मार्ग की अच्छी योजना बन सकती है। नहरों की बनावट ऐसी हो कि नहरों को इस काम में भी लाया जा सके। मेरे खयाल से इतने से ही आवश्यक सिंचाई हो सकेगी। ● ● ●

जमीन का बँटवारा ६९

११।१।'४८

पिछले पत्र में जमीन की पैदावार बढ़ाने के लिए क्या-क्या उपाय करना चाहिए, इस पर प्रकाश डाला था। आज इस बात पर कुछ लिखूँगा कि अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम किस तरह अपना संगठन बनायें और समाज उत्पत्ति की व्यवस्था करें।

पहले के पत्र में मैंने बताया था कि आज की जमींदारी तथा काश्तकारी-प्रथा के रहते खेती में सुधार नहीं हो सकता है। अब प्रश्न यह है कि हम इस प्रथा को हटायें कैसे और नयी प्रथा का संचालन कैसे करें। फिर इस प्रकार की तब्दीली के लिए फौज के बल से जबरदस्ती जमींदारों से जमीन छीन ली जाय या उन्हें उचित मुआवजा देकर जमीन की मिल्कियत का तबादला करें। मेरी राय में हमें मुआवजा देने का रास्ता ही लेना पड़ेगा। इस मुआवजे की रकम उन जोतनेवालों से किस्त पर लेनी चाहिए, जिनको खेत का स्वामित्व देना है। यह किस्त काफी साल तक के लिए होनी चाहिए।

जब खेत जोतनेवालों के पास अपनी जमीन हो जायगी तो वे अपनी खेती के लिए सहयोग-समितियाँ बनायेंगे। ऐसी समितियों को ग्राम-पंचायत के अधीन रखना अच्छा होगा। अब सवाल यह आता है कि क्या जमीन गाँव में रहनेवाले सभी परिवारों को बाँट दी जायगी या इसके लिए कोई हद बाँधनी होगी। मैंने पहले ही कहा है, आज जितनी आबादी जमीन पर गुजर कर रही है, उतनी का गुजर खेती से हो नहीं सकता। केवल गुजर ही नहीं बल्कि उतनी आबादी को जमीन पर काम भी नहीं मिल सकता। अतः हमको गाँव की सारी जमीन उतनी आबादी में बाँटनी होगी जितनी की आवश्यकता खेती के काम के लिए

होंगे। बाकी लोगों को उद्योगादि के काम में लगाना होगा। मेरे हिसाब से ५ मनुष्य के प्रति परिवार को ८ एकड़ के करीब ज़मीन मिले, तो वह उससे गुज़र भी कर लेगा और परिवार के लोगों को बेकार रहना भी नहीं पड़ेगा। आज हमारे प्रान्त के प्रति ग्राम के परिवारों की संख्या ९४ है। ऊपर के हिसाब से हम ६५ परिवार को ही ज़मीन दे सकते हैं। बाकी परिवारों के लिए दूसरा काम निकालना होगा।

अब प्रश्न यह है कि ज़मीन की फसल को किस तरह बाँटें, जिससे हमारे आवश्यक कुल अनाज मौजूदा खेत से मिल सकें। इस तरह अनाज

फसल का बँटवारा

के लिए ज़मीन का बँटवारा करते समय एक बात का ध्यान रखना ज़रूरी है। हम जब तमाम ज़मीन की अधिक-से-अधिक जोताई करेंगे, तो ज़मीन की ताकत पर काफी ज़ोर पड़ना अवश्यम्भावी है। इससे ज़मीन का थक जाना स्वाभाविक है। ऐसी हालत में हमें हरसाल बारी-बारी से कुछ ज़मीन परती छोड़नी पड़ेगी।

हमारे प्रान्त में प्रति ग्राम १४७·८ एकड़ ज़मीन है। मैंने यह भी कहा है कि हमें इसी ज़मीन में परती भी छोड़नी है और आज जितने अनाज की कमी है, उसे भी इसीमें पैदा करना है। इसके लिए मैंने एक योजना बनायी है।

इस योजना में मैंने कुल ४२·७५ एकड़ ज़मीन परती छोड़ने का प्रस्ताव किया है यानी ५॥ साल में एक बार हर ज़मीन की बारी आयेगी। इसके अलावा जिस ज़मीन पर सिर्फ एक फसल मूँग और उर्द की ही लेने का प्रस्ताव है वह भी परती का काम करेगी; क्योंकि उर्द और मूँग ज़मीन की ताकत बढ़ाते ही हैं, घटाते नहीं। इस हिसाब से (४२·७५ + १२) यानी ५४·७५ एकड़ भूमि हर साल परती रूप में रहेगी। इसी तरह तिल के १ एकड़ और चरी के ६·५ एकड़ को भी एक फसल के बाद परती छोड़ा है। निम्नलिखित तालिका से मालूम होगा कि २१·२ एकड़ ज़मीन पर दो फसल की उत्पत्ति होगी। इस पर विचार करते समय एक और बात पर ध्यान रखना है। मैंने जो फसल

का बँटवारा किया है, वह भारत के पूर्व के आधे ज़िलों की खेती के अनुभव से ही किया है। वास्तविक योजना बनाते समय यह हिसाब प्रत्येक ज़िला तहसील और परगना के लिए अलग-अलग बनाना पड़ेगा। मेरा हिसाब केवल इस बात का संकेत करता है कि हम किस प्रकार से, किस दृष्टि से अपनी खेती की व्यवस्था करें।

फसल की ज़मीन पर बँटवारा तथा उत्पत्ति (प्रति ग्राम)

मुख्य फसल			दूसरी फसल		
अनाज	एकड़	पैदावार	अनाज	एकड़	पैदावार
चावल (भदई)	५१	५१ऽ	चना	४६	४८१।-
			मटर	७	७१॥-
			सरसों	५१	१६।-
चावल (अगहनी)	२११	२११२ऽ	जौ केराई	२१२	१२४।।।ऽ
मकई	२८५	१८६।ऽ	{ मडुआ	२८५	१७ऽ
			{ बर्रे	२८५	२८॥ऽ
			{ सरसों	१७५	१५ऽ
			{ जौ	१७५	२११।ऽ
			जौ केराई	११	१५४ऽ
अरहर	१७२	२ ७ऽ	उर्द	१७२	८॥-
			{ चावल	,,	१९८ऽ
			{ साँवाँ	,,	५५ऽ
			{ कोदो	,,	६८ऽ
			{ रेंड़ी	,,	१७ऽ
कुमार	८४	६५	उर्द	८४	५६ऽ
बाजरा	२१	११५ऽ	{ मटर	२१	२४।।।ऽ
			{ सरसों	२१	४६ऽ

तोरी (सरसों)	११७ऽ	जौ	२११।ऽ
सरसों	१८७ऽ	बरें	२८८।ऽ
मूँग	५४–	साँवाँ	५५ऽ
उर्द	१२१॥ऽ	कोदो	८८ऽ
कपास	८ऽ	रेंडी	१०ऽ
गेहूँ	८५४ऽ	आलू	७ –
मसाला	४ –	अलसी	१५ऽ
ईख	५१ ऽ	लकड़ी रेंडी अरहर	
तम्बाकू	२९–	खादि के सामान	१ ऽ

उपर्युक्त पैदावार से प्रान्त की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति होकर भी कुछ बढ़ती रह जायगी। उसे हम उन प्रान्तों को भेज सकेंगे, जहाँ अनाज की कमी होगी। इस हिसाब से हमें प्रति गाँव निम्नलिखित मात्रा में अनाज प्राप्त होगा।

अनाज	उत्पत्ति	अनाज	उत्पत्ति
चावल	८९ ऽ	गेहूँ	८५४ऽ
कोदरी	१८१।ऽ	चना	४८१ऽ
अरहर	२ ७ऽ	मटर	११५ऽ
ज्वार	५६ऽ	जौ केराई	९२१॥–
बाजरा	११५ऽ	जौ	२११।ऽ
मूँग	५४–	साँवाँ	५५–
उर्द	१२१॥ऽ	कोदो	८८–
	१८१२॥–		७९३१ऽ

कुल जोड़ ४०६७॥ऽ

अर्थात् नयी योजनानुसार प्रान्तभर के अनाज की उपज ४८,८१ ७ १८८– मन की होगी। हमें ४२ ७५,८१, ९७२ऽ मन अनाज की आवश्यकता है। इस प्रकार से ५,८८,४१६ऽ मन अनाज हम प्रति वर्ष उन प्रान्तों को भेज सकेंगे, जहाँ अनाज की कमी हो।

कर ही अपना हिसाब करना ठीक होगा। इस प्रकार ५५ परिवारों के कुल २७४ आदमियों में :

६ साल से अधिक वृद्ध पुरुष-स्त्रियाँ	१७
१६ साल से ६ साल तक प्रौढ़ पुरुष	७६
,, ,, ,, प्रौढ़ स्त्रियाँ	७१
६ से १५ तक के लड़के	३६
६ से १५ तक की लड़कियाँ	३४
बच्चे	२
बच्चियाँ	१८

होंगे। हल के लिए बैल और भैंसों की संख्या ७४ होनी चाहिए, यह मैं बता चुका हूँ। ७६ पुरुषों में से मवेशियों के लिए ८ और विभिन्न फुटकर काम के लिए ३ पुरुष अलग रहेंगे। इस तरह खेती के लिए ६५ पुरुष प्राप्त होंगे।

६५ पुरुष, ७१ स्त्रियों और ७४ बैलों को निम्नलिखित हिसाब से काम करना होगा। किसानों के लड़कों के अलावा पाठशाला के कुल लड़के खेत में काम करेंगे। इस तरह १२२ लड़के काम के होंगे।

माह जेठ	आदमी	बैल
निराई (खेत की दूबादि घास साफ करना) २७१·४ एकड़	२१७	×
खाद ढोआई—१७१·६ एकड़ (१५ गाड़ी प्रति एकड़ के हिसाब से २६१४ गाड़ी १ गाड़ी ६ बार प्रति दिन = ४१६ गाड़ी)	८७८	८७८
बोआई—मकई, कपास उर्द की चरी १४५ ए (४ बाँह) प्रति हल से बोआई ½ एकड़ प्रति दिन	१२१	१४१
सिंचाई—१४८ एकड़ (प्रति रहँट १ आदमी ४ बैल से १॥ एकड़)	१२६	१७२
भुरभुरानी (जमीन को हल से फाड़ना) मकई २८·५ एकड़	१४	२८
जोड़	१५११	१०२४

पूस

	आदमी	बैल
जोताई बोआई जौ कटाई ४ बार २१.२ ए.	१४९	२९२
सिंचाई—गेहूँ मटर, जौ, जौ केराई, चना,		
आलू, तम्बाकू = २२.२५	४४१	५८८
ईख ११ एकड़ कटाई छिलाई	२	—
ईख पेराई ५ दिन १ स्त्रियाँ	२	२
कुदारी पियाई २८.५ एकड़ की	१७१	—
परती खेत ५ एकड़ की जोताई २ चाँह	१२	२४
जोड़ १ स्त्रियाँ ११७	११	४

माघ

	आदमी	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई ८.२ एकड़	१८	२४
ईख कटाई छिलाई	२	—
ईख पेराई २५ दिन १ स्त्रियाँ	२	२
जोताई २ चाँह ११ एकड़	२८	५६
जोड़ १ स्त्रियाँ	४४९	८८

फागुन

	आदमी	बैल
आलू तम्बाकू सिंचाई ८.५ एकड़	१८	२४
गन्ना कटाई छिलाई	२	—
गन्ना पेराई २५ दिन १ स्त्रियाँ	२	२
गन्ना जोताई ११ एकड़	४२	८४
गन्ना बोआई ११ एकड़	४४	४४
पिछले गन्ने (पेड़ी) की जोताई ११ एकड़ ३ बार	१४	२८
मटर कटाई ७ एकड़	५६	—

मसाला कटाई खोदाई २५ एकड़	६१	—
जोड़ १ स्त्रियाँ	६१७	४ २

चैत

	आदमी	बैल
कटाई—गेहूँ, मटर औ केराई, चना, जौ	१७१४	—
आलू गोड़ाई तम्बाकू कटाई ८२५ एकड़	६६	—
अरहर कटाई १७ २ एकड़	१ १	—
गन्ना सिंचाई ११ एकड़	२४	१६
तम्बाकू सिंचाई १ २५ एकड़	१	४
उर्द कटाई ८४ एकड़	६७	—
जोड़	२ ३	१६

बैसाख

	आदमी	बैल
दँवाई औ केराई ११ एकड़	२१	११
दँवाई—मटर, चना, औ केराई ११ २ एकड़	३२५	१६
दँवाई गेहूँ ६५ एकड़	६७५	११७०
दँवाई जौ १७ ५ एकड़	१७५	२१०
दँवाई अरहर १७ २ एकड़	१३७	—
दँवाई उर्द ८४ एकड़	२	२४
तम्बाकू कटाई १ २५ एकड़	१५	—
गन्ना सिंचाई ११ एकड़ २ बार	७५	१
जोड़	१७२	१८८७

कुल काम के दिन (कुल पुरुष ६५, कुल स्त्रियाँ ७१ कुल बैल ७४, कुल लड़के १२२)

कुल हाजिरी

माह	पुरुष	स्त्री	लड़के	बैल
जेठ	१५६१	—	—	१०२४
असाढ़	१८८२	—	—	१०१२
सावन	१६१८	११	१८१	१८६
भादों	९११	—	—	१ ८६
कुआर	१४९९	३७२ (बड़े लड़के)	७२	१४५५
कातिक	१७ १	१८ (बड़े लड़के)	१५	१६९२
अगहन	१६९२	—	—	१६२२
पूस	११७	१	—	११ ४
माघ	४४६	१	—	२८
फागुन	६१७	१	—	४ २
चैत	१५२२	१६	७१२	१६
बैसाख	१७२	—	—	१८८७

सक्षम लोगों के काम के दिन

	पुरुष	स्त्री	लड़के	बैल
जेठ	२४			२११
असाढ़	२१			२१
सावन	२५	१८	१५	२५
भादों	१४			१४०
कुआर	२१	५ (बड़े)	१	१९४
कातिक	६	२५ (बड़े)	२	२१
अगहन	२५			२
पूस	१८	१४		१५
माघ	७	१४		४
फागुन	१	१४		५५
चैत	२६५	२	६	५

बैलास	२६४			२५५
जोड़	२४५	२१९	कुल २१	१७८४
			बड़े १	

इस हिसाब से ५५ परिवार के पुरुष, स्त्री और बैलों के सालभर में काम के तथा खाली दिन इस प्रकार रहेंगे।

	काम के दिन	खाली दिन
पुरुष	२४५	१२
स्त्री	१	११५
बैल	१७९	१८६

विद्यालय के कुछ लड़के और लड़कियाँ सावन में १५ दिन और पौष में ५ दिन पढ़ाई बन्द करके खेती में काम करेंगे। बड़े लड़के और लड़कियाँ इसके अलावा ५ दिन और काम करेंगी। इनके अलावा ये विद्यार्थी जो अपने विद्यालय के पाठ्यक्रम में बुनियादी दस्तकारी खेती की मार्फत विद्याभ्यास करेंगे खेती में और अधिक समय काम करेंगे, क्योंकि सीखने के लिए उन्हें खेती की सभी क्रियाओं में शामिल रहना पड़ेगा। मैंने उनके काम की हाजिरी शामिल नहीं की है। कारण अभी उनकी संख्या की कल्पना करना व्यर्थ है। वे जितने दिन काम करेंगे, उतने दिन किसान-परिवार के दूसरे लोगों को थोड़ी सहूलियत हो जायगी।

प्रश्न यह उठता है कि क्या ये खाली दिन लोगों को बेकार काटने होंगे या इस समय वे दूसरे काम भी कर सकते हैं। कुछ समय तो घर गृहस्थी के फुटकर काम में लग जायगा। थोड़ा समय बीमारी अतिथि-सेवा अनुष्ठानादि में खर्च होगा। बाकी समय में वे विभिन्न प्रकार के गृह-उद्योगों में लग जायेंगे। गृह-उद्योगों में काम का दिन नीचे लिखे हिसाब से रहेगा—

गृह-उद्योग के काम के दिन

उद्योग	हाज़िरी		
	पुरुष	स्त्री	बैल
१ अनाज पिसाई बैल चक्की से ८२५८ मन	१६५		११
२ धान कुटाई ८२५८ धान १ ८ सेरों (५८ प्रतिदिन २ पुरुष २ स्त्रियों से)	१७	१७	
३ धान छँटाई	१३५	११२	
४ ईंट का भट्ठा १ लाख ईंट के लिए (५ ईंट पथाई और १५ ईंट के भट्ठे पर लगाई प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन)	८		
जोड़	१४७	५ ५	११

अर्थात् गृह-उद्योगों में पुरुष २१ दिन, स्त्रियाँ ७ दिन और बैल ५ दिन लगे रहेंगे। इसके उपरान्त दूसरे कार्यक्रमों में भी पुरुष और स्त्रियाँ लगी रहेंगी; उनका ब्यौरा इस प्रकार हो सकता है—

कार्यक्रम का ब्यौरा	काम के दिन	
	पुरुष	स्त्री
खेती में प्रारम्भिक कार्य	५	
मकान-निर्माण मरम्मत आदि निर्माण-सम्बन्धी कार्य	१६	५
मेंड़ बँधाई	१२	
लकड़ी काटना, चीरना तथा ढोना	१	
अनाज दुलाई बाजारों को बैलगाड़ी से	५	
अनाज तथा अन्य सफ़ाई		१५
अतिथि-सत्कार	२	५
त्योहारादि	१५	२
बीमारी तथा शुश्रूषा	१	१

मरम्मत-वगैरह		१
अन्य फुटकर	४	५
जोड़	६७	६

इस प्रकार पुरुषों का पूरा समय व्यवस्थित हो जाता है, लेकिन स्त्रियाँ फिर भी २१८ दिन खाली रहेंगी। ये २१८ दिन वे चरखे से सूत कातेंगी। लड़कों में १२२ लड़के १ दिन खेती में काम करेंगे। २७ दिन विद्यालय के दिन और बाकी ७४ दिन त्योहार तथा आराम के दिन होंगे।

पशुओं का प्रश्न

खेती से पशुओं का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। मैंने देखा है कि देहातों में बैल अधिकांशतः खाली ही रहते हैं। युक्तप्रान्तीय खेती सुधार कमेटी १९४ की रिपोर्ट में कहा गया है कि "किसान मुश्किल से साल में तीन माह बैलों को इस्तेमाल करता है और उन्हें ९ माह बैठाकर खिलाता है।' मेरी राय में यह भी कुछ अतिरंजित है। लेकिन चाहे जिस तरह से जाँच करो इस प्रान्त में ४-५ माह से ज्यादा बैलों के लिए काम नहीं है। हाँ यह जरूर है कि किन्हीं के पास जरूरत से ज्यादा बैल हैं। कोई बैलों के बिना जोत नहीं पाते हैं। अतिरिक्त परिश्रम केवल उन्हीं बैलों को होता है, जिनके पास खेत के अनुपात से बैल कम हैं। लेकिन किसी राष्ट्रीय समस्या को हल करते समय हमें अपवादों को नहीं देखना है। हमें तो औसत स्थिति देखकर ही विचार करना है। अगर प्रान्तभर के कुल बैलों का हिसाब लगाओगे तो देखोगे कि समस्या यह नहीं है कि हम बैलों की संख्या किस प्रकार बढ़ायें बल्कि यह है कि जितने पशु हैं, उन्हें काम क्या दिया जाय। यही कारण है कि मैंने अपनी योजना में प्रति ग्राम ६ बैलों के स्थान पर ७० बैल रखने का प्रस्ताव किया है और उतने में ही किस तरह हमारा काम पूरा हो जाता है उसका भी हिसाब बताया है।

ऊपर बताये हिसाब से हमने अनाज, तेल मीठा चारा दूध की

आवश्यकता पूरी करने की चेष्टा की। फल और लकड़ी की समस्या

बाग-जंगल

बाकी रहती है। हमें प्रति गाँव ५६८ मन फल की आवश्यकता है। वैसे तो बहुत किस्म के फल इस प्रान्त में हो सकते हैं, लेकिन आमतौर से निम्नलिखित फलों से हमारा काम चल सकेगा :

आम, कटहल, पपीता, गूलर, खिरनी, फालसा, खजूर, जामुन, लीची, बेल, आँवला, बेर, नाशपाती, अमरूद, केला, महुआ, नीबू, अनार, आड़ू इत्यादि।

इनमें पपीता, केला, बेल आदि लोग अपने घर के साथ लगा सकते हैं। बाकी के लिए बाग की आवश्यकता है। मैं समझता हूँ कि आज जितने बाग हैं, उन्हें ठीक करके और घरों के साथ थोड़े पेड़ लगाकर फल की समस्या हल हो सकेगी। इसके लिए अलग बहुती जमीन की आवश्यकता नहीं है। फिर भी दो एकड़ प्रति ग्राम फल के लिए और अलग करना ठीक होगा।

पिछले पत्र में भोजन-सामग्री की तालिका देखने से मालूम होगा कि खाना बनाने के लिए करीब १ ८ मन लकड़ी की आवश्यकता प्रति ग्राम हर साल होगी। इसके अलावा मकान बनाने के लिए तथा घरेलू असबाब और उद्योग के औजार के लिए लकड़ी भी चाहिए। आज प्रान्त के कुल क्षेत्रफल ५.८% जमीन पर जंगल मौजूद हैं। इस हिसाब से कुल जंगल का क्षेत्रफल ११११ वर्गमील १६,४११८ एकड़ होगा। काम की लकड़ी के अलावा ईंधन के लिए एक एकड़ से प्रति वर्ष ५ मन लकड़ी तो अवश्य मिल जायगी। इस प्रकार जंगलों से लगभग १ करोड़ मन ईंधन मिल सकेगा। जंगल से दूर के देहातों के लिए तो स्थानीय व्यवस्था लकड़ी के लिए करनी होगी। अब देखना है, देहातों में प्रति ग्राम ऐसी कितनी जमीन है, जिस पर जंगल लगाया जा सकेगा। पिछले पत्र में मैंने जो जमीन का हिसाब भेजा था, उसमें देखोगी कि खेती के अलावा प्रति ग्राम निम्नलिखित जमीन काम में आ सकती है।

१ आसानी से खेती हो सके, ऐसी जमीन २२३ एकड़
२ खेती लायक परती ६४ ,,
३ खेती लायक ऊसर ४६८ ,,

गाँव में जो १ ५ मन लकड़ी की आवश्यकता होगी, उसमें १ ५ मन बाग और खेती के जरिये मिल जायगी। बाकी के लिए बबूल पलाश आदि के जंगल लगाने होंगे। मैं बबूल लगाने का विशेष पक्षपाती हूँ। हमारे देहातों में चमड़ा पकाने के उद्योग का खेती के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः गाँव-गाँव इस उद्योग के प्रसार की विशेष सम्भावना है। बबूल की छाल चमड़ा पकाने का एक मुख्य साधन है। फिर बबूल बहुत से ऊसरों में भी हो जाता है। जहाँ बबूल न हो सके, वहाँ पलाश का पेड़ ईंधन का अच्छा काम देता है। मैंने देखा है बबूल के पेड़ जो लगाते हैं, वे एक एकड़ में करीब २ पेड़ लगाते हैं। दस साल में काटकर दूसरे पेड़ लगाने पड़ते हैं। किसान तीन साल में एक बार उनकी डालियाँ काट देते हैं। इस प्रकार डालियों से प्रति पेड़ १५ मन लकड़ी १ साल में मिल जाती है। फिर दस साल बाद पेड़ काटने पर छाल के अलावा ७-८ मन लकड़ी प्रति पेड़ से मिल जाती है। इस तरह दस साल में १ मन लकड़ी प्रति पेड़ से मिल जाती है। पलाश का भी पड़ता करीब उतना ही पड़ता है, केवल उसमें छाल की कीमत नहीं मिलती है। इस हिसाब से २ मन लकड़ी के लिए हमें एक एकड़ का जंगल लगाना होगा। इस हिसाब से २५ एकड़ भूमि पर जंगल लगाने की आवश्यकता होगी।

अब तक मैंने गाँववालों की भोजन सम्बन्धी सामान की आवश्यकता और उसे पाने का मार्ग बताने की चेष्टा की है। लेकिन केवल भोजन से ही हमारी जरूरतें पूरी नहीं होतीं। मनुष्य-मात्र की दूसरी आवश्यकताएँ भी तो होती हैं। हमने खाने के लिए जो हिसाब बताया है दूसरी चीजें भी उसी अनुपात से जरूरी हैं। अन्न के बाद वस्त्र और आश्रम पर विचार करना आवश्यक

वस्त्र का प्रश्न

है। आज भारत में प्रति मनुष्य को ११ गज औसत कपड़ा मिलते हैं। शहर को घटाकर १० गज से अधिक गाँव के प्रति मनुष्य को नहीं मिलता। इसके स्थान पर मैं चाहता हूँ कि लोगों को निम्नलिखित हिसाब से कपड़ा मिले :

प्रति बालिग	१२	गज	वार्षिक
प्रति लड़का	२	गज	वार्षिक
प्रति लड़की	२२	गज	वार्षिक
प्रति बच्चा	४	गज	वार्षिक

बच्चों के लिए मैंने ४ गज की आवश्यकता बतायी है। कारण यह है कि खादी की धोती-साड़ियाँ फट जाने पर भी उनके हिस्से बच्चों के कपड़ों में काम आते हैं। मैंने ऐसे परिवार देखे हैं, जो बच्चों के करीब सब कपड़े बड़ों के फटे कपड़े से ही बना लेते हैं। केवल खास शौकीनी कपड़े नये खरीदते हैं। मेरा अन्दाज यह है कि पुराने कपड़ों के साथ ४ गज नये कपड़े से बच्चों का काम अच्छी तरह चल जायगा। इस हिसाब से गाँव-भर के लिए निम्नलिखित परिमाण में कपड़े की आवश्यकता होगी :

२८२	बालिगों के लिए	६ २४	गज
६२	लड़कों के लिए	१२४	,,
६	लड़कियों के लिए	११५	,,
६६	बच्चों के लिए	२६४	,,
		११८७८	गज

गाँव और घर का रूप

गाँव में मकान कैसे होते हैं, यह तुमसे छिपा नहीं है। वस्तुतः गृहस्थी के काम को देखते हुए मेरे खयाल से प्रति मनुष्य को २ वर्गफुट जगह तो चाहिए ही। हमारे देहातों में औसत प्रति परिवार ५ आदमी का होता है। उनके लिए १ वर्ग फुट जमीन चाहिए यानी देहाती भाषा में एक परिवार को २ हाथ चौड़े ५ हाथ लम्बे मकान की आवश्यकता होगी।

ऐसे मकान लगभग १२५) में बनते हैं।* सवाल यह है कि क्या हमें कुल मकान तोड़कर नये बनाने हैं या जो मकान नये बनें, उन्हें अपने ढंग से बनवाना होगा। वस्तुतः कुल मकान तोड़कर बनाने की कोशिश करना बिल्कुल असम्भव ही है। न हमारे पास इतने साधन हैं और न हम इस मसले में इतने ज्यादा फँसकर दूसरे जरूरी कामों में ढिलाई आने देना चाहते हैं। फिर भी कुछ मकान ऐसे हैं, जिन्हें नये सिरे से बनवाना ही पड़ेगा। मेरे खयाल से हमें प्रति ग्राम कम-से-कम ३ घर नये बनवाने होंगे। नये घर बनवाने के साथ-साथ पुराने घरों तथा गाँव के रूप का भी सुधार होना चाहिए। मिट्टी लेने के लिए ग्राम-पंचायत की ओर से गाँव के पास निश्चित स्थान निर्दिष्ट कर देना होगा। लोग मिट्टी उसी स्थान से लें जिससे वह स्थान तालाब का रूप ले सके। एक अलग योजना बनाकर धीरे धीरे गाँव के अन्दर के गड्ढों को पाटते जाना चाहिए। पाटने के लिए नियम बना देना चाहिए कि जब कोई भी मकान-मरम्मत करें या गिराकर दूसरा बनायें तो उनके मलबे को गड्ढा में ही डालें न कि आजकल की रीति के अनुसार जहाँ पर इसे वहीं ही फैला दें।

दूसरी बात यह है कि हमारे मकानों का नक्शा इस ढंग से बनाना होगा जिससे वे हमारी योजनानुसार व्यवस्था के अनुरूप हों। पानी के स्वास्थ्यकर इन्तजाम हो, नहाने और बरतन माँजने आदि पानी के काम के लिए उचित प्रबन्ध हो, खिड़की के पास थोड़ी जमीन हो, जहाँ स्त्रियाँ स्वच्छन्द बैठ सकें, भाजी तरकारी, बैंगन, पपीता आदि के पेड़ लगा सकें, दरवाजे के सामने थोड़ी जमीन उठने-बैठने के लिए हो; एक नीम का पेड़ लगा सकें और चौंतरा चबूतरा बन सके। गाँव के किसी केन्द्रीय स्थान पर पाठशाला, बाजार तथा पंचायत-घर का प्रबन्ध हो। इसके साथ ही कुछ जमीन होनी चाहिए। पशुओं को घर से अलग रखने की बात मैंने पहले लिखा था। अच्छा हो सहयोग के आधार पर एक तरफ सम्मिलित मवेशीखाना हो, नहीं तो घर से अलग पशुओं

* आज ऐसा मकान बनवाने में १   ) रुपए लगेंगे।

के रहने का स्थान हो, जिससे घर की वायु दूषित न होने पावे। ग्राम-उद्योग के प्रचार के साथ-साथ सभी गाँवों में काफी उद्योग का काम चलेगा। उद्योगशाला के लिए भी निश्चित स्थान होना चाहिए। जब सब बड़े बच्चों को पाठशाला में भेजेंगे और स्त्रियों के लिए पूरे समय का काम निर्धारित कर देंगे, तो बच्चों के लिए शिशु-विहार बनाना आवश्यक होगा। इसके लिए गाँव में कोई केन्द्रीय स्थान होना चाहिए जो सभी घरों से समान दूरी पर हो। इसी प्रकार अनाज के खलिहान तथा खाद के घूरों का स्थान भी निश्चित होना चाहिए। इन कामों के लिए प्रति ग्राम लगभग २४ एकड़ जमीन की आवश्यकता होगी।

अन्य आवश्यकताएं

अन्न, वस्त्र और आश्रय के अलावा समाज-जीवन में और बहुत-सी आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। उन सबका ध्यान रखते हुए मैंने गाँव भर के लोगों का कुल खर्च २११६१।-) जोड़ा है, उसमें भोजन-खर्च २५८१५-) जोड़ने से कुल खर्च ४६६६६।।) होगा यानी नयी योजना के अनुसार प्रति परिवार का खर्च ५) वार्षिक होगा।* किसानों के खेती सम्बन्धी दूसरे उद्योग में काम करनेवालों का व्यापार खर्च तथा लगान कर आदि इनके अलावा होगा।

किसान की आमदनी-खर्च

खेती, दूध-घी तथा घरों में जो फल की उत्पत्ति होगी उन सबसे कुल मिलाकर ११११६) किसानों को सालभर में मिलेगा। इसके अलावा चरखा, अनाज कुटाई, मरे हुए जानवरों की कीमत तथा लड़कों की मजदूरी आदि से भी ५४२५) आमदनी होगी। इस प्रकार से किसानों के प्रति परिवार की आमदनी १११६) होगी। इसमें से उनकी खेती सम्बन्धी हल, रहँट तथा खेती के औजार, बैल भैंसा गाय भैंस लगान और कर, मकान-मुरम्मत आदि, खाद सफर बैलगाड़ी रिवर्स परिद नौकर-नौकरानी, नाई,

* आज के सामान के दर और मापदों को देखते हुए कम-से-कम १) चाहिए।

धोबी आदि का खर्च १०) घटा देने से प्रति किसान परिवार की आमदनी ५११) रहेगी। उसका घर-खर्च कुल ५) वार्षिक होगा। इसमें से सूखा, बाढ़ आदि दुर्घटनाओं के लिए ६) और सुरक्षित करने पर भी ५) बचता है। यह रकम पूँजी-खर्च के काम आयेगी।*

आबादी का बँटवारा

हर गाँव में ६४ परिवार की बस्ती होती है। हमने अब तक ५५ परिवारों के लिए अपनी कल्पना के अनुसार समाज में सुख-शांति से गुज़र करने की व्यवस्था किस प्रकार से हो सकती है, उसकी रूपरेखा बनाने की चेष्टा की। तुम पूछोगी, बाकी ११ परिवारों का क्या होगा? हाँ बाकी लोगों को भी ऐसा काम मिलना चाहिए, जिससे वे भी किसानों के समान स्थिति में रह सकें। खेती के अलावा निम्नलिखित विभागों के काम और हैं :

१ उद्योग
२ यातायात
३ जंगल
४ बागबानी
५ सड़क मरम्मत
६ व्यापार
७ घरेलू सेवा
८ वैद्य, डॉक्टर, हकीम,
९ अध्यापक
१० सरकारी नौकर, फ़ौज तथा अन्य पेशा
११ विविध फुटकर काम

अब प्रश्न यह उठता है कि ११ परिवारों को इन कामों में किस तरह बाँटने पर सबको सन्तोषजनक काम मिल सकेगा। इस प्रश्न पर फिर किसी दिन विचार करूँगा।

● ● ●

---

* यह आँकड़े जिला सुलतानपुर के गाँव के अनुभव से बनाये हैं

२१-१-४४

पिछले पत्र में किसान-परिवारों के अलावा बाकी लोक-संख्या को किस तरह काम में लगाया जाय इस प्रश्न पर प्रकाश डालने का वादा किया था। विभिन्न कार्यक्रमों के नाम भी भेजे थे। इस पत्र में उन कार्यक्रमों पर थोड़ा-थोड़ा करके अपना विचार प्रकट करने की चेष्टा करूँगा।

संसार में जितने प्रकार के उद्यम हैं, उन्हें प्रधानतः दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : (१) उत्पत्ति और (२) सेवा। खेती, बागवानी, जंगल-उद्योग आदि काम प्रथम श्रेणी के और यातायात, व्यापार, घरेलू सेवा, वैद्य डॉक्टर, हकीम, अध्यापक सरकारी नौकर, फौज तथा अन्य पेशे सभी जन सेवा श्रेणी के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। खेती और उद्योग दोनों एक ही श्रेणी की चीजें हैं। अतः खेती के बाद उद्योग पर ही विचार करना ठीक होगा। सबसे पहले हमें उन उद्योगों पर विचार करना चाहिए, जो खेती से विशेष सम्बन्धित हैं या जो जीवन-सामग्री के काम के हों। तेलघानी, चीनी बनाने आदि का काम ऐसा काम है।

खेती की पैदावार की ओर देखने से मालूम होगा कि हमारे प्रान्त के प्रति ग्राम के तेलहन की उत्पत्ति (बीज काटकर) वार्षिक ५६१८ मन है।

तेलघानी

रोशनी के लिए नीम आदि के ८५.८ सेर की आवश्यकता होगी यानी करीब २५.८ नीम के बीज की पेराई करनी है। इसके अलावा साबुन के लिए भी तेल चाहिए। ठीक तरह से सफाई रखने के लिए प्रति परिवार को मासिक ९ सेर साबुन तो लग ही जायगा। इस तरह गाँव के खर्च के लिए हमें वार्षिक ५१– साबुन चाहिए। शहर के लिए २ सैकड़ा अधिक उत्पत्ति करनी है यानी प्रति

उद्योग	सं० परिवार	उद्योग	सं० परिवार
सरेस, ताँत, खुरा आदि	·५	दियासलाई बनाना	·४
लोहारी	१·५	पेशनाइ बनाना	·२
बढ़ईगिरी	१·५	शीशा चूड़ी आदि	·५
भेड़ पालना कम्बल बनाना	१	ठठेरी	२
कुम्हारी	·५	सोनारी	१
पेंसिल बनाना	५	तमोली	५
बाँस बनाना	५	बारी	२
संगतराशी	२	राजमिस्त्री	५
माली दवा, जड़ी-बूटी	·५	अन्य उद्योग	१
		साबुन बनाना	·५
			१६·०८५

इसके उपरान्त बागवानी तथा जंगल में २·५ + १·५ = ४ परिवार लगेंगे। इस हिसाब से उत्पत्ति के काम में कुल ८·७६५ परिवार लग जायेंगे।

हमारी योजना के अनुसार जब लोगों की आर्थिक दशा सुधरेगी, तो जन-सेवा श्रेणी का काम भी बढ़ेगा। अपनी आवश्यकताओं को देखते हुए मैंने इन बातों को निम्नलिखित रूप से आँकने का सोचा है।

काम	प्रान्त की आबादी का मौजूदा अनुपात प्रतिशत (१९११)	मेरे प्रस्तावित परिवार (केवल गाँव के)	
यातायात	·८	१·५	परिवार
ग्राम सेवा (नौकर चाकर ५, धोबी १ नाऊ १)	२	७	"
व्यापार	४·७	१०	"

वैद्य हकीम डॉक्टर	१५	२ परिवार	
अध्यापक, सरकारी		२५	,,
नौकरी, फौज तथा अन्य पेशा		२	,,
विविध	२५	१	,,
	जोड़	११२५	,,

ऊपर बताये हिसाब के अनुसार गाँव की कुल आबादी का काम निश्चित हो जाता है। तुम कहोगी कि गाँव की कुल आबादी इस प्रकार के कामों में फँस जाती है, तो बड़े उद्योग जिनका केन्द्रीय व्यवस्था से ही चलना सम्भव है, किस तरह चलेंगे? उनके लिए आदमी कहाँ से आयेंगे? तुम्हारी ऐसी शंका स्वाभाविक है। लेकिन बुनियादी आवश्यकता की सभी सामग्री की ग्राम-उद्योग द्वारा उत्पत्ति होने पर ग्राम की शहरी आबादी सब खाली हो जायगी। उनकी तादाद इतनी काफी होगी कि बड़े उद्योगों की जरूरतें पूरी हो जायेंगी अतः इसकी तुम्हें विशेष चिन्ता नहीं है।

मशीन बनाम हाथ का उद्योग

अभी यहाँ कुछ जेल के साथी बैठे थे। वे मेरी कल्पना को देखकर हँसते थे। उनका कहना था कि "आज के वैज्ञानिक और मशीन-युग में आप यह क्या प्रस्ताव करने जा रहे हैं? क्या आप मनुष्य-समाज को फिर २   वर्ष पीछे ले जाना चाहते हैं?" मैं मानव-समाज को २   वर्ष पीछे नहीं ले जा रहा हूँ। मैं केवल उसे उस दलदल से निकालना चाहता हूँ, जिसमें वह फँस गया है। मशीनों के उद्योगों के कारण समाज जिस बेकारी और गुलामी में फँस गया है, उससे निकलने का एकमात्र उपाय ग्राम उद्योग ही है, यह मैंने पहले एक पत्र में लिखा था। अगर स्वावलम्बन के बुनियादी उसूलों को छोड़ भी दें, तो भी परिस्थिति का तकाजा यही है कि हम ग्राम उद्योग से ही अपनी उत्पत्ति करें। आजकल वास्तविक स्थिति के वैज्ञानिक विचार की बात बहुत सुनी जाती है।

देखना यह है कि भारत की आबादी की वास्तविक स्थिति क्या है और उस स्थिति पर वैज्ञानिक विचार हमें कहाँ ले जाता है। मैंने पहले कहा है कि भारत की आबादी भूमि तथा ऐतिहासिक परम्परा दूसरे देशों से भिन्न है। हम कोई योजना बनायेंगे, तो उसे अपनी आबादी की स्थिति की दृष्टि से ही बनाना होगा। अगर हम उद्योगों को मशीनों से ही चलाना चाहें, तो अपनी उत्पत्ति के लिए कितने आदमी चाहिए, उसका हिसाब कोई बतला सकता है? भारत में लगभग ⁻८ करोड़ एकड़ में खेती होती है। मौजूदा आबादी को नया खेत प्राप्य नहीं; यह मैंने पहले ही बताया है। जो कुछ जगह है भी, उस पर जंगल, घास और नयी बढ़ती आबादी के लिए भोजन का काम मुश्किल से ही पूरा होगा। *अतः वर्तमान स्थिति में ७ करोड़ सक्षम आदमी खेती के लिए आवश्यक* हैं। सन् १६४१ की मर्दुमशुमारी के अनुसार अविभक्त भारत में ४ करोड़ व्यक्ति हैं। उम्र के अनुपात से हिसाब लगाने पर मालूम होता है कि यहाँ कुल २१ करोड़ सक्षम स्त्री-पुरुष हैं। ७ करोड़ खेती में काम करनेवालों को काटकर १४ करोड़ को उद्योग में काम देना होगा। अगर मशीन से उत्पत्ति के काम में इतने लोगों को लगाना चाहेंगी, तो जो माल पैदा होगा, उसकी खपत कहाँ होगी?

फिर इतने आदमी लगाने के लिए पूँजी कितनी चाहिए, इसका हिसाब भी करना कठिन है। मशीन-योजनावाले जितनी उत्पत्ति करना चाहते हैं उसके लिए भी तो विदेश पर भरोसा करना होगा। अगर सब कारणों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी पूँजी की स्थिति देखते हुए हमें ग्राम-*उद्योग के आधार पर ही आवश्यक सामान बनाकर केवल उतने* उद्योगों को केन्द्रीय मशीन के लिए छोड़ देना चाहिए, जो ग्राम-उद्योगों के जरिये हो नहीं सकते। ग्राम उद्योग और केन्द्रीय उद्योग की पूँजी की आवश्यकता में कितना अन्तर है मालूम है? एक कपड़े के उद्योग का ही हिसाब लगाने पर यह बात साफ हो जायगी। देखो—

भारत में लगभग ४ मिलें हैं, जिनमें १ करोड़ तकुए और २

कपड़े की मिल का हिसाब

लाख रुपये हैं। इसमें कुल पाँच लाख आदमी काम करते हैं और स्थायी पूँजी १ करोड़ रुपये की है।

बम्बई-योजनानुसार भारत में वार्षिक १ गज प्रति व्यक्ति के हिसाब से लगभग १२ करोड़ वर्गगज कपड़े की आवश्यकता है। अतः कुल उत्पत्ति के लिए हमें १ लाख और आदमी तथा २ करोड़ और स्थायी पूँजी लगानी पड़ेगी।

कताई का हिसाब

१२ करोड़ वर्गगज कपड़े के लिए १२ × १४ करोड़ गज सूत की जरूरत होगी। १ आदमी एक दिन में १४ गज कातने पर कुल उत्पत्ति के लिए ४ करोड़ आदमियों की आवश्यकता होगी। स्थायी पूँजी निम्नलिखित हिसाब से लगेगी।

कताई	४ करोड़ चरखा सामान	८ करोड़ रुपया
बुनाई	१ लाख करघा	१२ करोड़ रुपया
		कुल २ करोड़ रुपया०

वस्तुतः मशीन और ग्राम उद्योग की आवश्यक पूँजी में इतना अन्तर है कि अगर ग्राम-उद्योग की मार्फत उत्पत्ति न करें, तो चीन का जो डर मैंने पहले बताया है, वही डर हमें भी है। हमें भी पूँजीवादी देशों के आर्थिक साम्राज्य के अन्तर्गत हो जाना पड़ेगा। बम्बई योजना के निर्माताओं ने सम्भवतः आबादी और पूँजी की समस्या देखकर ही कहा है कि उन्हें ग्राम उद्योग से भी कुछ उत्पत्ति करनी है। लेकिन वे यह नहीं बता सके हैं कि कौन-कौन उद्योग बड़े उद्योग के आधार पर चलें और कौन-कौन मशीन उद्योग से। पता नहीं, वे इस बात पर भी स्पष्ट विचार रखते हैं या नहीं कि जिस उद्योग को ग्राम उद्योग के आधार पर संगठित करना होगा, उसके लिए मशीन की उत्पत्ति

* ब्याज के हिसाब से छोड़ दी।

बन्द की जाय या दोनों को साथ-साथ चलाया जाय। अगर साथ चलाये गये, तो दोनों में खींचातानी होकर दोनों को हानि पहुँचेगी। अतः उनके अनुसार भी ग्राम-उद्योग का क्षेत्र अलग ही करना होगा। केवल बेकारी तथा पूँजी की बात थोड़े ही है। हमें तो उत्पत्ति की क्रियाओं को ऐसा बना रखना है जिससे जनता में मनुष्यता का विकास हो, उसकी समाप्ति न हो। तुमने फैक्टरी के मुहल्लों के लोगों को देखा होगा। उनसे बात करने से मालूम होता है, वे भी मशीन के पुर्जे-से हो गये हैं। हम तो भावनाप्रधान देश के वासी हैं लेकिन वैज्ञानिक यूरोप के लोग भी महसूस करते रहे हैं कि मशीनों के साथ आदमी भी मशीन हो जाता है। कार्ल मार्क्स ने मशीन की उत्पत्ति और दस्तकारी की तुलना करते हुए अपने ग्रन्थ 'कैपिटल' के प्रथम भाग में कहा है—

In handicrafts and manufacture the workman makes use of a tool in the factory the machine makes use of him. There the movements of the instrument of labour proceed from him, here it is the movements of the machine that he must follow In manufacture the workmen are parts of a living machanism. In the factory we have a lifeless mechanism independent of the workman, who becomes its mere living appendage. The miserable routine of endless drudgery and toil in which the same mechanical process is gone through over and over again, is like the labour of Sisyphus. The burden of labour like the rock, keeps ever falling back on the worn-out labourer At the same time that factory work exhausts the nervous system to the uttermost, it does away with the many-sided play of the muscles, and confiscates every atom of freedom both in bodily and intellectual activity The lightening of the labour even becomes a sort of torture since the machine does not free the labourer from work, but deprives the work of all interest. (P ge 4--4 3)

—"श्रमिक निर्माण और दस्तकारी में औजार का उपयोग करता है, कारखाने में वह मशीन की सेवा में लगता है। पहले में श्रम के साधनों की गति का स्रोत श्रमिक है, पर दूसरे में श्रमिक की गति मशीन के अधीन होती है। गृह-उद्योग में श्रमिक एक चेतन यन्त्र-रचना के अंग होते हैं कारखाने में उनसे स्वतन्त्र एक निर्जीव यान्त्रिकता होती है और जीवित पुरुषों को तरह से उस यान्त्रिकता से बंधे होते हैं। लगातार श्रम और मशक्कत का रूखा कार्यक्रम, जिसमें एक ही यान्त्रिक परिपाटी सिसिफ़ुस की भाँति बार-बार दोहरानी पड़ती है, जो नीचे से धकेलकर चट्टान का बार-बार ऊपर पहाड़ की ओर ले जाता था और वह उसको धकेलता हुआ नीचे आ जाता था,—उसकी मशक्कत उस चट्टान की भाँति उसके ही थके अंगों पर गिरती है। मशीन पर श्रम के करने का श्रमिक के नाड़ी-संस्थान पर तो बहुत बुरा प्रभाव पड़ता ही है, साथ ही वह पुट्ठों व स्नायुओं की क्रिया में भी बाधा डालता है और स्वतन्त्र शारीरिक तथा मानसिक कर्तृत्व को नष्ट कर देता है। मशक्कत को हल्का करना भी उत्पीड़न का साधन बन जाता है क्योंकि मशीन श्रमिक को उसके काम से छुट्टी नहीं देती, बल्कि काम में से उसकी दिलचस्पी दूर कर देती है।

स्पष्ट है कि जनता के मनुष्यत्व को स्थायी रखने और उसका विकास करने के लिए भी उत्पत्ति के क्रम में ग्राम-उद्योग का प्राधान्य होना आवश्यक है।

ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जायगा कि भारत की आर्थिक व्यवस्था के लिए आज कोई भी योजना बने, उसमें प्रधानता खेती और ग्राम-उद्योग की ही होगी।

ग्राम-उद्योगों के संघटन के सिलसिले में एक प्रश्न उठता है। हमारे उद्योगों के लिए कानपुर, अहमदाबाद, जमशेदपुर आदि अलग अलग और बड़ी-बड़ी बस्तियाँ बसायी जाय या उद्योगों को गाँव-गाँव फैलाकर संघटित किया जाय। अलग-अलग बस्ती बसाकर काम चल सकता है।

केन्द्रित बनाम विकेन्द्रित उद्योग

शायद एक-दूसरे के अनुभव से कारीगर अधिक कुशलता भी हासिल कर सकते हैं। लेकिन ऐसा करने से फिर हमें मध्यस्थ संस्थाओं की मदद करना होगा और केन्द्रीय व्यवस्था के अधीन होना पड़ेगा। यह ठीक है कि अभी मैंने आबादी और पूँजी का हिसाब करके यह बताने की चेष्टा की कि अगर हम आम मशीनों द्वारा उत्पत्ति की योजना बनायें तो एक तरफ बेकारी की समस्या जटिल होगी और दूसरी तरफ पूँजी के लिए अन्य देशों के चंगुल में फँस जाना पड़ेगा। मैं ऊपर के हिसाब से यह बताना चाहता था कि अगर थोड़ी देर के लिए स्वावलम्बन तथा जनसाधारण की स्वतन्त्रता के प्रश्न को छोड़ दें तो भी मशीनों द्वारा उत्पत्ति की योजना इस देश में व्यावहारिक नहीं होगी। लेकिन ग्राम-उद्योग द्वारा उत्पत्ति का मेरा दृष्टिकोण तो दूसरा ही है। मैं तो स्वावलम्बन के सिद्धान्त पर ही अपनी योजना बना रहा हूँ। अतः हमारा संगठन इस ढंग का होना चाहिए, जिससे जहाँ तक सम्भव हो, उत्पादक और ग्राहक का प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहे। तभी बुनियादी स्वावलम्बन की स्थापना हो सकती है।

हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि इन तमाम उद्योगों के संचालन के लिए संगठन कैसा हो। खेती में जिस प्रकार सहयोग के आधार पर सम्मिलित खेती का प्रबन्ध करने का प्रस्ताव है, उसी तरह उद्योगों के लिए भिन्न-भिन्न सहयोग-समितियाँ बनानी पड़ेंगी। प्रारम्भतः इन समितियों की देखभाल, उनके लिए कच्चे माल आदि की व्यवस्था, बाजार की व्यवस्था आदि बहुत से काम सरकारी महकमों को करने होंगे। फिर क्रमशः ये समितियाँ स्वावलम्बी होती जायेंगी।

अब देखना यह है कि उत्पत्ति की प्रक्रिया को उत्पादक व्यक्तिगत और स्वतन्त्र रूप से चलाये या समिति द्वारा उसका संचालन हो। विकेन्द्रीकरण का पूर्ण आदर्श तो अन्तिम व्यक्ति-स्वातंत्र्य है। अतः ग्राम-उद्योग का काम प्रधानतः व्यक्तिगत रूप से ही चलना चाहिए। केवल उन्हीं उद्योगों को समिति के संचालन में चलाना है, जिन्हें कोई कुटुम्ब अकेला न चला सके। किसी के लिए जहाँ तक उत्पादक और ग्राहक का

प्रत्यक्ष लेन-देन हो सके, वहाँ तक वे व्यक्तिगत रूप से अपना सम्बन्ध कायम रखें। लेकिन जहाँ बाहर भेजने की बात हो, वहाँ व्यापारियों के बजाय उत्पादकों की समितियों की मार्फत ही लेन-देन करना होगा।

ग्राम-उद्योग के संघटन का सिद्धान्त निश्चित करने के बाद राष्ट्रीय सरकार को प्रान्तभर के मौजूदा ग्राम-उद्योगों के बारे में पूर्ण रूप से जाँच करनी होगी। उसे देखना होगा कि (१) कौन कौन उद्योग ऐसे हैं, जो कुछ ठीक हालत पर अभी भी चल रहे हैं, (२) कौन-कौन उद्योग मृतप्राय हालत में हैं (३) कौन-कौन उद्योग बिल्कुल मृत हैं और (४) कौन-कौन उद्योगों को नये सिरे से चलाना है, जो पहले कभी मालवा में थे ही नहीं। योजना का ब्योरा बनाते समय उद्योग की हालत तथा महत्त्व दोनों पर ध्यान रखना होगा।

उद्योगों का सिलसिला

उद्योगों की हालत की जाँच के साथ-साथ कच्चे माल की प्राप्ति के जरियों की जाँच करनी होगी। अब तक हमें यह मालूम नहीं कि प्रान्त के जंगलों से क्या-क्या कच्चा माल किस परिमाण में मिल सकता है। इनकी पूरी तालिका बननी चाहिए। जितने उद्योगों का संघटन करना है उनके लिए कौन-कौन कच्चा माल कितने परिमाण में चाहिए, उसकी तालिका अलग से बननी चाहिए। फिर उनको प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से अलग योजना बनानी होगी। इस प्रकार के उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने की व्यवस्था शुरू-शुरू में सरकार को ही करनी होगी।

उद्योगों के लिए कच्चा माल प्राप्त करने का एक प्रधान जरिया जंगल है। अतः भविष्य में जंगलों की व्यवस्था के लिए स्वतन्त्र योग्य विभाग होना चाहिए। आज प्रान्त में जो जंगल-विभाग है उसका काम देखने से मालूम होता है कि कोई ठेकेदार काम कर रहा है। उसका मुख्य काम है लकड़ी काट-काटकर बेचना और जितनी जगह खाली होती जाय उतनी में और पेड़ लगा

जंगल की व्यवस्था

१

देना। जंगल-विभाग को लकड़ी की व्यवस्था इस प्रकार करनी होगी जिससे बड़ी माँग के होते हुए भी जंगल पर का बोझ इतना न हो, जिससे क्रम-क्रम में जंगल ही समाप्त हो जायँ।

जंगली इलाकों की जो हालत आज है, उस पर गाय भैंस चरा ही सकती हैं, पर नहीं सकती हैं। आज उस पर घास की खेती नहीं की जाती। हमारी योजना में चरने की जितनी जमीन है, उस पर संयोजित ढंग से घास पैदा करने की व्यवस्था करनी होगी। इस प्रकार जंगल विभाग के जिम्मे तीन मुख्य कार्य होंगे : (१) उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करना, (२) लकड़ियों की वैज्ञानिक ढंग से व्यवस्था करना और (३) चरागाह का प्रबन्ध करना।

संक्षेप में मैंने उत्पत्ति-सम्बन्धी जितने कार्यक्रम चलाने होंगे, उनका ब्योरा और किस तरह उनकी व्यवस्था की जायगी, उसका कुछ संकेत इस पत्र में लिख भेजा। इतने से भविष्य में हमको जो योजना बनानी होगी, उसका एक कामचलाऊ आधार बन जाता है। अब जन-सेवा-सम्बन्धी कार्यक्रम बाकी रह गया। उनकी बाबत २४ दिन में लिखूँगा।

सब भाई-बहनों को मेरा सादर नमस्कार।

• • •

जन-सेवा का कार्यक्रम ७१

७-७-'४४

हाँ, उस दिन जन-सेवा-सम्बन्धी कार्यक्रमों की बाबत अपना विचार प्रकट करने को कहा था। ग्राम-सुधार के लिए यह कार्यक्रम निम्नलिखित विभागों में बाँटा जा सकता है :

(१) सफ़ाई और स्वास्थ्य (२) शिक्षा और संस्कृति, (३) खाद्य माल, (४) आर्थिक लेन-देन बैंक आदि और (५) संगठन तथा शासन।

अब अच्छा यह होगा कि हम एक-एक विषय पर अलग-अलग विचार करें।

सफ़ाई और स्वास्थ्य

आजकल विदेशी समालोचकों से सुर मिलाकर अपने यहाँ के शिक्षित लोगों का यह नारा हो गया है कि हमारे यहाँ के लोगों को पड़ोसी धर्म ('सोशल सेंस') नहीं है, वे केवल चौका साफ़ रखना जानते हैं। इसलिए गाँवभर में गन्दगी फैली रहती है। लेकिन क्या यह बात सही है? क्या भारत की सभ्यता में पड़ोसी धर्म का स्थान नहीं है? क्या यह गुण मानव-समाज को यूरोप ने ही दिया है? मेरे खयाल से ऐसी बात नहीं है। भारत सफ़ाई तथा स्वच्छता का जितना पुजारी रहा है उतना सम्भवतः आज तक संसार में कोई देश नहीं रहा है। आन्तरिक तथा बाहरी स्वच्छता ही भारत का प्रधान समाज-धर्म रहा है। केवल गाँव के अन्दर ही नहीं बल्कि जिससे गाँव के चारों ओर की वायु शुद्ध रहे उसकी फ़िक्र पंचायत को रखनी पड़ती थी। मुर्दे न गाड़कर जलाकर भस्म करने की स्वास्थ्यकर प्रथा केवल इस भारत में ही है। मृत पशुओं को दूर फेंकना पंचायती नियमों में ही शामिल था। केवल इतना ही नहीं, भारत की सामाजिक प्रथा ने

टट्टी, पेशाब, थूकना, खाँसना, छींकना, मुँह खोलकर जम्हाई लेना आदि प्रत्येक अस्वास्थ्यकर क्रिया के लिए स्थान, समय तथा रीति निर्धारित कर रखी थी और हरएक भारतवासी ने इन बातों को संस्कार भूत बना लिया था। सफाई, स्वास्थ्य आदि के नियम उल्लंघन करने के लिए पंचायत ने दंड भी स्थिर कर रखा था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में नाबदान के नियमों को बयान करते हुए कहा गया है कि "प्रत्येक गृहस्थ को पड़ोसी की जमीन से कम-से-कम १ पदों की दूरी पर ऐसा नाबदान (नाली) बनाना होगा जिससे पानी सीधे नाली की ढाल से जोरों से बहता हुआ जाय या हमेशा नीचे गिरता रहे। इसका व्यतिक्रम होने पर ५४ पण का जुर्माना देना होगा।" इसी किस्म के बहुत से नियम बने थे। होली पर होलिका जलाना दीपावली की सफाई तथा सजावट सब है क्या चीज ? सामाजिक सफाई ही न ? धूप और हवाओं की रक्षा के लिए गाँव के दक्षिण और पश्चिम दिशा में बाग लगाने आदि किसी ऐसे काम की मनाही है, जिससे धूप रुक जाय। मनाही का नियम आज भी लोग बिना दंड-भय के पालन करते रहते हैं। हाँ, यूरोप के लोग पड़ोसी धर्म का पालन करते हैं दंड के डर से और हमारे यहाँ संस्कृति और धर्म में ये बातें शुमार करके इन्हें सहज बनाया गया था। अतः यह कहना कि भारत की संस्कृति में पड़ोसी धर्म का कोई स्थान ही नहीं है दूषित विदेशी प्रचार के साथ बह जाना ही है। आचार, विचार, रीति और नीति है क्या चीज ? समाज-धर्म का उग्र रूप ही न ?

कारण जो हो हमारे ग्रामों की ग्राम की दशा तो दयनीय है ही। घरों में नमी धुआँ आदि का हाल तो गाँव-गाँव में देखने को मिलता है। मवेशियों को घर के अन्दर रखने की कुप्रथा की बाबत मैंने लिखा ही है। गाँव में गड्ढों की अधिकता उसीमें तमाम गन्दगी का एकत्र होना और वही पानी काम में लाने की कहानी भी तुम्हें मालूम है। मच्छड़-मक्खियों ने मानो अपना ही राज्य-सा बना लिया है। हमारे गाँव

की गन्दगी की बाबत बापू ठीक ही कहते हैं : "हमारे अधिकांश गाँव घूर की-सी हालत में दिखाई देते हैं। उनमें लोग जहाँ-तहाँ पाखाना फिरते हैं, घर का आगवाड़ा तक नहीं छोड़ते। जहाँ पाखाना फिरते हैं, वहाँ उसे ढँकने की कोई फ़िक्र नहीं करते। गाँव में कहीं रास्ते ठीक नहीं रखे जाते कहीं ऊँची मिट्टी का ढेर पड़ा है कहीं गड्ढा हो रहा है आदमी और पशु दोनों को चलने में तकलीफ होती है। पोखरों और पोखरियों में बर्तन माँजे-धोये जाते हैं, पशु पानी पीते हैं नहाते हैं पड़े रहते हैं। उनमें छोटे और बड़े भी आबदस्त लेते हैं। पड़ोस ही में पाखाना फिरना तो आम बात है। यही पानी पीने और पकाने के काम में लाया जाता है। घर बनाने में किसी भी तरह के नियम की परवाह नहीं की जाती। न पड़ोसी की सहूलियत का खयाल किया जाता है, न अपनी धूप रोशनी और हवा का।

अतएव हमें गाँव की सफाई तथा स्वास्थ्य के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार करना होगा। पिछले पर्वों में राष्ट्रीय संस्थाओं की मार्फत ग्राम-सुधार-योजना के मार्ग-निर्देश करते समय सफाई और स्वास्थ्य के मौलिक सिद्धान्तों पर मैंने अपने विचार प्रकट किये थे। सरकार द्वारा सुधार-योजना में भी उसी सिद्धान्त के अनुसार कार्यक्रम बनाना चाहिए। गड्ढों और ज़मीन की सतहों का सुधार मकान-निर्माण के साथ-साथ होता जायगा। सुधरे गाँव का जो केन्द्रीय गड्ढा तालाब का रूप लेगा, उसका पानी साफ रहे यह पंचायत की ज़िम्मेदारी होनी चाहिए। ऐसा कानून बनाना चाहिए, जिससे लोग उसमें बर्तन माँजना आबदस्त लेना, कपड़ा धोना आदि न करें। तालाब में विभिन्न प्रकार की मछलियाँ पाल कर उसका पानी स्वच्छ रखने का प्रबन्ध करना चाहिए। नाबदान बनाने के लिए कुछ निश्चित रीति और नीति निर्धारित होनी चाहिए। घर के नाबदान की बनावट ऐसी हो जिससे उसमें का पानी खाद बनने के काम में आ सके। उस पानी को एकत्र करके यथाविधि साफ करने की प्रथा जारी करनी चाहिए। खेतों की जो परती ज़मीन खाली होती है, उसमें ग्राम-समिति की ओर से पेड़ डालकर और नालियाँ खोदकर वहीं

बनाने का संघटन होना चाहिए। इन घेरों को इस ढंग से बनवाना चाहिए, जिससे उन्हें स्थानान्तरित किया जा सके।

तुम कहोगी कि लोकव्यापी आदत एक दिन में कैसे दूर होगी? मैं ऐसे मानता हूँ। एक दिन में यह सब हो जायगा, ऐसी मैं कभी कल्पना भी नहीं करता। लेकिन जब सवांगीण ग्राम-उत्थान के कार्यक्रम बनाओगी, तो शिक्षा संस्कृति आदि सभी बातों की उन्नति की बात रहेगी न? कुछ शिक्षा से, कुछ संघटन से और कुछ कानून से सामाजिक कुप्रथायें बदला करती हैं। फिर धीरे धीरे यही बात आदत के अन्तर्गत आ जाती है। टट्टी की समस्या हल करने के लिए एकदम गाँवभर को न छेड़कर पहले स्त्रियों के लिए अलग घेरा बनाकर काम प्रारम्भ करना चाहिए। पर्दे की आवश्यकता के कारण इस प्रकार की व्यवस्था का स्त्रियाँ स्वागत ही करेंगी। क्रमशः जब टट्टी के इस्तेमाल का फायदा दीखने लगेगा, तो दूसरे भी इस व्यवस्था के प्रेमी बन जायेंगे। तब इस विषय में याचे कानून भी बनाने होंगे। पुरुषों को टट्टी जाते समय खुरपी का इस्तेमाल करने की आदत डलवानी होगी जिससे गड्ढा खोदकर टट्टी फिर सकें। गाँव में सभी कुओं की कोठी जमीन से ऊँची रहनी चाहिए और ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे कुएँ के आसपास पानी भरने न पाये और बहकर दूर चला जाय। इस प्रकार कुएँ का पानी नाली से दूर तक ले जाकर केला, तरकारी आदि पैदा करने के काम में इस्तेमाल करना चाहिए।

गाँव के विषय में लिखते समय मैंने पाठशाला के साथ खेल-कूद, आमोद-प्रमोद आदि के लिए एक अखाड़ा यानी क्लब-घर बनाने का जिक्र किया था। वस्तुतः खेल-कूद तथा आमोद-प्रमोद स्वास्थ्य बनाने का और रक्षा का एक जरूरी उपाय है। इन क्लबों का संघटन करने में कुछ भी कठिनाई न होगी। इन्हीं क्लबों की मारफत विभिन्न त्योहारों का भी संघटन करना आसान होगा।

फैजाबाद जिले के ग्राम-सुधार-विभाग की मारफत मैंने जब ग्राम-

सेविका-शिक्षा-शिविर खोला था, तो तुमने भी उसके संचालन की बाबत सलाह की थी। तुमने धात्री-विज्ञान तथा शिशु-पालन की शिक्षा की व्यवस्था रखने का प्रस्ताव किया था। सचमुच देहातों में शिशु-पालन की पद्धतियों के अज्ञान के कारण लाखों शिशुओं की मृत्यु होती है। अतः स्त्री-शिक्षा के साथ इस दिशा में प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी। इसके लिए प्रत्येक जिले में सेविका-शिक्षा-शिविरों का संघटन करना होगा। ऐसे शिविर एक स्थान में स्थायी न होकर जिले के विभिन्न भागों में घूमते रहें, तो ग्राम जनता की दृष्टि इस प्रकार की शिक्षा की ओर आकर्षित होगी और क्रमशः ग्राम-समितियों को इस प्रकार के केन्द्रों के संघटन की ओर दिलचस्पी होगी। शिशु-पालन के प्रश्न के साथ एक दूसरा प्रश्न भी उठता है। मैंने उत्पत्ति के लिए कृषि और ग्राम-उद्योगों की जो योजना बनायी है, उसमें सब स्त्रियों के लिए कोई-न-कोई काम-क्रम निर्धारित किया गया है। १ साल तक के लड़के-लड़कियों के लिए पढ़ने की व्यवस्था भी की गयी है। ऐसी हालत में छोटे बच्चों को सँभालने के लिए कोई ग्राम-संस्था कायम करनी ही होगी। इसके लिए प्रत्येक गाँव में एक शिशु-विहार का संघटन करना होगा। इन कामों के लिए अलग आँगन और घर बनाना होगा। गाँव की बूढ़ाओं के जिम्मे यह काम आसानी से दिया जा सकता है। बच्चों के लिए खेल-कूद का सामान जुटाना पड़ेगा। इन्हीं खेलों के द्वारा उनकी बुद्धि तथा संस्कृति के विकास का सूत्रपात शिशु-विहार में करना होगा। इस संस्था में शिशु-पालन तथा शिशु-शिक्षा दोनों काम साथ-साथ होने चाहिए। आज माताएँ काम के समय अपने छोटे बच्चों को जिस तरह एक बड़े बच्चे के साथ घर से बाहर भेज दिया करती हैं उसी तरह वे अपने छोटे बच्चों को अपने काम के समय इन विहारों के जिम्मे कर देंगी।

सफाई तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी व्यवस्था के कारण लोग बीमार कम पड़ेंगे। फिर भी कुछ सामान्य बीमारी और कुछ महामारी की समस्या तो बनी ही रहेगी। इसके लिए औषधालय डॉक्टर, वैद्य,

हकीम आदि का प्रबन्ध ग्राम-सुधार-विभाग को करना होगा। यह काम समितियों के अधीन संघटित करना ठीक होगा। केवल वैद्यों की शिक्षा का प्रबन्ध सरकार द्वारा होगा। मेरी राय में साधारण प्राथमिक शिक्षा प्रत्येक ज़िले के औषधालय के साथ ही होनी चाहिए, फिर उच्च शिक्षा के लिए विशेष विद्यालयों की व्यवस्था कहीं-कहीं (प्रान्तभर में ५-६ स्थानों में) करना काफ़ी होगा। ऑक्टर, वैद्यों के उपलब्ध हमारे प्रत्येक विद्यालय के पाठ्यक्रम में गृहस्थ-विज्ञान के साथ ग्रामीण जड़ी-बूटियों से चिकित्सा तथा आरोग्य-विज्ञान का भी समावेश होना चाहिए, ताकि चिकित्सा के इस प्राथमिक उपाय का ज्ञान सार्वजनिक हो सके।

गाँव के अन्दर की व्यवस्था ठीक कर लेने से ही स्वास्थ्य की समस्या हल नहीं हो जाती। पिछले पत्र में खेती-सम्बन्धी विविध प्रश्नों पर विचार करते समय मैंने बताया था कि रेल और नहरों के कारण पानी जमा होकर नमी तथा सड़न के कारण किस प्रकार मलेरिया आदि से सैकड़ों गाँव परेशान रहते हैं। वैसे भी हमारे देहाती इलाकों में बहुत से छिछले तालाब मौजूद हैं और उनके किनारों के पत्ते आदि भी उनमें गिरकर सड़ते हैं। इन तालाबों के कारण भी देहाती क्षेत्र की वायु दूषित होती है। इनका भी कुछ उपाय सरकार को करना होगा। प्रथमतः पानी के निकास का रास्ता रेल लाइन और नहरों के बीच काफ़ी बढ़ाना होगा। जहाँ पानी के लगातार निकास के लिए रास्ता मिलना सम्भव नहीं है, वहाँ ज़मीन में कुएँ बनाकर पानी को भूगर्भ की ओर बहा देने का प्रबन्ध करना होगा। जहाँ तक सम्भव हो पानी रोककर जलाशयों की ही योजना बनानी चाहिए।

हमारे प्रान्त की शिक्षा की दशा कितनी शोचनीय है, इसकी चर्चा मैं कर चुका हूँ। वस्तुतः इस प्रान्त के देहातों में जितनी शिक्षा आज है, उसे नहीं के बराबर समझना चाहिए। अतः हमें शिक्षा का यदि कुछ प्रबन्ध करना है तो उसे शुरू से ही आरम्भ करना होगा। हमें देखना है कि सारे प्रान्त में जितने

शिक्षा और संस्कृति

लड़कों को पढ़ाना है। गाँव की आबादी का ब्योरा लिखते समय मैंने बताया था कि पढ़ने लायक लड़के-लड़कियाँ हर गाँव में १२२ हैं। हम चाहे जितनी पढ़ाई को कानून से अनिवार्य कर दें, फिर भी कुछ लड़के किन्हीं कारणों से नहीं पढ़ेंगे। हाँ ११० लड़के पढ़ेंगे। इसमें लगभग ६७ लड़के ६ से १२ साल के और ४३ लड़के १२ से १५ साल के होंगे यानी प्रति ग्राम ५६ लड़के दर्जा ४ और ४५ लड़के मिडिल तक के होंगे। इन सबको पढ़ाने के लिए प्रत्येक गाँव में दर्जा ४ तक के स्कूल और हर तीन गाँव के बीच एक मिडिल स्कूल रखना होगा। अगर १० प्रतिशत लड़के भी माध्यमिक शिक्षा लेना चाहें, तो हर बीस गाँव में एक माध्यमिक विद्यालय रखना पड़ेगा। इस हिसाब से प्रान्त भर में १,०२,१८८ दर्जा ४ तक के स्कूलों, ३४,०२९ मिडिल स्कूलों और ५,११९ माध्यमिक विद्यालयों की आवश्यकता होगी। इनके विद्यालयों का प्रबन्ध करने के लिए सबसे पहले हमें शिक्षकों की आवश्यकता होगी। अतः यह देखना है कि इन विद्यालयों में पढ़ाने के लिए कितने शिक्षक चाहिए।

हमारी योजना में पढ़ाई के साथ उद्योग का काम अवश्य रहेगा। अतः हमें क्रमशः दर्जा ८ तक के लिए ४ शिक्षक प्रति विद्यालय चाहिए। इस हिसाब से प्रान्तभर में हमें निम्नलिखित संख्या में शिक्षकों की आवश्यकता होगी :

दर्जा ४ तक के लिए	१,०२,१८८ × ५ = ५,१०,९४०
„ ७ „ „	३४,०२९ × ४ = १,३६,११६
माध्यमिक दर्जों के लिए	५,११९ × ४ = २०,४७६
जोड़ =	६,६७,५३२

मैंने दर्जा ४ में ५ शिक्षकों की आवश्यकता बतायी है। कारण, दर्जा १ से पहले भी एक शिशु-विभाग रखना शायद आवश्यक हो जाय। इतने शिक्षक तैयार करना कितना कठिन काम है इसका अन्दाज़ सब

लगेगा जब ग्राम की स्थिति से अपने ध्येय की तुलना करोगी। नीचे की तालिका से स्थिति भलीभाँति मालूम हो जायगी।

प्रकार स्कूल ———— ग्राम की स्थिति ———— हमारा ध्येय

	स्कूल		शिक्षक			
	कन्या	बालक	कन्या	बालक	स्कूल	शिक्षक
दर्जा ४ तक	११ २	१६६३६	१२५४	११ ८४	१ २१६८	५१११६४
दर्जा ७ तक	१६	४६	१६८	२४२६	१४११९	११६५११
माध्यमिक	×	१५	×	३२	५११६	७ ४७१
	११ ८	१७१४१	१३८२	११७४२	१४१११६	११८८१२
	१८८७२		१५१२४		१४१११६	११८८१२

ऊपर की तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि हमारे प्रान्त के गाँवों में जितने विद्यालय हैं, उनके ७७ गुने विद्यार्थी और करीब ११ गुने शिक्षकों की आवश्यकता होगी। विद्यालय की संख्या का ७७ गुना कहने से ठीक अन्दाज नहीं लगेगा। वस्तुतः हमको उससे अधिक का प्रबन्ध करना है, क्योंकि दर्जा ४ तक के स्कूलों की जो संख्या तालिका में दी हुई है उसमें वे स्कूल भी शामिल हैं जो सिर्फ दर्जा २ तक ही हैं। अतः उन्हें दर्जा ४ तक का बनाना भी एक काम है। तात्पर्य यह है कि शिक्षा-सम्बन्धी जितना प्रबन्ध करना है आज उसके दशमांश के करीब की ही व्यवस्था है, सो भी पुरानी प्रणाली की है जिसे नयी पद्धति के अनुकूल उपयोगी बनाना पड़ेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि इतने शिक्षण के लिए उपयोगी शिक्षित जन हमारे प्रान्त में हैं या नहीं। विद्यार्थियों के अध्यापन के लिए हमारे शिक्षकों की कितनी योग्यता होनी चाहिए, यह तुम्हीं ठीक-ठीक बता सकोगी। मेरे खयाल से आरम्भ में निम्नलिखित योग्यता के लोगों को शिक्षा देकर शिक्षक के उपयोगी बनाया जा सकेगा।

अगर इतने में हमारी समस्या हल हो जाय तो भी गनीमत है। प्राथमिक शिक्षा के पहले वर्षों के लिए शिक्षक चुनने के बारे में मेरी राय तुम्हें मालूम है। मेरी निश्चित धारणा यह है कि छोटे बच्चों की शिक्षा के लिए स्त्रियाँ ही उपयोगी हो सकती हैं। इस काम के लिए पुरुष शिक्षक नितान्त अयोग्य होते हैं। अतः प्रारम्भ में पुरुष शिक्षक से कार्यारम्भ करने पर भी क्रमशः स्त्री अध्यापिकाओं का प्रबन्ध करना होगा। अथवा हाँ, अगर शिक्षक सपत्नीक काम करने के योग्य हों। हम शिक्षक ट्रेनिंग की जो भी योजना बनायें, उसे ऊपर की बातों पर ध्यान देकर ही बनायें। लेकिन अगर १५ साल में भी योग्य शिक्षक तैयार नहीं हो सकें, तो क्या मामूली पासशुदा लोगों से काम चलाकर अपनी योजना पूरी कर दें। मेरी राय यह है कि इस काम में जल्दी नहीं करनी चाहिए। शिक्षक का दृष्टिकोण और योग्यता हमारी धारणा के अनुसार ही होनी चाहिए, भले ही इसके लिए हमारी योजना की पूर्ति में देर हो जाय।

शिक्षकों को किस दृष्टिकोण से शिक्षा दी जाय, यह विचारणीय प्रश्न है। इसके लिए आवश्यकता इस बात की है कि हम पहले निश्चय कर लें कि हमारी शिक्षा की पद्धति क्या हो। बेसिक शिक्षा-पद्धति ही हमें ग्रहण करनी है। विचार केवल इस बात का करना है कि हम एकदम तमाम विद्यालयों को बेसिक पद्धति के अनुसार चलायें या कुछ स्कूलों में नयी तालीम का पाठ्यक्रम जारी करके बाकी को पूर्ववत् चलाते रहें और क्रमशः नयी तालीम के विद्यालयों की संख्या में वृद्धि करते चलें अथवा जैसा कि मैं रणीवाँ में प्रयोग कर रहा था, पहले तमाम विद्यालयों में उद्योग का काम पढ़ाई के साथ शुरू किया जाय और क्रमशः उद्योग का व्यावहारिक संगठन पूरा होने पर औद्योगिक वातावरण सहज हो जाने पर नयी तालीम पूर्ण रूप से शुरू करायी जाय। मैं इस तीसरे प्रकार का मार्ग अच्छा समझता हूँ। प्रथमतः शिक्षकों को उद्योग का काम और उसकी कला कौशल तथा उपयोगिता के लिए योग्य बनना ही प्रथम बड़ा काम है। उसमें अगर साथ-ही-साथ नयी तालीम भी उन्हें संचालित करनी पड़ेगी, तो

दोनों में सामंजस्य न रख सकने के कारण औद्योगिक उत्पत्ति को ऐसा रूप देंगे कि उससे समाज का कोई लाभ नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप शिक्षा इतनी खर्चीली हो जायगी कि व्यापक शिक्षा का प्रबन्ध असम्भव होगा। साथ ही नयी तालीम के उद्योग से अनुप्राणित न कर सकने के कारण जनता में नयी तालीम का ठीक बोध न हो सकेगा। पिछले दिनों युक्तप्रांत की कांग्रेस सरकार ने नयी तालीम को चलाने में इसी तरह जल्दबाजी की। नतीजा यह हुआ कि लड़के न उद्योग सीख पाये और न उनकी पढ़ाई हो पायी। अतः मेरा प्रस्ताव है कि पहले उद्योग के संगठन को ठोस बनाकर फिर नयी तालीम की पद्धति जारी करनी चाहिए। साथ ही चुने हुए इलाकों में पूर्ण रूप से नयी तालीम का काम जारी कर देना चाहिए जिससे शिक्षकों की ट्रेनिंग का काम चलता रहे।

प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में कृषि तथा उद्योग-सम्बन्धी प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा का प्रबन्ध अपने आप साधारण पाठ्यक्रम के साथ हो जायगा। लेकिन उन्नत तथा वैज्ञानिक ढंग से कृषि और ग्राम-उद्योग के कार्य-संचालन तथा प्रयोग के लिए हमारे देहातों में विद्यालयों की आवश्यकता होगी। कृषि तथा विभिन्न उद्योगों के प्रयोग और शिक्षा के लिए विशेष संस्थाओं की जरूरत पड़ेगी। विशेष प्रयोग, मार्गदर्शन, निरीक्षण तथा कला-विशारदों की शिक्षा के लिए एक केन्द्रीय ग्राम-सुधार शिक्षा-निकेतन तथा प्रयोगशाला की स्थापना करनी होगी। उसके अलावा ग्राम-सुधार कार्यकर्ताओं और कृषि तथा उद्योग के विशेषज्ञों की शिक्षा के लिए प्रान्तभर में १ विशेष विद्यालय होने चाहिए और जिलों में कुशल कारीगरों के शिक्षा-केन्द्रों का संगठन करना होगा।

शिल्पियों में शिक्षा के प्रचार या अन्य तरह सामाजिक जीवन का हमें इस प्रकार संगठन करना होगा कि साधारण जनता को शिक्षा तथा संस्कृति के वातावरण से लाभ होता रहे। देहातों के संगठन के सम्बन्ध में मैं कह चुका हूँ। इनके अलावा पंचायत और रक्षादल के साथ स्थायी रूप से

नाटक-समाज भजन मंडली ग्राम-गोष्ठी आदि संस्थाओं क
करना चाहिए, जिसमें नाटक भजन, विभिन्न विषयों प
विनिमय का कार्यक्रम समय-समय पर होता रहे। इनके उपर
गाँव के विद्यालय के साथ एक-एक पुस्तकालय का प्रब
अच्छा होगा।

हम अगर भारत के देहातों की ओर देखें, तो मालूम
देहातों में यातायात की कितनी असुविधा है। सड़कों के।

यातायात

अधिकांश गाँव दुनिया से बिल्कुल अलग
हैं। गाँव में औद्योगिक और सांस्कृतिक नि
साथ-साथ यातायात की सुगमता होनी चाहिए। युक्तप्रान्त
१ ०२१८८ ग्राम हैं और क्षेत्रफल १ ६ ४७ यानी लगभग
मील प्रति ग्राम पड़ता है। अगर एक मील प्रति ग्राम की
हिसाब से सड़क बन सके, तो फिलहाल हमारा काम चल जायगा
प्रारम्भिक योजना में इससे अधिक करना सम्भव भी नहीं है।
बात पर विचार करना है कि सड़क कच्ची बने या पक्की। पक्क
के लाभ की बातें सबको मालूम है और सब उसे पसन्द
लेकिन देहाती सड़क बनाते समय इस बात का ध्यान होना चा
सड़कों पर अधिकतर बैलगाड़ी ही चलेगी और उन गाड़ियों में
बैल ही जोते जायेंगे। पक्की सड़क में चलाने पर खुर पिस
शंका बनी रहती है। अगर सारी सड़क पक्की बन जाय तो
वाले बैल जो साल में बहुत काफी समय बेकार रहते हैं, गा
काम नहीं आयेंगे। इसके उपरान्त एक लाख मील पक्की सड़क
के लिए कितनी पूँजी चाहिए, उसका हिसाब तो करो। कार्य-
वालों ने हिसाब लगाया है कि एक मील के लिए १ ०
की आवश्यकता होगी। इस हिसाब से एक अरब के ऊपर पूँजी
यह प्रान्त की हैसियत के बाहर होगा।

अगर हम कच्ची सड़क बनाते हैं, तो भी समस्या जटिल हो ज

मैंने कहा है कि उद्योग, शिक्षा और संस्कृति के विकास के साथ यातायात की अधिकता स्वभावतः बढ़ेगी। कच्ची सड़क इस भीड़ के समय चलने वाली गाड़ियों के चक्कों से हमेशा कटती जायगी। नतीजा यह होगा कि सूखे समय में धूल और बरसात में कीचड़ से सड़कों का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। आजकल ग्रामीण जीवन में यातायात की भीड़ नहीं है, फिर भी कच्ची सड़कों की क्या हालत है, तुमसे छिपी नहीं। तब करना क्या है? पक्की सड़कों के लिए न हमारे पास पूँजी होगी और न इतने साधन हैं, जिनसे बैलगाड़ियों के लिए अतिरिक्त पेल ही रख सकें। कच्ची सड़क बनाने से हमें विशेष लाभ नहीं होगा। इस समस्या को हल करने के लिए मेरे ख्याल से हमारी सड़क ऐसी होनी चाहिए, जिसमें केवल उतना ही हिस्सा पक्का हो जितने पर गाड़ी के पहिये चलते हैं बाकी कच्ची रहे। गोरखपुर जिले में चीनी कारखाना की जो सड़कें बनी हैं, वे इसी प्रकार बनायी गयी हैं। वे सड़कें अच्छा काम देती हैं। इस प्रकार की सड़क बनाने में खर्च भी कम होगा और बैलों को आराम रहेगा।

आर्थिक लेन-देन

जहाँ इतने व्यापक रूप से उद्योगों का संगठन करना होगा वहाँ समय-समय पर लोगों को रुपयों की आवश्यकता होगी। संगठन चाहे जितना व्यवस्थित हो उद्योग के अलावा भी अबेर सबेर लोगों को कुछ-न-कुछ लेन-देन करना ही होगा। हमें इसके लिए भी कोई व्यवस्थित संगठन कायम करना है। आम देहातों के लोग वैसे भी कर्ज के भार से लदे हुए हैं। शायद ही कोई आदमी मिलेगा जिस पर कर्ज का बोझ न हो। अतः लेन-देन की संस्था कायम करने से पहले हमें ग्राम के कर्ज की समस्या हल करनी होगी।

मैं जहाँ तक समझता हूँ, कर्ज के सम्बन्ध में हमें कोई मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होगी और न समाज का ढाँचा बदलना पड़ेगा। हमें केवल ग्राम के लेन-देन के तरीका का सुधार करना होगा। वस्तुतः ग्राम जो लोग कर्जदार हैं, उनमें बहुत से ऐसे हैं, जिन्होंने ली हुई रकम की कई गुनी रकम अत्यधिक सूद के बहाने चुका दी है। हमें व्यवहार के इन

अन्यायों को ठीक करना चाहिए। मेरी राय में उसके कुछ नियम इस प्रकार बन जायें, तो अच्छा होगा। जिन लोगों ने कर्ज पर सरकार द्वारा निर्धारित दर से सूद और धन वापस कर लिया है, उन्हें ऋणमुक्त माना जाय। जिनका कुछ बाकी रह गया है, उनके लिए नया दस्तावेज निर्धारित सूद के हिसाब से बनाया जाय। जो दिवालिया हैं, उनका कर्ज रद्द हो। लोग कहेंगे कि यह दिवालियापन क्या बला है? यह कोई बला नहीं है। यह वही चीज है, जो बड़े आदमी के लिए कायम थी लेकिन गरीबों के लिए नहीं। अगर भुनभुनवाला, बाटलीवाला दिवालिया होने पर भी दोनों वक्त खाना खा सकता है, कोठियों में रह सकता है, अच्छा कपड़ा पहन सकता है और शायद मोटर पर भी बैठ सकता है, तो गरीब ग्रामवासी को इतनी कानूनी रक्षा मिलनी ही चाहिए कि वे भी कर्ज से बरी होकर दोनों वक्त खा सकें, कपड़े पहन सकें और अपने मकान में आश्रय ले सकें। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जो कर्ज चुकता करने को बाकी रह जाय उसके लिए ऐसे नियम बनें, जिससे महाजन कर्जदार को जिन्दा रहने के आवश्यक साधनों से वंचित न कर सकें।

लेकिन एक बार कर्ज की समस्या हल हो जाने से ही स्थायी समाधान नहीं हो सकेगा। स्थायी समाधान तो ग्रामीण सहयोग-समिति द्वारा कर्ज की व्यवस्था से ही होगा। अतः भविष्य में गाँव के निजी कोआपरेटिव बैंक का संगठन होना चाहिए। बैंक की ओर से ऐसे नियम बनाने चाहिए, जिससे लोग बेमतलब कर्ज न लें। व्यक्तिगत महाजनी प्रथा को तो समाप्त ही कर देना ठीक होगा।

उपर्युक्त तमाम कार्यक्रमों के संगठन तथा संचालन के लिए कोई व्यवस्था तो अवश्य कायम करनी है। हमारा ध्येय तो स्वावलम्बन है लेकिन ध्येय तक पहुँचने का कोई-न-कोई रास्ता तो बनाना ही होगा। सारे कार्यक्रमों को चलाने के लिए दो प्रकार के संगठन की आवश्यकता होगी: (१) ग्रामीण व्यवस्था और (२) सरकारी विभाग।

संगठन तथा अनुशासन

ग्रामीण व्यवस्था की रूपरेखा पर अपना विचार मैं प्रकट कर चुका हूँ। इस संघटन की बुनियादी इकाई ग्राम-समिति होगी। यह समिति ग्राम-पंचायत का काम भी करेगी। वस्तुतः ग्राम की सर्वांगीण व्यवस्था इसी समिति के अधीन होगी। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए विभिन्न तथा स्वतन्त्र सहकारी संस्थाएँ अलग रहेंगी। जैसे, कृषक-समिति, कताई-समिति, बुनकर-समिति, कागजी समिति आदि। इन समितियों के सदस्य व्यक्तिगत रूप से ग्राम-समिति के अनुशासन में भी रहेंगे। इस प्रकार कुछ ग्राम-समितियाँ मिलकर यूनियन और कुछ यूनियन मिलकर केन्द्रीय यूनियन का संघटन करेंगी। इन समितियों का विधान ऐसा हो, जिससे केन्द्रीय यूनियन में औद्योगिक समितियाँ भी शामिल हो सकें। औद्योगिक समितियों का सदस्य वही हो सकेगा, जो स्वयं कारीगर हो। एक निश्चित संख्या से अधिक हिस्सा खरीदने का किसीको हक न हो। मैं इन समितियों के विभिन्न पहलुओं पर विधान का ढाँचा अभी नहीं बनाऊँगा किस आधार पर संघटन बन सकता है, उसका संकेत मात्र मैंने किया है। हाँ एक बात विचारणीय है। हम एकाएक इतनी समितियाँ बनायेंगे तो आज की स्वार्थमय सामाजिक-बुद्धिहीन जनता में भारी धक्का लग सकता है। अतः बड़ी सावधानी से हमें आगे बढ़ना है। मैंने पहले ही कहा है कि शुरू में ऐसा कार्यक्रम उठाना पड़ेगा जिससे गाँववालों पर पहले से जमे हुए स्थायी स्वार्थ पर विरोध आघात न पहुँचे। इस विषय पर जिस सिलसिले से कार्यक्रमों का संघटन करना चरखा-संघ तथा ग्राम-उद्योग के लिए बताया है, वही सिलसिला सरकार के लिए भी जरूरी है। प्रथमतः चरखा तथा अन्य उद्योगों की समितियाँ बनाकर सहयोग का वायुमंडल तथा व्यक्तिगत चरित्र पैदा होने पर कृषक-समिति और अन्त में ग्राम-पंचायत का संघटन करना चाहिए।

अब रही सरकारी संघटन की बात। मैंने कहा है, मेरे अंदाजानुसार योजना का पूरे तौर पर संघटन करने में कम-से-कम १५ साल लग

जायेंगी। वस्तुतः अपने ढङ्ग से समाज को बनाने की तैयारी में २५ साल से कम नहीं लगना चाहिए। शिक्षा के लिए १५ साल में उतनी संख्या में योग्य शिक्षक प्राप्त कर लेना सन्तोषजनक ही है। फिर भी योजना बनाने के लिए एक निर्दिष्ट काल की सीमा तो बनानी ही पड़ेगी। मैं समझता हूँ, प्रथम योजना १५ साल की बनानी ठीक होगी, क्योंकि उससे कम समय में किसी भी कार्यक्रम को कोई निश्चित रूप देना सम्भव नहीं होगा। इस पन्द्रह साल को भी पाँच-पाँच साल के तीन हिस्सों में बाँटना होगा। प्रथम पाँच साल में साधनों की खोज कार्यकर्त्ताओं का चुनाव तथा शिक्षा और संगठन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करना तथा प्रारम्भिक व्यवस्था करने का काम होगा। इसका मतलब यह नहीं है कि योजना के काम की प्रगति कुछ भी नहीं होगी। इस बीच अवश्य ऐसे चुने हुए क्षेत्रों में प्रयोग करना होगा जहाँ वातावरण पहले से ही कुछ अनुकूल हो या जहाँ इस प्रकार के काम करने के लिए स्थानीय नेतृत्व मौजूद हो। दूसरे पाँच साल में ग्रामों के संगठनों की स्थापना और उनमें गति देने का काम होगा। इस पाँच साल की अवधि में मूल योजना का काम शुरू हो जायगा। तीसरे पाँच सालों में योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के पूरा करने की चेष्टा होगी। इस प्रकार १५ साल के तीन हिस्सों के कार्य की आवश्यकता के हिसाब से सरकारी संगठन का स्वरूप तैयार करना पड़ेगा।

पिछले दिनों में कांग्रेस सरकार ने पहले ही कार्यकर्त्ताओं को भर्ती करके संगठन कायम कर दिया, फिर योजना बनानी शुरू की। उसके बाद कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा की व्यवस्था करनी शुरू की। वह शिक्षा भी गहरी नहीं हुई। नतीजा यह हुआ कि किसीकी समझ में कुछ नहीं आता था कि देहात की समस्या क्या है और यदि कोई कुछ अन्दाज भी कर सका, तो उसे सूझ नहीं कि कैसे काम शुरू करें। हमें इन बातों को पहले ही सोच लेना होगा।

मेरी राय यह है कि पहले ही सरकारी संगठन कायम नहीं करना

चाहिए। शुरू में दो प्रान्तीय कमेटियाँ बनानी चाहिए। एक ग्राम-सुधार, जाँच तथा योजना कमेटी और दूसरी प्रयोग कमेटी। जाँच कमेटी प्रान्त की परिस्थितियों की जाँच करके ब्योरेवार योजना बनायेगी। प्रयोग कमेटी प्रान्तभर के उन व्यक्तियों तथा संस्थाओं को इमदाद देकर काम की प्रगति कराय, जो पहले से कुछ प्रयोग कर रहे हैं या नयी योजना के साथ प्रयोग करने के योग्य हों तथा अपना समय देने के इच्छुक हों। इस कमेटी का काम यह भी होगा कि वह इन कार्यक्रमों का निरीक्षण करे तथा विभिन्न प्रयोगों के नतीजों को एक दूसरे केन्द्रों में पहुँचाये और उनकी सम्मिलित रिपोर्ट योजना-कमेटी के पास भेजती रहे। इसके साथ ही केन्द्रीय ग्राम-सुधार-शिक्षा-निकेतन की स्थापना करनी होगी। इस संस्था में कृषि तथा ग्राम उद्योग की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रयोग और उन उद्योगों की मार्फत जिला तथा कमिश्नरी के संचालकों की शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इन्हीं संचालकों को कमिश्नरी तथा जिला शिक्षा-केन्द्र तथा स्थानीय ग्राम-सुधार-भावना के संचालन का काम करना होगा। जिले के विभिन्न क्षेत्रों के कार्यकर्ताओं को कमिश्नरी के शिक्षा केन्द्रों में और कृषि तथा ग्राम उद्योग की शिक्षा जनता तक पहुँचाने का काम जिले के विद्यालय को करना होगा।

जब तक स्थानीय लोकतान्त्रिक पुनर्गठन सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक जिले के विद्यालय की उत्पत्ति तथा शिक्षा की व्यवस्था ठीक उसी तरह करनी होगी जिस तरह चरखा-संघ खादी की उत्पत्ति-बिक्री का काम करता रहा है। जाँच कमेटी का काम १ या १॥ साल में पूरा हो जायगा और शिक्षा केन्द्रों का सम्पूर्ण संगठन ५ साल में हो जायगा। लेकिन जिले का कार्यक्रम पहले वर्ष से शुरू हो जायगा और इसके बाद में केन्द्रीय विद्यालय-सहित जिले की सम्पूर्ण योजना की व्यवस्था का भार स्थानीय लोकतान्त्रिक पुनर्गठन को भार देना होगा। इसी ५ साल में सरकारी विभाग में उनके संगठन को मजबूत बनाना होगा। इन को सरकारी के द्वारा मदद का काम कमिश्नरी के विभाग के लिए मांग

जायँगी। वस्तुतः अपने ढङ्ग से समाज को बनाने की तैयारी में २५ साल से कम नहीं लगना चाहिए। शिक्षा के लिए १५ साल में उतनी संख्या में योग्य शिक्षक प्राप्त कर लेना सन्देहजनक ही है। फिर भी योजना बनाने के लिए एक निर्दिष्ट काल की सीमा तो बनानी ही पड़ेगी। मैं समझता हूँ, प्रथम योजना १५ साल की बनानी ठीक होगी, क्योंकि उससे कम समय में किसी भी कार्यक्रम को कोई निश्चित रूप देना सम्भव नहीं होगा। इस पन्द्रह साल को भी पाँच-पाँच साल के तीन हिस्सों में बाँटना होगा। प्रथम पाँच साल में साधनों की खोज, कार्यकर्ताओं का चुनाव तथा शिक्षा और संगठन के लिए अनुकूल वातावरण पैदा करना तथा प्रारम्भिक व्यवस्था करने का काम होगा। इसका मतलब यह नहीं है कि योजना के काम की प्रगति कुछ भी नहीं होगी। इस बीच आवश्यक ऐसे चुने हुए क्षेत्रों में प्रयोग करना होगा, जहाँ वातावरण पहले से ही कुछ अनुकूल हो या वहाँ इस प्रकार के काम करने के लिए स्थानीय नेतृत्व मौजूद हो। दूसरे पाँच साल में ग्रामों के संगठनों की स्थापना और उनमें गति देने का काम होगा। इस पाँच साल की अवधि में मूल योजना का काम शुरू हो जायगा। तीसरे पाँच सालों में योजना के विभिन्न कार्यक्रमों के पूरा करने की चेष्टा होगी। इस प्रकार १५ साल के तीन हिस्सों के कार्य की आवश्यकता के हिसाब से सरकारी संगठन का स्वरूप तैयार करना पड़ेगा।

पिछले दिनों में कांग्रेस सरकार ने पहले ही कार्यकर्ताओं को भर्ती करके संगठन कायम कर दिया; फिर योजना बनानी शुरू की। उसके बाद कार्यकर्ताओं की शिक्षा की व्यवस्था करनी शुरू की। वह शिक्षा भी गहरी नहीं हुई। नतीजा यह हुआ कि किसीकी समझ में कुछ नहीं आता था कि देहात की समस्या क्या है और यदि कोई कुछ अन्दाज भी कर सका, तो उसे सूझ नहीं कि कैसे काम शुरू करें। हमें इन बातों को पहले ही सोच लेना होगा।

मेरी राय यह है कि पहले ही सरकारी संगठन कायम नहीं करना

योजना के लिए पूँजी

२१-९-'४४

७ जुलाई के बाद २॥ महीने हो गये, मैंने कोई पत्र नहीं लिखा। कुछ सुस्ती के कारण और कुछ इसलिए भी कि सोचता था, १ माह रहना ही है तो इस बीच २-१ पत्र और लिख लेना काफी होगा। ग्राम-सुधार की बातें तो प्रायः पहले ही समाप्त कर दी थीं, अब लिखने को भी कुछ विशेष रह नहीं गया। पहले एक पत्र में मैंने जो समस्याओं की चर्चा की थी, उनमें से एक प्रश्न के सम्बन्ध में लिखने को रह गया था। वह यह कि हमारी सारी योजना चलाने के लिए पूँजी और खर्च का क्या हिसाब हो। इस बीच तुम्हारा एक पत्र भी मिला। तुमने पूछा है कि १५ साल में जो आबादी बढ़ेगी, उसके लिए आवश्यक सामान पाने की क्या योजना होगी? हाँ, यह सवाल माकूल है और इस प्रश्न पर अपना विचार पहले ही प्रकट करना था। यह तो पिछले पत्र में लिखा ही था कि जो आबादी बढ़ेगी उसको देखते आवश्यक परती से ही अपना हिस्सा लेना होगा। अब सवाल यह है कि क्या नयी जमीन तोड़ने के लिए हमें १५ साल इन्तजार करना होगा या अभी से उसका कार्यक्रम रखना होगा। मैं समझता हूँ इस प्रश्न पर ज्यादा कुछ कहने की बात है नहीं। आबादी जो बढ़ेगी, उसमें १५ साल के बाद एक दिन एकाएक बढ़ती तो हो नहीं जायगी। बढ़ना तो अब भी जारी है। अतः हमें योजना के शुरू से ही नयी जमीन खेत में मिलाने का निश्चित कार्यक्रम बनाना चाहिए। इसके लिए जाँच करके एक नक्शा बनाकर निश्चित कर लेना चाहिए कि हमें कौन जमीन किस साल में खेती में मिलानी है। ये सब ऐसे किसानों को देने होंगे, जिनको आसानी से दूसरी जगह नहीं मिल सकती। यानी जिस इलाके में हमारी योजना के हिसाब से अतिरिक्त आबादी हो, वहाँ के लोगों को ऐसी परती पट्टों में जमीन देकर बसाना होगा। फिर ये किसान स्थानीय किसानों की कमेटी में शामिल हो सकेंगे। ऐसे ढंग से किसानों को बसाकर ही नयी जमीन तोड़ना सम्भव होगा, सरकारी ढंग से नहीं।

और विशेषज्ञों के लिए उच्च शिक्षा की व्यवस्था करनीभर का रह जायगा। सरकारी केन्द्रीय ग्राम-सुधार-विभाग का काम केवल इन शिक्षा-संस्थाओं तथा विभिन्न यूनियनों की कार्यावली का निरीक्षण और परीक्षण करना रह जायगा। सरकारी विभाग के कार्य के परीक्षण तथा निरीक्षण के लिए भी एक निरीक्षण कमेटी की स्थापना होनी जरूरी है, जिसकी सदस्यता यूनियनों के और प्रान्तीय असेम्बली के प्रतिनिधियों की होनी चाहिए। इस तरह हमारा काम ऐसा होना चाहिए, जिससे ग्रामीण संघटन तथा सरकारी संघटन दोनों एक-दूसरे के कार्मों की जाँच कर सकें। अब प्रश्न यह उठता है कि उन संस्थाओं का क्या होगा, जिन्हें शुरू में सरकारी मदद से कायम किया गया था। इसके लिए मैं अगर कुछ भी न कहूँ, तो भी तुम्हारे सामने बात साफ हो जायगी। जब हमारी सारी योजना का ध्येय यह है कि उत्पत्ति, बिक्री तथा आन्तरिक समाज-संघटन और व्यवस्था सबके लिए ग्रामीण समाज स्वावलम्बी हो, तो प्रारम्भ में प्रयोग के लिए जिन संस्थाओं की स्थापना की जायगी, वे सब ग्रामीण संस्था में समाविष्ट हो जायेंगी।

विभिन्न परिस्थितियों में ग्राम-सुधार का काम किस प्रकार का हो सकता है, उसकी बाबत मैंने अपना विचार इस पत्र में समाप्त कर दिया। मैंने जो कुछ लिखा यह सब अब तक के अनुभव पर आधारित है। सम्भव है भविष्य के अनुभव से कुछ राय बदल जाय। भविष्य की बात भविष्य में।

● ● ●

ग्रामोद्योग, चिकित्सा, शिक्षा, मवेशी सेवा, सड़क, बनिया, बागवानी तथा अन्य फुटकर मदों के लिए भी कुछ पूँजी चाहिए। सारी योजना के लिए औसत प्रति ग्राम कुल पूँजी की आवश्यकता निम्नलिखित होगी :

१	खेती-सुधार		११ ६६)
२	ग्राम-उद्योग		१७८६)
३	हकीम वैद्यादि		६)
४	शिक्षा		७४१)
५	मवेशी सेवा		१२)
६	सड़क		१७८)
७	बनिया		५०)
८	बागवानी		२)
९	अन्य फुटकर		२)
१०	मकानादि	१ × १२५	६७५)
११	शिशु-विहार		३ ०)
	योग		२८ १)

अर्थात् प्रान्तभर के लिए २८६,७८,८७,८८) यानी २८६७९ करोड़ रुपये की पूँजी चाहिए।

अब प्रश्न यह है कि इतना रुपया आवे कहाँ से ? पूँजी के लिए गाँव में हमें प्रधानतः निम्नलिखित जरियों का हिसाब देखना होगा :

१ गाँव में प्राप्त कच्चा माल	३ धर्मगोला में रिजर्व रकम
२ लोगों के पास की नकद	४ ग्रामवासी की बचत में से

गाँव में प्राप्त पूँजी औसत इस प्रकार होगी :

१	मकानादि के लिए मौजूद सामान	२१५०)
२	नकद	१०)
३	धर्मगोला में रिजर्व	६)
४	ग्रामवासी की बचत	६)
		२११५)

इस प्रकार जैसे-जैसे आबादी बढ़ती जायगी, वैसे-वैसे नयी बस्ती भी बढ़ती जायगी। फिर अन्य आवश्यकताओं के लिए दूसरे उद्योगों का काम भी बढ़ता जायगा। दूसरी बात यह है कि हमने जमीन की पैदावार में जितनी वृद्धि रखी है, उचित साधन से उससे अधिक भी हो सकती है। मैंने केवल सावधानी के लिए उतना ही रखा, जितना आसानी से हो सकेगा। इस वृद्धि से भी बढ़ती आबादी का कुछ लाभ होगा ही। लेकिन इसे उत्पत्ति की योजना के हिसाब में नहीं लेना चाहिए। मैं समझता हूँ, तुम्हारे समाज के लिए इतना संकेत काफी है।

अब अपनी योजना के आर्थिक पहलुओं पर विचार किया जाय। प्रश्न यह है कि जब ग्राम-सुधार के लिए इतना विस्तृत आयोजन करना होगा तो उसके खर्च के लिए पैसे कहाँ से आयेंगे। हम जब कभी कोई बड़ी योजना बनाते हैं, तो पैसे के प्रश्न पर आकर हमारी गाड़ी रुक जाती है। हमें देखना है कि इतने काम के लिए जो पूँजी लगेगी, वह कहाँ से आयेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम हिसाब लगाकर जान लें कि हमें कितनी पूँजी चाहिए। इसका हिसाब प्रान्तभर का न करके अगर औसत प्रति ग्राम का निकालकर फिर कुल कितनी पूँजी प्रान्त को चाहिए, यह देखा जाय, तो समझना आसान होगा।

मेरे हिसाब से खेती-सुधार के लिए कुल पूँजी की आवश्यकता इस प्रकार होगी :

औसत प्रति ग्राम—

१ सिंचाई ७७८८)
२ पशुओं की उन्नति ८१५)
३ औजार सुधार ११६)
४ खाद की व्यवस्था १५)
५. नये खेत बनाना २११)

११ ९९)

यानी मान्यमर के देहातों से प्राप्त पूँजी २१६,५५, ६,२)
=लगभग २१६·५५ करोड़।

इसके उपरान्त सरकारी बजट से ६ करोड़ रुपया सालाना पूँजी खर्च में लगाना कठिन न होगा। इस तरह १५ साल में ७५ करोड़ रुपया सरकारी बजट से लगाया जा सकेगा। इस पूँजी को अगर जोड़ा जाय तो प्राप्त पूँजी २९१·५५ करोड़ रुपया होगी। हमें कुल ९८८·७८ करोड़ रुपयों की जरूरत है। बाकी २५ करोड़ यानी सालाना १।।। करोड़ रुपया शहरों से उधार लेना पड़ेगा।*

मैं समझता हूँ कि मैंने ग्राम-सुधार के सभी पहलुओं पर अपना विचार प्रकट कर दिया है। मालूम नहीं, मेरे जैसे मामूली ग्राम-सेवक का अनुभव आगामी राष्ट्रीय योजना-कार्य में कुछ काम देगा या नहीं। लेकिन इससे हमें क्या? तुमने मेरे अनुभवों की कहानी सुननी चाही थी। मैंने वह लिख डाली। अगर दुनिया की कुछ सेवा इससे हो, तो अच्छी बात। मेरा विश्वास है कि आज के प्रलयकालीन महासंकट के दिन लोगों को बापू की शान्ति और समता की आवश्यकता है और वैसी शान्ति तथा समता समाज को स्वावलम्बन के आधार पर संगठन करने से ही प्राप्त हो सकती है। मैंने इन पत्रों में जो कुछ लिखा है, वह सब उसी स्वावलम्बी समाज-संगठन के तरीकों के प्रति संकेत करता है। इस दृष्टि से शायद कभी इन बातों की भी कदर हो।

तुम्हारा
धीरेन्द्र

●

---

* आज की परिस्थिति में इन आँकड़ों को कम-से-कम चार गुना करके सोचें।